प्रथम संस्करण की भूमिका

मेरी बहुत दिनों से इच्छा थी कि हिंदी भाषा और साहित्य का एक छोटा सा इतिहास लिखूँ। हिंदी भाषा का इतिहास तो, कई वर्ष हुए, लिख लिया गया था, पर साहित्य का इतिहास अब तक न लिखा जा सका था। हिंदी भाषा का इतिहास पहले पहल पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी ने लिखा था, पर वह केवल डाक्टर ग्रियर्सन के अनुसंधानों के आधार पर लिखा गया था। उस समय द्विवेदीजी ने अपने स्वतंत्र विचारों, अनुभवों और अनुसंधानों से विशेष काम नहीं लिया था। इससे जैसा चाहिए, वैसा वह न हो सका था। इसके अनंतर पंडित रामनरेश त्रिपाठी ने एक इतिहास लिखा था पर उसमें भाषा और साहित्य का ऐसा सम्मिश्रण हुआ कि दोनों के इतिहास को अलग अलग करना बहुत कठिन था। मेरी इस वर्तमान पुस्तक में हिंदी भाषा के इतिहास का जो अंश दिया गया है वह पहले पहल "भाषा-विज्ञान" नामक पुस्तक के अंतिम अध्याय के रूप में तथा साथ ही अलग पुस्तकाकार प्रकाशित हुआ था। उसके अनंतर वह परिवर्धित और संशोधित होकर हिंदी शब्दसागर की प्रस्तावना के प्रथम अंश के रूप में प्रकाशित हुआ। अब यह आवश्यक परिवर्तनों तथा संशोधनों के साथ स्वतंत्र रूप से, इस पुस्तक के प्रथम अंश की भाँति, प्रकाशित किया जाता है। इस इतिहास के लिखने में मुझे कहाँ तक सफलता प्राप्त हुई है, यह मेरे कहने की बात नहीं है। यह तो विद्वानों के विचार और सम्मति के आश्रित है। मैं इतना ही कहना चाहता हूँ कि यद्यपि भाषा और साहित्य का बड़ा घनिष्ठ संबंध है और दोनों का अलग अलग विवेचन करना कठिन है, फिर भी जहाँ तक मुझसे हो सका है, मैंने दोनों को अलग अलग रखकर उनका विवेचन किया है।

हिंदी साहित्य का इतिहास पहले पहल शिवसिंह सेंगर ने लिखा था। उस समय न इतनी सामग्री ही उपलब्ध थी और न विवेचन का

वर्तमान ढंग ही सम्मुख आया था। फिर भी इतना अवश्य कहा जा सकता है कि शिवसिंह सेंगर का उद्योग सर्वथा स्तुत्य था। उनके इसी ग्रंथ के आधार पर डाक्टर ग्रियर्सन ने अँगरेजी में एक इतिहास लिखा था। इसकी विशेषता यह थी कि प्रमुख कवियों की कृतियों की साधारण समालोचना भी इसमें की गई थी। सन् १६०० ई० से काशी नागरी-प्रचारिणी सभा ने हस्तलिखित हिंदी पुस्तकों की खोज का काम आरंभ किया। इसके आधार पर तथा स्वतंत्र रूप से भी विशेष सामग्री का संचय करके मिश्र-बंधुओं ने तीन बड़े बड़े भागों में "मिश्रबंधुविनोद" नाम का महत्त्वपूर्ण ग्रंथ लिखा। यह ग्रंथ बड़े परिश्रम, खोज और अध्यवसाय से लिखा गया था। हिंदी साहित्य का विवेचन करनेवाले के लिये यह ग्रंथ बहुत आवश्यक और उपयोगी है। इसके बिना उसका काम नहीं चल सकता। आनंद की बात है कि अब इसका दूसरा संस्करण भी निकल गया है और उसमें यथास्थान परिवर्धन और संशोधन भी किया गया है। मिश्रबंधु-विनोद के आधार पर मिस्टर की ने अँगरेजी में हिंदी साहित्य का एक छोटा सा इतिहास लिखा है। इसे हम मिश्रबंधुविनोद का संक्षिप्त संस्करण कह सकते हैं। मिस्टर ग्रीव्स ने भी हिंदी साहित्य का दिग्दर्शन एक पुस्तिका के रूप में कराया है। इसकी विशेषता यह है कि मिस्टर ग्रीव्स ने अपने स्वतंत्र विचारों से काम लिया है। इसके अनंतर पंडित रामचंद्र शुक्ल लिखित हिंदी साहित्य का इतिहास निकला है। अब यह मेरा ग्रंथ प्रकाशित हो रहा है। प्रश्न किया जा सकता है कि इतने ग्रंथों के रहते हुए भी मेरे इस इतिहास की क्या आवश्यकता थी। इस इतिहास के प्रस्तुत करने में मेरा उद्देश्य कवियों की कृतियों का अलग अलग विवेचन करना नहीं है। मैंने प्रत्येक युग की मुख्य मुख्य विशेषताओं का उल्लेख किया है और यह दिखाने का उद्योग किया है कि साहित्य की प्रगति किस समय में किस ढंग की थी। इस विचार से यह अन्य इतिहासों से भिन्न है और यही इसके प्रस्तुत करने का मुख्य कारण है।

साहित्य का इतिहास भावों, विचारों तथा चित्तवृत्तियों के विकास का इतिहास है और भाषा का इतिहास उन भावों, विचारों तथा चित्तवृत्तियों के व्यंजन के ढंग का इतिहास है। जहाँ तक हो सका है, मैंने इस विभेद को ध्यान में रखकर इस पुस्तक के प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। इसमें मुझे कहाँ तक सफलता हुई है, यह विद्वान् समालोचकों तथा तथ्य-परीक्षकों के विचार की बात है।

इस पुस्तक के प्रस्तुत करने का विचार मैं कई वर्षों से कर रहा था, पर कार्य की अधिकता, समय के अभाव तथा सबसे बढ़कर अस्वस्थता के कारण यह काम न हो सका। अब भी जो यह पुस्तक प्रस्तुत हो सकी, इसका अधिकांश श्रेय मेरे उन मित्रों को है जिन्होंने अत्यंत उदारतापूर्वक इस कार्य में मेरी सहायता की है। साहित्य के तीसरे अध्याय की समस्त सामग्री राय कृष्णदास की कृपा का फल है और उसे सुचारु रूप से सजाने तथा इस निमित्त सत्परामर्श देने में रायबहादुर महामहोपाध्याय पंडित गौरीशंकर हीराचंद ओझा, बाबू काशीप्रसाद जायसवाल, रायबहादुर बाबू हीरालाल, मिस्टर एन० सी० मेहता तथा डाक्टर हीरानंद शास्त्री ने जो मुझ पर कृपा की है, उसके लिये मैं इन मित्रों के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करता हूँ। इसी प्रकार भाषा के इतिहास तथा साहित्य के अनेक अंशों को पढ़कर सत्परामर्श देने और आवश्यक सुधार करने की सम्मति देने के लिये मैं अपने सहाध्यापक पंडित केशवप्रसाद मिश्र का अत्यंत अनुगृहीत हूँ। परंतु समस्त पुस्तक के लिये सामग्री के इकट्ठा करने तथा उसे सुचारु रूप से सजाने में मेरी जो सहायता मेरे प्रिय शिष्य नंददुलारे वाजपेयी ने की है, उसके लिये कदाचित् इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि इसके बिना ग्रंथ न जाने कितने वर्षों तक मेरी विचार-गुफा में ही पड़ा रहता, उसे प्रकाश में आने का शीघ्र अवसर ही न मिलता। अंत में बाबू रामचंद्र वर्मा ने समस्त पुस्तक को आदि से अंत तक पढ़कर प्रेस-कापी तैयार करने तथा पंडित लल्लीप्रसाद पांडेय और उनके सहयोगियों ने उसके प्रूफ-संशोधन में जो मेरी सहायता की है, उसके लिये मैं इन मित्रों को भी

धन्यवाद देता हूँ। अनुक्रमणिका तैयार करने का श्रेय मेरे शिष्य जगन्नाथप्रसाद शर्मा को प्राप्त है। सारांश यह कि यदि इन सब मित्रों और शिष्यों आदि की उदार सहायता मुझे न प्राप्त होती तो यह ग्रंथ अभी बहुत दिनों तक योंही पड़ा रहता और प्रकाशित न हो पाता। इसलिये मैं पुनः इन सबके प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करता हूँ।

× × ×

अंत में मुझे इतना ही निवेदन करना है कि सन् १८९३ में जो हिंदी भाषा और साहित्य का इतिहास, हिंदी का कोश और हिंदी का व्याकरण प्रस्तुत करने का संकल्प मैंने किया था, वह इस पुस्तक के प्रकाशन के साथ पूरा होता है। इनमें से प्रथम दो पुस्तकों के प्रस्तुत करने में मेरा हाथ रहा है और तीसरी पुस्तक पंडित कामताप्रसाद गुरु ने तैयार की है।

आशा है, यह इतिहास हिंदी भाषा और साहित्य का मर्म समझाने तथा उनके विकास का तथ्य अवगत करने में सहायक होगा।

काशी
ज्येष्ठ कृष्ण ५, १९८७

श्यामसुंदरदास

द्वितीय संस्करण की भूमिका

संवत् १९८७ में इस पुस्तक का पहला संस्करण प्रकाशित हुआ था। अब सात वर्ष के अनंतर इसके दूसरे संस्करण के प्रकाशित होने का अवसर आया है। यद्यपि मेरी इच्छा थी कि इस दूसरे संस्करण में बहुत कुछ उलट-फेर कर दिया जाय और आधुनिक अनुसंधानों को ध्यान में रखते हुए इसको ऐसा रूप दिया जाय जो सर्वथा समयानुकूल हो पर मैं इस इच्छा के अनुसार सर्वथा कार्य न कर सका, यद्यपि अनेक स्थानों पर परिवर्तन और परिवर्धन कर दिया गया है जिससे मैं समझता हूँ कि इस पुस्तक की उपयोगिता बहुत कुछ बढ़ गई है। भाषा-खंड में कुछ अध्याय इधर-उधर कर दिए गए हैं, दूसरे अध्याय मे परिवर्तन कर दिया गया है और अंतिम अध्याय मे बहुत कुछ बढ़ा दिया गया है। साहित्य-खंड में अनेक परिवर्तनों के अतिरिक्त योग-धारा पर एक नया अध्याय जोड़ दिया गया है और अंतिम अध्याय को दो अध्यायों मे बाँट दिया गया है। मुझे आशा है कि ये सब परिवर्तन और परिवर्धन पुस्तक की उपयोगिता को बढ़ाने मे सहायक हुए हैं।

इस संस्करण के प्रस्तुत करने में मुझे अपने अनेक शिष्यों से सहायता मिली है। इनमें पं० नंददुलारे वाजपेयी, डाक्टर पीतांबरदत्त बड़थ्वाल और पं० पद्मनारायण आचार्य मुख्य हैं जिनके प्रति मैं कृतज्ञता प्रदर्शित करना अपना परम धर्म समझता हूँ।

काशी,
२७-५-३४

श्यामसुंदरदास

हिंदी भाषा

पहला अध्याय

भारतवर्ष की प्राचीन भाषाएँ

विषय-प्रवेश

संसार में जितनी भाषाएँ हैं, उन सबका इतिहास बड़ा ही मनोरंजक तथा चित्ताकर्षक है, परंतु जो भाषाएँ जितनी ही अधिक प्राचीन होती हैं और जिन्होंने अपने जीवन में जितने अधिक उलट फेर देखे होते हैं, वे उतनी ही अधिक मनोहर और चित्ताकर्षक होती हैं। इस विचार से भारतीय भाषाओं का इतिहास बहुत कुछ मनोरंजक और मनोहर है। भारतवर्ष ने आज तक कितने परिवर्तन देखे हैं, यह इतिहास-प्रेमियों से छिपा नहीं है। राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक परिवर्तनों का प्रभाव किसी जाति की स्थिति ही पर नहीं पड़ता, अपितु उसकी भाषा पर भी बहुत कुछ पड़ता है। भिन्न भिन्न जातियों का संसर्ग होने पर परस्पर भावों और उन भावों के द्योतक शब्दों का आदान-प्रदान होता है, तथा शब्दों के उच्चारण में भी कुछ कुछ विकार हो जाता है। इसी कारण के वशीभूत होकर भाषाओं के रूप में परिवर्तन हो जाता है और साथ ही उनमें नए नए शब्द भी आ जाते हैं। इस अवस्था में यदि वृद्ध भारत की भाषाओं की आरंभ की अवस्था से लेकर वर्तमान अवस्था तक में आकाश पाताल का अंतर हो जाय, तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है। अब यदि हम इस परिवर्त्तन का तथ्य जान सकें, तो हमारे लिये वह कितना मनोरंजक होगा, यह सहज ही ध्यान में आ सकता है। साथ ही भाषा अपना आवरण हटाकर अपने वास्तविक रूप का प्रदर्शन उसी को कराती है, जो उसके अंग-प्रत्यंग से परिचित होने का अधिकारी है। इस प्रकार का अधिकार उसी को प्राप्त होता है जिसने उसके विकास का क्रम भली भाँति देखा है।

भाषाओं में निरंतर परिवर्तन होता रहता है जो उनके इतिहास को और भी जटिल, पर साथ ही मनोहर, बना देता है। भाषाओं के विकास की साधारणतः दो अवस्थाएँ मानी गई हैं—एक वियोगावस्था और दूसरी संयोगावस्था। वियोगावस्था में सब शब्द अपने अपने वास्तविक या आरंभिक रूप में अलग अलग रहते हैं और प्रायः वाक्यों में उनके आसत्ति, योग्यता, आकांक्षा अथवा स्वराघात से उनका पारस्परिक

शासन करते हैं—वक्ता, लेखक और कवि। वैयाकरण वेचारा तो उन्हीं के राज्य में रहकर केवल लेखा लिया करता है। इसलिये पाणिनि ने जो अपने व्याकरण में खेती पाती, लेन देन, वणिज व्यापार, चुंगी झरी, कर पोत, लुहारी सुनारी, बढ़ईगिरी, ढोल ढमक्का, चिड़िया चुनमुन, फूल पत्ती, नाप जोख आदि आदि के अतिरिक्त पूर्वी उत्तरी प्रयोग, मुहाविरे बोलचाल आदि लिखे हैं, कात्यायन तथा पतंजलि ने जो अनेक व्यवहार-सात्विक सूक्ष्म विवेचन किए हैं, वे उनके मन के मनसूबे नहीं, किंतु गंभीर गवेषणा, सारवान् सर्वेक्षण, व्यापक विचार और उस व्याकरण-पटुता के परिणाम हैं जो अभी अभी थोड़े दिन हुए अँगरेजी जैसी समृद्ध राजभाषा में फलीभूत हुए हैं।

पहले संस्कृत शब्द विशेषण के रूप में प्रयुक्त होता था। 'संस्कृता वाक्'* ठीक उसी भाषा को कहते थे जिसे उर्दू वाले "शुस्ता ज़ुबान" या अँगरेजीदाँ Refined speech कहते हैं। प्रत्येक भाषा यदि वह व्यवहारक्षम, शिष्टप्रयुक्त और व्यापक है तो समय पाकर संस्कृत बन जाती है। हमारी आज की हिंदी यदि संस्कृत कही जाय तो कोई अनुचित नहीं। पीछे जैसे "उर्दू हिंदी" से केवल "उर्दू" रह गई, वैसे ही "संस्कृत-वाक्" से केवल 'संस्कृत' शब्द ही उस विशिष्ट भाषा के लिये प्रयुक्त होने लगा। सुंदर, व्यापक और सर्वगम्य होने के कारण साहित्य-रचना इसी में होने लगी; एवं उसका तात्कालिक रूप आदर्श मानकर व्यवस्था अक्षुण्ण रखने के लिये पाणिनि आदि वैयाकरणों ने नियम बनाए। इस प्रकार साहित्यकारों की कृति और वैयाकरणों की व्याकृति से संस्कृत परिष्कृत होकर बहुत दिनों तक अखंड राज्य करती रही।

सब दिन बराबर नहीं जाते। संस्कृत सर्व-गुण-संपन्न थी सही, पर धीरे धीरे उसका चलन कम होने लगा। वह राष्ट्रीय से सांप्रदायिक हो चली। इसके कई कारण थे। एक तो वह सर्व साधारण की भाषा न होने के कारण प्रयोक्ता के मुख अथवा लेखनी से प्रत्येक भाव की अभिव्यक्ति के लिये अबुद्धिपूर्व न निकलकर उसकी अभिज्ञता की अपेक्षा रखती थी। दूसरे, इसके प्रयोगकर्त्ता आर्यजन किसी एक प्रदेश में ही अवरुद्ध न होकर उत्तरोत्तर अपना विस्तार करते, अन्य भाषा-भाषियों से संपर्क बढ़ाते तथा नित्य नए भावों और उनके अभिव्यंजक साधनों का आदान

* यदि वाचं प्रदास्यामि द्विजातिरिव संस्कृताम्।
रावणं मन्यमाना मा सीता भीता भविष्यति ॥
वा० रा०, सु० ३० । १८ ।

प्रदान करते जाते थे। तीसरा और सबसे प्रधान कारण धार्मिक विप्लव था। महावीर स्वामी और बुद्धदेव ने प्रांतीय बोलियों में ही अपना धर्मोपदेश आरंभ किया। साधारण जनता पर इसका अत्यधिक प्रभाव पड़ा। उनके बहुत से अनुयायी हो गए। उनका धर्म भी भिन्न हो गया, भाषा भी भिन्न हुई। इस प्रकार इन दो धर्म-संस्थापकों का आश्रय पाकर प्रांतीय बोलियाँ भी चमक उठीं और संस्कृत से बराबरी का दावा करने लगीं। उधर वैदिक धर्मानुयायी और अधिक दृढ़ता से अपनी भाषा की रक्षा करने लगे। इसका फल यह हुआ कि संस्कृत एक संप्रदाय की भाषा बन गई।

हम पहले कह चुके हैं कि वेदों की भाषा कुछ कुछ व्यवस्थित होने पर भी उतनी स्थिर और अपरिवर्तनशील न थी जितनी उसकी कन्या संस्कृत, पूर्वोक्त कारणों के अनुसार, बन गई। अपनी योग्यता से उसने अमरवाणी का पद तो पाया, पर आगे कोई न होने के कारण उसकी वह अमरता एक प्रकार का भार हो गई। उधर उसकी दूसरी बहिन जो रानी न बनकर प्रजापक्ष के हितचिंतन में निरत थी, जो केवल आर्यों के अवरोध में न रहकर अन्य अनार्य रमणियों से भी स्वतंत्रतापूर्वक मिलती जुलती थी, संतानवती हुई। उसका वंश बराबर चलता आ रहा है। संतानवती होने के कारण उसने अपनी माता से समय समय पर जो संपत्ति प्राप्त की, वह निःसंतान संस्कृत को न मिल सकी। यदि रूपक का परदा हटाकर सीधे शब्दों में कहें तो बात यह हुई कि वेदकालीन कथित भाषा से ही संस्कृत भी उत्पन्न हुई और अनार्यों के संपर्क का सहकार पाकर अन्य प्रांतीय बोलियाँ भी विकसित हुईं। संस्कृत ने केवल चुने हुए प्रचुरप्रयुक्त व्यवस्थित व्यापक शब्दों से ही अपना भंडार भरा, पर औरों ने वैदिक भाषा की प्रकृति-स्वच्छंदता को भरपेट अपनाया। यही उनके प्राकृत (स्वाभाविक या अकृत्रिम) कहलाने का कारण है, यही उनमें वैदिक भाषा की उन विशेषताओं के उपलब्ध होने का रहस्य है जो संस्कृत में कहीं देख नहीं पड़तीं।

वैदिक भाषा की विशेषताएँ जो संस्कृत में न मिलकर प्राकृतों में ही उपलब्ध होती हैं उनके विषय में थोड़े से उदाहरणों का निर्देश करना अप्रासंगिक न होगा। प्राकृत में व्यंजनांत शब्द का प्रायः प्रयोग नहीं होता। संस्कृत के व्यंजनांत शब्द का अंतिम व्यंजन प्राकृत में लुप्त हो जाता है। जैसे—संस्कृत के 'तावत्' 'स्यात्' 'कर्मन्' प्राकृत में क्रमशः 'ताव' 'सिया' 'कम्म' हो जायँगे। प्राकृत में यह निरपवाद है। अब वैदिक भाषा लीजिए। उसमें दोनों प्रकार के प्रयोग मिलते हैं। 'कर्मणः

कर्मणा' आदि भी और 'देवकर्मेभिः' (ऋ० १० । १३० । १) भी; 'पश्चात्' (अथ० ४ । १० । ३) भी और 'पश्चा' (अथ० १० । ४ । ११, शत० ब्रा० १ । १ । २ । ५) भी; (प्राकृत में इसी से 'पच्छा' और हिंदी में 'पाछ' या 'पाछा' निकला है) 'युष्मान्' (ऋ० १ । १६१ । १४, तै० सं० १ । १ । ५) भी और 'युष्मा' (वा० सं० १ । १३ । १, श० ब्रा० १ । २ । ६) भी; 'उच्चात्' के स्थान में 'उच्चा' (तै० सं० २ । ३ । १४) और 'नीचात्' के स्थान में 'नीचा' (तै० सं० १ । २ । १४) भी। पर संस्कृत में इस प्रकार व्यंजन का लोप नहीं होता। 'पश्चार्ध' शब्द का प्रयोग देखकर कात्यायन को एक नया वार्तिक कहना पड़ा। प्राकृत में संयुक्त वर्णों में से एक का लोप कर पूर्ववर्ती ह्रस्व स्वर को दीर्घ कर दिया करते हैं। जैसे—'कर्तव्य = कातव्व', 'निश्वास = नीसास', 'दुर्हार = दूहार', (हिंदी-'घर्म = घाम', 'चर्म = चाम', 'दुर्लभ = दूलह', 'भिल्ल = भील', 'शुष्क = सूखा', 'मुद्ग = मूँग', 'निम्ब = नीम', इत्यादि)। वैदिक भाषा में भी ऐसा होता है—'दुर्दभ = दूडभ', (वा० सं० ३ । ३६, ऋ० ४ । ६ । ८) 'दुर्णाश = दूणाश' (शु० य० प्रातिशा० ३ । ४३)। स्वरभक्ति का प्रयोग दोनों भाषाओं में प्रचुरता से होता है। प्राकृत—'क्लिन्न = किलिन्न', 'स्व = सुव', (हिंदी-'मिश्र = मिसिर', 'धर्म = धरम', 'गुप्त = गुपुत', 'ग्लास = गिलास'), वैदिक—'तन्वः = तनुवः' (तैत्ति० आर० ७ । २२ । १), 'स्वः = सुवः' (तैत्ति० आर० ६ । २ । ७) 'स्वर्गः = सुवर्गः' (तैत्ति० सं० ४ । २ । ३, मैत्र० ब्रा० १ । १ । १) 'राज्या = राजिया', 'सहस्र्यः = सहस्रियः' इत्यादि। दोनों ही में पदगत किसी वर्ण का लोप करके उसे फिर संकुचित कर देते हैं। प्राकृत—'राजकुल = राउल' (मिलाओ—पु० हिं० राउर), 'कालायस = कालास' इत्यादि; वैदिक—'शतक्रतवः = शतक्रत्वः', 'पशवे = पश्वे', 'निविविशिरे = निविविश्रे' इत्यादि। शौरसेनी प्राकृत में अकारांत शब्द प्रथमा के एकवचन में ओकारांत हो जाता है। जैसे 'देवः = देवो', 'सः = सो' इत्यादि। वैदिक भाषा में भी ऐसा प्रयोग दुर्लभ नहीं। 'सः चित् = सो चित्' (ऋ० १ । १९ । १), 'संवत्सरः अजायत = संवत्सरो अजायत' इत्यादि। इस बात की पुष्टि में और भी बहुत से उदाहरण दिए जा सकते हैं कि प्राचीन वैदिक भाषा से ही प्राकृतों की उत्पत्ति हुई, अर्वाचीन संस्कृत से नहीं। यद्यपि लोगों ने समय समय पर प्राकृत को नियमित और बद्ध करने का प्रयत्न किया, तथापि बोलचाल की उस भाषा का प्रवाह किसी न किसी रूप में चलता रहा, उसमें कोई रुकावट न हो सकी। यही 'प्राकृत' अथवा बोलचाल की आर्य-भाषा क्रमशः आधुनिक भारतीय देशभाषाओं के रूपों में प्रकट हुई।

जैसा कि हम ऊपर कह आए हैं, आरंभ से ही जन साधारण की बोलचाल की भाषा प्राकृत थी। बोलचाल की भाषा के प्राचीन रूप के ही आधार पर वेद-मंत्रों की रचना हुई थी और उसका प्रचार ब्राह्मण-ग्रंथों तथा सूत्र ग्रंथों तक में रहा। पीछे से वह परिमार्जित होकर संस्कृत रूप में प्रयुक्त होने लगी। बोलचाल की भाषा का अस्तित्व नष्ट नहीं हुआ, वह भी चली रही; पर इस समय हमें उसके प्राचीनतम उदाहरण उपलब्ध नहीं हैं। उसका सबसे प्राचीन रूप जो इस समय हमें प्राप्त है, वह अशोक के लेखों तथा प्राचीन बौद्ध और जैन ग्रंथों में है। उसी को हम प्राकृत का प्रथम रूप मानने के लिये बाध्य होते हैं। उस रूप को 'पाली' नाम दिया गया है। यह नाम भाषा के साहित्यारूढ़ होने के पीछे का है जब कि इस पर शौरसेनी का पूरा पूरा प्रभाव पड़ा और उसी के अनुसार ओकारांत रूप इसमें प्रयुक्त होने लगे। पहले त्रिपिटक की मूल पंक्तियों के लिये इसका प्रयोग होता था। है भी यह 'पंक्ति' शब्द से ही निकला हुआ। 'पंक्ति' से 'पंत्ति' 'पत्ती' (दे० धेनुपत्ती; विदग्ध-माधव पृ० १८); 'पत्ती' से 'पट्टी', (इसका प्रयोग 'कतार' के अर्थ में अब भी होता है) 'पट्टी' से 'पाटी' और उससे 'पाली'। इस पाली को तंत्ति, मागधी या मागधी निरुक्ति भी कहते थे। पर यह मागधी अर्वाचीन मागधी से बहुत भिन्न थी। यही उस समय बोलचाल की भाषा थी। बुद्धदेव यही बोलते थे। बौद्ध इसी को आदि भाषा मानते और बड़े गर्व से पढ़ा करते हैं—

'सा मागधी मूलभाषा नरा यायादिकप्पिका।
ब्रह्माणो च स्सुतालापा सबुद्धा चापि भासरे॥'

'आदि कल्प में उत्पन्न मनुष्यगण, ब्रह्मगण, संबुद्धगण, एवं वे व्यक्तिगण जिन्होंने कभी कोई शब्दालाप नहीं सुना, जिसके द्वारा भाव प्रकाशन किया करते थे वही मागधी भाषा मूल भाषा है।' वैदिक भाषा में नहीं किंतु इसी भाषा में बुद्धदेव अपना धर्मचक्र प्रवर्त्तन करना चाहते थे, इस संबंध में विनयपिटक में एक कहानी है। उसमें लिखा है—यमेल और उतेकुल नाम के दो ब्राह्मण भ्राता भिक्षु थे। उन्होंने एक दिन बुद्धदेव से निवेदन किया कि "भगवन्! इस समय भिन्न भिन्न नाम गोत्र और जाति-कुल के प्रव्रजित अपनी अपनी भाषा में कहकर आपके वचन दूषित कर रहे हैं। हम उन्हें छंद (= वेदभाषा = संस्कृत) में परिवर्तित करना चाहते हैं।" बुद्धदेव ने उनका तिरस्कार कर कहा—"भिक्षुओ! बुद्ध-वचन को छंद में कभी परिणत न करना। जो करेगा, वह दुष्कृत का अपराधी होगा। हे भिक्षुगण! बुद्धवचन को अपनी ही भाषा में ग्रहण

करने की मैं अनुज्ञा करता हूँ।" "अपनी भाषा" से बुद्धघोष ने यहाँ मागधी भाषा ली है। इससे प्रतीत होता है कि बुद्धदेव जान बूझकर संस्कृत का वर्जन करना चाहते थे और अपना धर्म देशभाषा ही के द्वारा फैलाना चाहते थे। उसके अनंतर मध्य काल की प्राकृत और अंत में उत्तर काल की प्राकृत या अपभ्रंश का समय आता है। इसी उत्तर काल की प्राकृत या अपभ्रंश के अनंतर आधुनिक देशभाषाओं का प्रादुर्भाव हुआ है।

पहली प्राकृत या पाली

जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, पहली प्राकृत या पाली के उदाहरण हमें प्राचीन बौद्ध ग्रंथों तथा शिलालेखों में मिलते हैं। शिलालेखों में अशोक के लेख बड़े महत्त्व के हैं। ये खरोष्ठी और ब्राह्मी दो लिपियों में लिखे हुए मिलते हैं। शहबाजगढ़ी और मानसेरा के लेख तो खरोष्ठी में लिखे हुए हैं और शेष सब ब्राह्मी लिपि में हैं। इन सब लेखों का विवेचन करने पर यह स्पष्ट प्रकट होता है कि अशोक के समय में कम से कम चार बोलियाँ प्रचलित थीं। उनमें से सबसे मुख्य मगध की पाली थी, जिसमें पहले पहल ये लेख लिखे गए होंगे, और उन्हीं के आधार पर गिरनार, जौगढ़ तथा मानसेरा के लेख प्रस्तुत किए गए होंगे। यद्यपि एक ओर शहबाजगढ़ी और गिरनार के लेखों की भाषा में और दूसरी ओर धौली, जौगढ़ आदि के लेखों की भाषा में बहुत कुछ समानता देख पड़ती है, और इसी समानता के आधार पर कुछ विद्वानों ने यह माना है कि अशोक के समय की पाली दो मुख्य भागों में विभक्त हो सकती है, तथापि इनमें विभिन्नता भी कम नहीं है। अतएव इन्हें एक ही कहना ठीक नहीं।

दूसरी या साहित्यिक प्राकृत

पाली के अनंतर हमें साहित्यिक प्राकृत के दर्शन होते हैं। इसके चार मुख्य भेद माने गए हैं—महाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी और अर्द्ध-मागधी। इनमें से महाराष्ट्री सबसे प्रधान मानी गई है। प्राकृत के वैयाकरणों ने महाराष्ट्री के विषय में विशेष रूप से लिखा है; और दूसरी प्राकृतों के विशेष नियम देकर यही लिख दिया है कि शेष सब बातें महाराष्ट्री के समान हैं। प्राकृत का अधिकांश साहित्य भी महाराष्ट्री ही में लिखा मिलता है। एक प्रकार से महाराष्ट्री उस समय राष्ट्र भर की भाषा थी, इसलिये महाराष्ट्र शब्द समस्त राष्ट्र का बोधक भी माना जा सकता है। शौरसेनी मध्यदेश की प्राकृत है और शूरसेन देश (आधुनिक ब्रज मंडल) में इसका प्रचार होने के कारण यह शौरसेनी कहलाई। मध्य देश में ही साहित्यिक संस्कृत का अभ्युदय हुआ था, और यहीं की

बोल-चाल की भाषा से साहित्य की शौरसेनी प्राकृत का जन्म हुआ। अतएव यह अनिवार्य था कि इस प्राकृत पर संस्कृत का सबसे अधिक प्रभाव पड़ता। इसी कारण शौरसेनी प्राकृत और संस्कृत में बहुत समानता देख पड़ती है। मागधी का प्रचार मगध (आधुनिक बिहार) में था।

प्राचीन काल में कुरु पंचाल तथा पश्चिम के अन्य लोग कोशल (अवध), काशी (बनारस के चारों ओर), विदेह (उत्तर बिहार) और मगध तथा अंग (दक्षिण बिहार) वालों को प्राच्य कहते थे। अब भी दिल्ली मेरठ आदि के रहनेवाले इधरवालों को पुर्विया और यहाँ की भाषा को पूरबी हिंदी कहा करते हैं। इन्हीं प्राच्यों की प्राच्या भाषा का विकास दो रूपों में हुआ। एक पश्चिम प्राच्या, दूसरी पूर्व प्राच्या। पश्चिम प्राच्या का अपने समय में बड़ा प्रचार था, पर पूर्व प्राच्या एक विभाग मात्र की भाषा थी। प्राकृत वैयाकरणों के अनुसार हम पश्चिम प्राच्या को अर्ध-मागधी और पूर्व प्राच्या को मागधी कह सकते हैं। यह प्राचीन अर्ध-मागधी कोशल में बोली जाती थी, अतः बुद्धदेव की यही मातृ-भाषा थी। इसी से मिलती जुलती भारतवर्ष के पूर्व-खंडवासी आर्यों की भाषा थी जिसमें महावीर स्वामी तथा बुद्धदेव ने धर्मोपदेश किया था और जिसका उस समय के राजकुल तथा राजशासन में प्रयोग होता था। मध्य तथा पूर्व देशों में उपलभ्यमान एवं अशोक सम्राट् के शिलालेखों में प्रयुक्त तथा उसके राजकुल की भाषा में भी इस अर्ध-मागधी भाषा की बहुत सी विशेषताएँ पाई जाती हैं। उस समय राजभाषा होने के कारण इसका प्रभाव आजकल अँगरेजी की तरह प्रायः समस्त भारतीय भाषाओं पर था। इसी से इस अर्ध-मागधी की छाप गिरनार, शहबाजगढ़ी तथा मानसेरा के लेखों पर भी काफी पाई जाती है। पिपरहवा का पात्र-लेख, सोहगौरा का शिलालेख तथा अशोक की पूर्वीय धर्मलिपियाँ एवं मध्य-एशिया में प्राप्त बौद्ध संस्कृत नाटक के लुप्तावशिष्ट अंश इसके प्राचीनतम प्रयोगस्थल हैं। जैनों के "समवायंग" में लिखा है कि महावीर स्वामी ने अर्ध-मागधी में धर्मोपदेश किया और वह भाषा प्रयोग में आते आते सभी आर्य, अनार्य, द्विपद, चतुष्पद, मृग, पशु, पक्षी, कीट, पतंग के हित, कल्याण तथा सुख के लिये परिवर्तित होती गई, अर्थात् इसी मूल भाषा से प्राणिमात्र की भाषा का जन्म हुआ। जान पड़ता है कि महावीर स्वामी ने इस भाषा को सर्वबोध्य बनाने के लिये तत्काल प्रचलित अन्य भाषाओं के सुप्रसिद्ध शब्दों का भी इसमें यथेष्ट सन्निवेश किया, जैसे कि आजकल के रमते साधु लोग भी धर्मोपदेश में ऐसी ही खिचड़ी भाषा का प्रयोग किया करते हैं। ऊपर के अर्थवाद का रहस्य तथा अर्ध-मागधी

नाम का अभिप्राय यही है। मागधी तो थी ही, अन्य भाषाओं के मेल से वह पूरी मागधी न रही, अर्ध मागधी हो गई। इसी अर्ध मागधी से अर्द्ध-मागधी अपभ्रंश और उससे आजकल की पूरबी हिंदी अर्थात् अवधी, बघेली तथा छत्तीसगढ़ी निकली हैं।

अर्ध-मागधी कोशल में बोली जाती थी और कोशल शूरसेन तथा मगध के बीच में पड़ता है। अतः यह अनुमान हो सकता है कि वह शौरसेनी और मागधी के मिश्रण से बनी होगी; अनुमान क्या मार्कंडेय ने स्पष्टतः लिखा भी है कि "शौरसेन्या अदूरत्वादियमेवार्धमागधी" (प्रा० सर्व० १०३), पर वास्तव में यह बात नहीं है। अनेक अंशों में वह मागधी और महाराष्ट्री प्राकृतों से मिलती है और कुछ अंशों में उसका इनसे विभेद भी है, पर शौरसेनी से उसका बहुत विभेद है। क्रमदीश्वर ने संक्षिप्तसार (५।६८) में स्पष्ट ही लिखा है—"महाराष्ट्री मिश्रार्धमागधी" अर्थात् महाराष्ट्री के मेल से अर्ध-मागधी हुई। आधुनिक देश भाषाओं के विचार से पश्चिमी हिंदी और बिहारी के बीच की भाषा पूर्वी हिंदी है और उसमें दोनों के अंश वर्त्तमान हैं। आधुनिक भाषाओं के विवेचन के आधार पर अंतरंग, बहिरंग और मध्यवर्त्ती भाषाओं के ये तीन समूह नियत किए गए हैं। यदि हम अर्ध-मागधी को मध्यवर्त्ती भाषाओं की स्थानापन्न मान लें, तो प्राकृत काल की भाषाओं का विभाग इस प्रकार होगा—

बहिरंग प्राकृत—महाराष्ट्री और मागधी।
मध्यवर्ती प्राकृत—अर्ध मागधी।
अंतरंग प्राकृत—शौरसेनी।

पैशाची प्राकृत

अनेक विद्वानों ने पैशाची भाषाओं को भी प्राकृतों में गिना है। वररुचि ने प्राकृतों के अंतर्गत चार भाषाएँ गिनाई हैं—महाराष्ट्री, पैशाची, मागधी और शौरसेनी। हेमचंद्र ने केवल तीन प्रकार की प्राकृतों के नाम गिनाए हैं—आर्ष अर्थात् अर्ध मागधी, चूलिका पैशाचिका और अपभ्रंश। दूसरी भाषा का दूसरा नाम भूतभाषा भी है, जो गुणाढ्य की 'बड्डकहा' (बृहत्कथा) से अमर हो गई है, पर यह ग्रंथ इस समय नहीं मिलता। हाँ, दो कश्मीरी पंडितों, क्षेमेंद्र और सोमदेव, के किए हुए इसके संस्कृत अनुवाद अवश्य मिलते हैं। कश्मीर का उत्तरी प्रांत पिशाच या पिशाश (कच्चा मांस खानेवाला) देश कहलाता था, और कश्मीर ही में बृहत्कथा का अनुवाद मिलने के कारण पैशाची भाषा वहीं की भाषा मानी जाती है। कुछ लोग इसे पश्चिम-उत्तर प्रदेश की और कुछ राजपूताना और मध्यभारत

की भाषा भी मानते हैं। किंतु प्राचीन ग्रंथों में पिशाच के नाम से कई देश गिनाए गए हैं—

पाण्ड्यकेकयवाह्लीकसिंहनेपालकुन्तलाः।
सुदेष्ण-बोट-गन्धार-हैव-कन्नौजनास्तथा।
एते पिशाचदेशाः स्युस्तद्देश्यस्तद्गुणो भवेत्॥

इसमें कई नाम ऐसे भी हैं जिनकी पहचान अब तक नहीं हो सकी। मार्कंडेय ने अपने व्याकरण 'प्राकृतसर्वस्व' में पैशाची के जो नियम लिखे हैं, उनमें से एक है—'पञ्चस्वाद्यावितरयोः'। इसका अर्थ यह है—पाँचों वर्गों में तृतीय और चतुर्थ वर्णों के स्थान में प्रथम और द्वितीय वर्ण होते हैं। इसकी प्रवृत्ति पंजाबी भाषा में देख पड़ती है। उसमें साधारणतः लोग भाई का पाई, अध्यापक का हत्तापक, घर का कर, धन्य का तन्न या इससे कुछ मिलता जुलता उच्चारण करते हैं। उसमें एक और नियम "युक्तविकर्षो बहुलम्" (संयुक्त वर्णों का विश्लेषण) भी देख पड़ता है। कसट, सनान, परस, पतनी आदि उदाहरण पंजाबी में दुर्लभ नहीं। इससे जान पड़ता है कि चाहे पैशाची पंजाब की भाषा न भी रही हो, पर उसका प्रभाव अवश्य पंजाबी पर पड़ा है।

राजशेखर ने, जो विक्रम संवत् की दसवीं शताब्दी के मध्य भाग में था, अपनी काव्यमीमांसा में एक पुराना श्लोक उद्धृत किया है जिसमें उस समय की भाषाओं का स्थल-निर्देश है—गौड़ (बंगाल) आदि संस्कृत में स्थित हैं, लाट (गुजरात) देशियों की रुचि प्राकृत में परिमित है, मरुभूमि, टक्क (टाँक, दक्षिण पश्चिमी पंजाब) और भादानक (संभवतः यह राजपूताना का कोई प्रांत था) के वासी भूत भाषा की सेवा करते हैं, जो कवि मध्यदेश (कन्नौज, अंतर्वेद, पंचाल आदि) में रहता है, वह सर्व भाषाओं में स्थित है। इससे उस समय किस भाषा का कहाँ अधिक प्रचार था, इसका पता चल जाता है। मार्कंडेय और रामशर्मा ने अपने व्याकरणों में इस भाषा का विशेष रूप से उल्लेख किया है। डाक्टर ग्रियर्सन ने अपने एक लेख में रामशर्मा के प्राकृत-कल्पतरु के उस अंश का विशेष रूप से वर्णन किया है, जिसमें पैशाची भाषा का विवरण है। उस लेख में बतलाया गया है कि रामशर्मा के अनुसार पैशाची या पैशाचिका भाषा के दो मुख्य भेद हैं—एक शुद्ध और दूसरा संकीर्ण। पहली तो शुद्ध पैशाची, जैसा कि उसके नाम से ही प्रकट होता है, और दूसरी मिश्र पैशाची है। पहली के सात और दूसरी के चार उपभेद गिनाए गए हैं, जो इस प्रकार हैं—

(१) कैकेय पैशाचिका,

की इतनी प्राचीनता नहीं स्वीकार करते। कालिदास के 'विक्रमोर्वशीय' त्रोटक में विक्षिप्त पुरूरवा की उक्ति में छंद और रूप दोनों के विचार से कुछ कुछ अपभ्रंश की छाया देख पड़ती है, और इसलिये अपभ्रंश का काल और भी दो सौ वर्ष पहले चला जाता है; पर उसमें अपभ्रंश के अत्यंत साधारण लक्षण—जैसे, पदांतर्गत 'म' के स्थान में 'वँ' और स्वार्थिक प्रत्यय 'इल्ल' 'अल्ल' तथा 'ड'—न मिलने के कारण उसे भी याकोबी आदि बहुत से विद्वान् पाठांतर या प्रक्षिप्त मानते हैं। जो कुछ हो, पर यह कहने में कोई संकोच नहीं कि अपभ्रंश के बीज ईसा की दूसरी शताब्दी में प्रचलित प्राकृत में अवश्य विद्यमान थे।

आरंभ में अपभ्रंश शब्द किसी भाषा के लिये नहीं प्रयुक्त होता था। साक्षर लोग निरक्षरों की भाषा के शब्दों को अपभ्रंश, अपशब्द या अपभाषा कहा करते थे। पतंजलि मुनि ने अपभ्रंश शब्द का प्रयोग महाभाष्य में इस प्रकार किया है—भूयांसो ह्यपशब्दाः अल्पीयांसः शब्दाः। एकैकस्य शब्दस्य बहवोऽपभ्रंशाः। तद्यथा। गौरित्यस्य गावी गोणी गोता गोपोतलिकेत्येवमादयोऽपभ्रंशाः। अर्थात् अपशब्द बहुत हैं और शब्द थोड़े हैं। एक एक शब्द के बहुत से अपभ्रंश पाए जाते हैं; जैसे—गो शब्द के गावी, गोणी, गोता, गोपोतलिका आदि अपभ्रंश हैं। यहाँ अपभ्रंश शब्द से पतंजलि उन शब्दों का ग्रहण करते हैं जो उनके समय में संस्कृत के बदले स्थान स्थान पर बोले जाते थे। ऊपर के अवतरण में जिन अपभ्रंशों का उल्लेख है, उनमें 'गावी' बँगला में 'गाभी' के रूप में और 'गोणी' पाली से होता हुआ सिंधी में ज्यों का त्यों अब तक प्रचलित है। शेष शब्दों का पता अन्वेषकों को लगाना चाहिए। आर्य अपने शब्दों की विशुद्धता के कट्टर पक्षपाती थे। वे पहले अपशब्द ही के लिये म्लेच्छ शब्द का प्रयोग करते थे। पतंजलि ने लिखा है—न म्लेच्छितवै नापभाषितवै म्लेच्छो ह वा एष यदपशब्दः। अर्थात् म्लेच्छ = अपभाषण न करना चाहिए, क्योंकि अपशब्द ही म्लेच्छ हैं। अमर ने इसी धातु से उत्पन्न म्लिष्ट शब्द का अर्थ 'अविस्पष्ट' किया है। इससे यह बात सिद्ध होती है कि आर्य शुद्ध उच्चारण करके अपनी भाषा की रक्षा का बड़ा प्रयत्न करते थे; और जो लोग उनके शब्दों का ठीक उच्चारण न कर सकते थे, उन्हें और उनके द्वारा उच्चरित शब्दों को म्लेच्छ कहते थे। म्लेच्छ शब्द उस समय आजकल की भाँति घृणा या निंदा-व्यंजक नहीं था।

अस्तु; जब मध्यवर्ती भाषाओं (पाली, शौरसेनी, तथा अन्य प्राकृतों) का रूप स्थिर होकर साहित्य में अवरुद्ध हो गया एवं संस्कृत

के समान शिष्टों के प्रयोग में वह आने लगा, तब साधारण जनता ने फिर प्रचलित तथा प्रादेशिक रूपों को अपनाना आरंभ कर दिया। भारत के पश्चिम और पश्चिमोत्तर प्रदेशों में उकारांत संज्ञा शब्द तथा अन्य नए रूप, जो पाँचवीं या छठी शताब्दी में प्रयुक्त नहीं होते थे, प्रचुरता से काम में लाए जाने लगे; और पूर्व-निर्धारित प्राकृतों से भेद करने के लिये इस नवीन लक्षणवती भाषा का नाम अपभ्रष्ट या अपभ्रंश पड़ गया। पहले तो साक्षर इसका आदर नहीं करते थे, पर पीछे इसका भी मान हुआ और इसमें भी प्रचुरता से साहित्यरचना होने लगी। आजकल जैसे खड़ी बोली की कविता जब छाया की माया में पड़कर दुर्बोध हो चली है, तब साधारण जन अपना मनोरंजन, आल्हा, बिरहा, लुरकी, लचारी, चाँचर, रसिया अथवा भैरो की कजली से कर रहे हैं और जैसे इनका प्रचार कहीं ग्राम्यगीतों के संग्रह के रूप में और कहीं भैरो-संप्रदाय के रुप में बढ़ रहा है, ठीक वही दशा उस समय अपभ्रंश की भी थी। हेमचंद्र ने प्राचीन तथा प्रचुरप्रयुक्त पदावली का अनुसरण कर साहित्य में प्रतिष्ठित इस भाषा का व्याकरण भी लिख डाला। इस प्रकार अपभ्रंश, नाटकों की प्राकृतों और आधुनिक भाषाओं के मध्य में वर्त्तमान, सर्वमान्य भाषा हो गई।

यों तो पूर्वी भाषाएँ भी अपभ्रंश के पुट से बची नहीं हैं; पर गुजरात, राजपूताना तथा मध्यदेश (दोआब) में बोली जानेवाली भाषाओं में विशेषकर अपभ्रंश के चिह्न दृष्टिगोचर होते हैं। दसवीं और परवर्त्ती शताब्दियों में मध्यदेश की शौरसेनी अपभ्रंश एक प्रकार से समस्त उत्तरापथ की साहित्यिक भाषा रही। मध्यदेश तथा गंगा की तराई में प्रतिष्ठित राजपूतों के राज्य तथा उनकी शक्ति ही इसका मूल कारण थी। गुजरात के जैनों ने भी इसकी बड़ी उन्नति की। यह प्रायः एक प्रकार की खिचड़ी भाषा हो गई थी। प्राकृतसर्वस्व में मार्कंडेय ने तीन प्रकार की अपभ्रंशों का निश्चय किया है। पहली नागर अपभ्रंश जो प्राय: राजस्थानी-गुजराती की मूलभूत उन बोलियों पर आश्रित है जिनमें प्रचुरता से शौरसेनी का भी मेल पाया जाता था। दूसरी ब्राचड जो सिंध में प्रचलित थी; और तीसरी उपनागर, नागर और ब्राचड भाषाओं का मिश्रण थी जिसका प्रचार पश्चिमी राजपूताने तथा दक्षिणी पंजाब में था। कुछ विद्वानों का यह भी मत है कि जितने प्रकार की प्राकृत थीं, उतने ही प्रकार की अपभ्रंश भी थी और देशभेद के कारण ही उसके भेद उपभेद भी हुए थे। पर उनके उदाहरण नहीं मिलते। पूर्व में अशोक के अनंतर वहाँ की प्रादेशिक भाषा की कुछ भी उन्नति नहीं हुई।

कम से कम मागधी की ताे नहीं ही हुई। यह एक बहुत ही हीन भाषा मानी जाती थी, जैसा नाटकों में नीच पात्रों के लिये इसके प्रयोग का निर्देश बतलाता है। अर्ध-मागधी और मागधी के प्रदेशों में भी शौरसेनी ही साहित्य के लिये उपयुक्त समझी जाती थी। अपभ्रंश काल के पूर्व के कविजन भी अपनी प्रांतीय विभाषा का प्रयोग न कर शौरसेनी अपभ्रंश ही का प्रयोग करते थे। यह परंपरा बहुत दिनों तक चली। दसवीं से तेरहवीं शताब्दी तक की पुरानी बँगला कविताओं में भी इसी शौरसेनी अपभ्रंश का प्रयोग होता रहा। मिथिला के विद्यापति (१४५० वि०) ने मैथिली के साथ साथ 'अवहट्ट" या "अपभ्रष्ट" में भी कविता की। यह 'अवहट्ट' शौरसेनी अपभ्रंश का ही अर्वाचीन रूप था। इधर व्रज-भाषा को भी उसी अपभ्रंश की विरासत मिली थी, जिसे अब खड़ी बोलीवाले छीनना चाहते हैं। इस प्रकार यह अपभ्रंश उस समय के समस्त आर्यों की राष्ट्र-भाषा थी, जो गुजरात और पश्चिमी पंजाब से लेकर बंगाल तक प्रचलित थी।

डाक्टर कीथ ने अभी थोड़े दिन हुए "संस्कृत साहित्य का इतिहास" लिखा है। उसके पहले खंड में उन्होंने भाषाओं का विवेचन किया है। अपभ्रंश के विषय में उनकी सम्मति हमारे निष्कर्ष के प्रतिकूल है। अतएव उस संबंध में यहाँ थोड़ा सा विचार कर लेना अप्रासंगिक न होगा। उन्होंने दंडी और रुद्रट का आश्रय लेकर यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि अपभ्रंश कभी किसी रूप में देश-भाषा न थी। वह आभीर, गुर्जर आदि विदेशी आक्रमण-कारियों की भाषा थी और उन्हीं के साथ साथ उसका प्रसार और उसकी प्रतिष्ठा हुई, अतएव उसे मध्यकालीन प्राकृतों और आधुनिक आर्य-भाषाओं की बिचली कड़ी मानना ठीक नहीं है। इस मत के प्रवर्तक पिशल और ग्रियर्सन दोनों ने भ्रम फैलाया है, इत्यादि। हमें यहाँ पिशल और ग्रियर्सन का पक्ष लेकर उनके मत का समर्थन नहीं करना है, हमें तो केवल यह कहना है कि अपभ्रंश देश-भाषा क्या एक प्रकार से राष्ट्र-भाषा थी और उसका प्रचार समस्त उत्तरापथ में था। डाक्टर कीथ ने जिनके आधार पर अपना मत स्थिर करने का प्रयत्न किया है उनका आशय ही कुछ और है, जो डाक्टर कीथ के अनुकूल नहीं कहा जा सकता। दंडी ने अपने काव्यादर्श में लिखा है कि काव्यों (दृश्य और श्रव्य दोनों) में आभीर आदि की बोली को तथा शास्त्रों (व्याकरण आदि) में संस्कृत-भिन्न भाषामात्र को अपभ्रंश कहते हैं। केवल इस उल्लेख के आधार पर यह सिद्धांत नहीं निकाला जा सकता कि अपभ्रंश आभीर आदि विदेशियों

की बोली थी। नाट्य ग्रंथों में जहाँ जहाँ भिन्न भिन्न पात्रों की बोलियों का निर्देश रहता है उसका तात्पर्य यह नहीं होता कि उस पात्र की परंपराप्राप्त अथवा जातीय बोली वही है। नाट्यकार इस विषय में केवल पूर्वाचार्यों का अनुसरण कर पात्रविशेष की भाषा का निर्देश कर देते हैं। उससे यह कदापि न समझना चाहिए कि जिस पात्र की जो भाषा नाट्यशास्त्र में लिखी है वह उसकी मातृभाषा है। अथवा यदि यह मान भी लिया जाय कि आरंभ में जब आभीर आदि जातियों ने भारत में प्रवेश किया उस समय यहाँ प्रचलित प्राकृतों में उन्हीं के विकृत उच्चारण और उन्हीं के कुछ स्वकीय शब्दों के मेल से अपभ्रंश उत्पन्न हुई हो और इसी नाते अपभ्रंश का संबंध आभीर आदि जातियों से जोड़ा गया हो, तो इससे यह सिद्ध नहीं होता कि आरंभ से अंत तक अपभ्रंश उन्हीं की बोली थी और उस दशा में भी उसमें इतना अधिक वाङ्मय प्रस्तुत हुआ कि भारतवर्ष के प्रामाणिक अलंकारियों ने संस्कृत और प्राकृत के समान ही अपभ्रंश साहित्य का उल्लेख करना भी आवश्यक समझा। जिस प्रकार विदेशी मुसलमानों के संसर्ग से बनी हुई 'हिंदुस्तानी' भाषा मुसलमानों की भाषा नहीं किंतु समस्त देश की राष्ट्र-भाषा है उसी प्रकार आभीर आदि के संपर्क से उत्पन्न अपभ्रंश भी समस्त देश की भाषा थी जिसमें प्रचुरता से साहित्य निर्माण हुआ। मार्कंडेय ने अपने 'प्राकृत-सर्वस्व' में आभीरी को विभाषा लिखकर अपभ्रंश का पृथक् निर्देश किया है। इससे स्पष्ट है कि आभीरों की जो बोली थी वह साहित्यिक भाषा नहीं थी। मार्कंडेय ने 'प्राकृतचंद्रिका' के श्लोक उद्धृत कर बहुत सी अपभ्रंशों का उल्लेख किया है जो सब प्रांतीय विभाषाएँ जान पड़ती हैं। आजकल की हिंदी की भी तो बहुत सी विभाषाएँ संप्रति भी व्यवहार में आती हैं। इससे यह कोई नहीं कह सकता कि अवधी हिंदी ही हिंदी है, प्रायः समस्त उत्तरापथ में प्रचलित हिंदी हिंदी नहीं है। कीथ ने दूसरा प्रमाण रुद्रट का दिया है और उससे मालूम नहीं क्या समझकर यह निष्कर्ष निकाला है कि अपभ्रंश कभी देश-भाषा नहीं थी। आश्चर्य है कि जब रुद्रट ने स्पष्ट शब्दों में "षष्ठस्तु भूरिभेदो देशविशेषादपभ्रंशः" लिखकर देशभेद के कारण अपभ्रंश की विभिन्नता का उल्लेख किया है और उसके टीकाकार नमिसाधु ने इस विषय को उदाहरणों के द्वारा नितांत विशद कर दिया है तब भी कीथ को कैसे संदेह हुआ। उसे पढ़कर कोई दूसरा अर्थ लगाया ही नहीं जा सकता। देशभेद के कारण जिस भाषा का भेद हो उसको देश-भाषा नहीं तो और क्या कहते हैं। अस्तु, इस प्रसंग को हम और अधिक बढ़ाना नहीं चाहते। हमारा

तात्पर्य केवल इतना ही है कि कीथ ने जिन आधारों पर अपने नए मत का निश्चय किया है वे ठीक नहीं हैं, अतएव वे सिद्धांत भी भ्रमात्मक हैं।

आगे चलकर प्राकृत की भाँति अपभ्रंश भी व्याकरण के नियमों से जकड़ दी गई और केवल साहित्य में व्यवहृत होने लगी। पर उसका स्वाभाविक प्रवाह चलता रहा। क्रमशः यह भाषा एक ऐसे रूप को पहुँची जो कुछ अंशों में तो हमारी आधुनिक भाषाओं से मिलता है और कुछ अंशों में अपभ्रंश से। आधुनिक हिंदी भाषा और शौरसेनी अपभ्रंश के मध्य की अवस्था कभी कभी 'अवहट्ट' कही गई है। 'प्राकृतपैंगल' में उदाहरण रूप से सन्निविष्ट कविताएँ इसी अवहट्ट भाषा में हैं। इसी अवहट्ट को पिंगल भी कहते हैं और राजपूताने के भाट अपनी डिंगल के अतिरिक्त इस पिंगल में भी कविता करते रहे हैं। कुछ विद्वानों ने इसे 'पुरानी हिंदी' नाम भी दिया है। यद्यपि इसका ठीक ठीक निर्णय करना कठिन है कि अपभ्रंश का कब अंत होता है और पुरानी हिंदी का कहाँ से आरंभ होता है, तथापि बारहवीं शताब्दी का मध्य भाग अपभ्रंश के अस्त और आधुनिक भाषाओं के उदय का काल यथाकथंचित् माना जा सकता है।

पुरानी हिंदी

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि पहले मूल भाषा से वैदिक संस्कृत की उत्पत्ति हुई और फिर उसने कट-छँट या सुधरकर साहित्यिक रूप धारण किया; पर साथ ही वह बोल-चाल की भाषा भी बनी रही। प्राचीन काल की बोल-चाल की भाषा को कुछ विद्वानों ने 'पहली प्राकृत' नाम दिया है। हमने उसका उल्लेख मूल भाषा के नाम से किया है। आगे चलकर यह पहली प्राकृत या मूल भाषा दूसरी प्राकृत के रूप में परिवर्त्तित हुई, जिसकी तीन अवस्थाओं का हम ऊपर उल्लेख कर चुके हैं। इन्हीं तीन अवस्थाओं का हमने पहली प्राकृत या पाली, दूसरी प्राकृत या शौरसेनी आदि प्राकृतें, और अपभ्रंश नामों से उल्लेख किया है। जब इन भिन्न भिन्न अवस्थाओं की प्राकृतें भी वैयाकरणों के अधिकार में आकर साहित्यिक रूप धारण करने लगीं, तब अंत में इस मध्य प्राकृत से तीसरी प्राकृत या अपभ्रंश का उदय हुआ। जब इसमें भी साहित्य की रचना आरंभ हुई, तब बोल-चाल की भाषा से आधुनिक देश-भाषाओं का आरंभ हुआ। ये आधुनिक देश-भाषाएँ भी अब क्रमशः साहित्य का रूप धारण करती जाती हैं। इस इतिहास का यहाँ तक विवेचन करके यह कहना पड़ता है कि बोल-चाल की भाषा तथा साहित्य की भाषा में जब विशेष अंतर होने लगता है, तब वे भिन्न भिन्न मार्गों पर लग जाती हैं और उनका पृथक् पृथक् विकास होने लगता है।

आर्यों के सप्तसिंधु में बस जाने के उपरांत उनके वहाँ रहते समय ही उनकी भाषा ने वह रूप धारण किया था, जिसे आजकल लोग प्राचीन संस्कृत कहते हैं। पर उस समय भी उसके कई प्रांतीय भेद और उप-भेद थे। आजकल भारतवर्ष में जितनी आर्यभाषाएँ बोली जाती हैं, उन सबकी उत्पत्ति उन्हीं प्रांतीय भेदों और उपभेदों से हुई है। हमारे प्राचीन धर्म-ग्रंथों में जो संस्कृत भाषा मिलती है, उसका विकास भी उन्हीं भेदों से हुआ था।

दूसरा अध्याय

भारतवर्ष की आधुनिक भाषाएँ

अंतरंग और बहिरंग भाषाएँ

जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं, आधुनिक भारतीय भाषाओं के विवेचन से सिद्ध होता है कि कुछ भाषाएँ तो पूर्वागत आर्यों की भाषाओं से संबंध रखती हैं, जो इस समय भी मध्य देश के चारों ओर फैली हुई हैं, और कुछ परागत आर्यों की भाषाओं से संबद्ध हैं। इस आधार पर हार्नले और ग्रियर्सन ने भारत की आधुनिक भाषाओं के दो मुख्य विभाग किए हैं। उनमें से एक विभाग की भाषाएँ तो उन प्रदेशों में बोली जाती हैं जो इस मध्य देश के अंतर्गत हैं; और दूसरे विभाग की भाषाएँ उन प्रदेशों के चारों ओर के देशों में अर्थात् कश्मीर, पश्चिमी पंजाब, सिंध, महाराष्ट्र, मध्य भारत, उड़ीसा, बिहार, बंगाल तथा आसाम में बोली जाती हैं। एक गुजरात प्रदेश ही ऐसा है, जिसमें बोली जानेवाली भाषा का संबंध बहिरंग भाषाओं से नहीं, वरन् अंतरंग भाषाओं से है; और इसका कारण कदाचित् यही है कि किसी समय इस गुजरात प्रदेश पर मथुरावालों ने विजय प्राप्त की थी और मथुरा नगरी उसी मध्य देश के अंतर्गत है।

दोनो भाषाओं में भेद

इन अंतरंग और बहिरंग भाषाओं में कई ऐसे प्रत्यक्ष अंतर और विरोध हैं, जिनसे इन दोनों का पार्थक्य स्पष्ट प्रकट होता है। पहले तो दोनों के उच्चारण में एक विशेष अंतर है। अंतरंग भाषाओं में बहुधा "स" का ठीक उच्चारण होता है; पर बहिरंग भाषाओं के भाषी शुद्ध दंत्य "स" का उतना स्पष्ट उच्चारण नहीं कर सकते। वे उसका उच्चारण कुछ कुछ तालव्य "श" अथवा मूर्द्धन्य "ष" के समान करते हैं। ईरानी शाखा की फारसी आदि भाषाओं में बहुत प्राचीन काल से "स" के स्थान में "ह" कर देने की प्रवृत्ति देखने में आती है; जैसे, सप्त के स्थान में हफ़्त। यही बात बहिरंग भाषाओं में भी पाई जाती है। पंजाबी और सिंधी में "कोस" का "कोह" हो जाता है। इधर बँगला तथा मराठी में दंत्य "स" के स्थान में प्रायः "श" बोला जाता है। पूर्वी बंगाल तथा आसाम में वही "च" और "स" के बीच का एक नया उच्चारण हो जाता है; और पश्चिमी

सीमा-प्रांत तथा कश्मीर आदि में वही शुद्ध "ह" हो जाता है। दोनों विभागों की संज्ञाओं के रूपों में भी एक विशेष अंतर देखने में आता है। अंतरंग भाषाओं के प्रायः सभी मूल प्रत्यय नष्ट हो गए हैं और उनका काम विभक्तियों से लिया जाता है, जो शब्दों के साथ जोड़ी जाती हैं; जैसे का, को, से, ने आदि। पर बहिरंग भाषाएँ इनकी अपेक्षा कुछ अधिक विकसित हैं।

भाषा-विज्ञान का सिद्धांत है कि भाषाएँ पहले वियोगावस्था में रहती हैं; और तब क्रमशः विकसित होते होते संयोगावस्था में आती हैं। प्रायः सभी अंतरंग भाषाएँ इस समय वियोगावस्था में हैं; पर बहिरंग भाषाएँ विकसित होते होते संयोगात्मक हो गई हैं। बहिरंग भाषाओं और अंतरंग भाषाओं में एक और अंतर यह है कि बहिरंग भाषाओं की भूतकालिक क्रियाओं के साधारण रूपों से ही उनका पुरुष और वचन मालूम हो जाता है; पर अंतरंग भाषाओं में सभी पुरुषों में उन क्रियाओं का रूप एक सा रहता है। हिंदी में "मैं गया", "वह गया" और "तू गया" सबमें "गया" समान है; पर मराठी में "गेलों" से ही "मैं गया" का बोध होता है; और "गेला" से "वह गया" का। बँगला का "मारिलाम्" शब्द भी यही सूचित करता है कि उसका कर्त्ता उत्तम पुरुष है। तात्पर्य यह कि बहिरंग भाषाओं की भूतकालिक क्रियाओं में सर्वनाम भी अंतर्भुक्त होता है; पर अंतरंग भाषाओं में यह बात नहीं पाई जाती।

इस मत का अब खंडन होने लगा है और दोनों प्रकार की भाषाओं के भेद के जो कारण ऊपर दिखाए गए हैं, वे अन्यथा-सिद्ध हैं, जैसे 'स' का 'ह' हो जाना केवल बहिरंग भाषा का ही लक्षण नहीं है, किंतु अंतरंग मानी जानेवाली पश्चिमी हिंदी में भी ऐसा ही होता है। इसके तस्य-तस्स-तास = ताह = ता (ताको, ताहि इत्यादि), करिष्यति-करिस्सदि-करिसइ-करिहइ-करिहै एवं केसरी से केहरि आदि बहुत से उदाहरण मिलते हैं। इसी प्रकार बहिरंग मानी जानेवाली भाषाओं में भी 'स' का प्रयोग पाया जाता है, जैसे—राजस्थानी (जयपुरी)-करसी, पश्चिमी पंजाबी—करेसी इत्यादि। इसी प्रकार संख्यावाचकों में 'स' का 'ह' प्रायः सभी मध्यकालीन तथा आधुनिक आर्य-भाषाओं में पाया जाता है। यथा पश्चिमी हिंदी में—ग्यारह, बारह, चौहत्तर इत्यादि; एवं बहिरंग भाषाओं की भूतकालिक क्रियाओं में सर्वनाम का अंतर्भुक्त होना और अंतरंग भाषाओं में ऐसा न होना जो बड़ा भारी भेदक माना गया है, वह भी एक प्रकार से दुर्बल ही है। उस

विषय का थोड़ा सा दिग्दर्शन यहाँ कराया जाता है। मध्यकालीन आर्य भाषाओं (पाली, प्राकृत आदि) से तिङंत (साध्यावस्थापन्न) क्रियाओं का लोप हो चला था। सकर्मक क्रियाओं का भूतकाल भूतकालवाची धातुज विशेषणों की सहायता से बनाया जाने लगा था। कर्म इन धातुज विशेषणों का विशेष्य होता था और कर्त्ता में करण की विभक्ति लगाई जाती थी। सकर्मक क्रियाओं के भूतकाल में इस प्रकार का कर्मणि-प्रयोग प्रायः सभी आधुनिक भारतीय आर्य-भाषाओं ने अपनी अपनी मूलभूत अपभ्रंशों से प्राप्त किया है। यह कर्मणि-प्रयोग बहिरंग मानी जानेवाली पश्चिमी और दक्षिणी भाषाओं अर्थात् पश्चिमी पंजाबी, सिंधी, गुजराती, राजस्थानी और मराठी में जिस प्रकार प्रचलित है उसी प्रकार अंतरंग मानी जानेवाली पश्चिमी हिंदी में भी है। हाँ, पूर्वी हिंदी तथा मागधी की सुताओं ने अवश्य इसका पूर्ण रूप से परित्याग कर कर्तरि-प्रयोग ही को अपनाया है। इनमें भी उन्हीं धातुज विशेषणों के रूपों में पुरुषबोधक प्रत्यय लगाकर तीनों पुरुषों के पृथक् पृथक् रूप बना लिए जाते हैं। पश्चिमी पंजाबी और सिंधी में इस प्रकार के प्रत्यय तो लगते हैं, पर उनमें कर्मणि-प्रयोग की पद्धति ज्यों की त्यों अक्षुण्ण है। यह इसलिये प्रतीत होता है कि क्रिया-बोधक धातुज के लिंग और वचन कर्म ही के अनुसार बदलते हैं। इन भाषाओं में इस प्रकार के प्रत्यय लगाने का कारण यह जान पड़ता है कि इनमें सप्रत्यय कर्त्ता का प्रयोग नहीं होता, अपितु उसका केवल विकारी अप्रत्यय रूप काम में लाया जाता है। अतः पुरुष बोधन के लिये तादृश प्रत्यय लगा देना सप्रयोजन समझा जाता है। इस विषय में इनकी पड़ोसी ईरानी भाषाओं का भी कुछ न कुछ हाथ है। मिलाइए फारसी कर्दम् (मैंने किया), पश्तो–कड़म्। चाहे जैसे हो, पश्चिमी हिंदी और पश्चिमी पंजाबी आदि में सांसिद्धिक साधर्म्य अवश्य है। अब यदि इन भाषाओं का भेद कर सकते हैं तो यों कर सकते हैं कि पूर्वी भाषाएँ कर्त्तरिप्रयोग-प्रधान और पश्चिमी कर्मणि-प्रयोग-प्रधान होती हैं।

पश्चिमी भाषाएँ

(कर्मणि-प्रयोग)

पश्चिमी हिंदी—मैंने पोथी पढ़ी।
गुजराती—में पोथी वाँची।
मराठी—मीं पोथी वाचिली।
सिंधी—(मूँ) पोथी पढ़ी-मे।
पश्चिमी पंजाबी—(मैं) पोथी पढ़ी-म्।

(यहाँ मैं, मीं, मूँ, मैं सभी 'मया' से निकले हुए करण विभक्त्यंत रूप हैं। 'मैंने' में करण की दोहरी विभक्ति लगी है)।

पूर्वी भाषाएँ

(कर्त्तरि-प्रयोग)

पूर्वी हिंदी—मैं पोथी पढ़ेउँ।
भोजपुरिया—हम पोथी पढ़लीं।
मैथिली—हम पोथी पढ़लहुँ।
बँगला—आमि पुथी पोड़िलाम्।
(मुइ पुथी पोड़िली—लुम्)
उड़िया—आम्भे पोथि पोढ़िलुँ (मुँ पोथि पोढ़िली)

विचार करने की बात है कि इस प्रकार भेद रहते हुए बँगला आदि पूर्वी भाषाओं को सिंधी, पश्चिमी पंजाबी आदि के साथ नाथकर सबको बहिरंग मान लेना कहाँ तक ठीक है। एवं अंतरंग और बहिरंग भेद का प्रयोजक आर्यों का भारतवर्ष में अनुमित पूर्वागमन और परागमन भी असंदिग्ध नहीं माना जा सकता, क्योंकि इसके विरुद्ध आर्यों का पहले ही से सप्तसिंधु में निवास करना एक प्रकार से प्रमाणित हो चला है। अस्तु; यह विषय अभी बहुत कुछ विवादग्रस्त है। कोई पक्ष अभी तक सर्वमान्य नहीं हुआ है। इस अवस्था में आधुनिक आर्यभाषाओं के अंतरंग और बहिरंग विभेदों को ही मानकर हम आगे बढ़ते हैं।

भाषाओं का वर्गीकरण

अंतरंग भाषाओं के दो मुख्य विभाग हैं—एक पश्चिमी और दूसरा उत्तरी। पश्चिमी विभाग में पश्चिमी हिंदी, राजस्थानी, गुजराती और पंजाबी ये चार भाषाएँ हैं; और उत्तरी विभाग में पश्चिमी पहाड़ी, मध्य पहाड़ी और पूर्वी पहाड़ी ये तीन भाषाएँ हैं। बहिरंग भाषाओं के तीन मुख्य विभाग हैं—उत्तर-पश्चिमी, दक्षिणी और पूर्वी। इनमें से उत्तर-पश्चिमी विभाग में कश्मीरी, कोहिस्तानी, पश्चिमी पंजाबी और सिंधी ये चार भाषाएँ हैं। दक्षिणी विभाग में केवल एक मराठी भाषा है; और पूर्वी विभाग में उड़िया, बिहारी, बँगला और आसामी ये चार भाषाएँ हैं। जैसा कि हम ऊपर कह आए हैं, इन अंतरंग और बहिरंग भाषाओं के बीच में एक और विभाग है, जो मध्यवर्ती कहलाता है और जिसमें पूर्वी हिंदी है। इस मध्यवर्ती विभाग में अंतरंग भाषाओं की भी कुछ बातें हैं और बहिरंग भाषाओं की भी कुछ बातें हैं। यहाँ हम इनमें से केवल पश्चिमी हिंदी, बिहारी और पूर्वी हिंदी के संबंध की कुछ मुख्य मुख्य बातें दे देना चाहते हैं।

अपने भाषा सर्वे में ग्रियर्सन ने भिन्न भिन्न भाषाओं के उच्चारण तथा व्याकरण का विचार करके इन भारतीय आर्यभाषाओं को तीन उपशाखाओं में विभक्त किया है—(१) अंतरंग, (२) बहिरंग और (३) मध्यवर्त्ती। वह वर्गीकरण वृक्ष द्वारा इस प्रकार दिखाया जाता है—

वर्गीकरण

क. बहिरंग उपशाखा

	१९२१ में बोलनेवालों की संख्या करोड़ लाख
(१) पश्चिमोत्तरी वर्ग	
१—लहँदा	०—५७
२—सिंधी	०—३४
(२) दक्षिणी वर्ग	
३—मराठी	१—८८
(३) पूर्वी वर्ग	
४—आसामी	०—१७
५—बंगाली	४—९३
६—उड़िया	१—०
७—बिहारी	३—४३

ख. मध्यवर्त्ती उपशाखा

(४) मध्यवर्त्ती वर्ग	
८—पूर्वी हिंदी	२—२६

ग. अंतरंग उपशाखा

(५) केंद्र वर्ग	
९—पश्चिमी हिंदी	४—१२
१०—पंजाबी	१—६२
११—गुजराती	०—९६
१२—भीली	०—१९
१३—खानदेशी	०—२
१४—राजस्थानी	१—२७
(६) पहाड़ी वर्ग	
१५—पूर्वी पहाड़ी अथवा नैपाली	०—३

	करोड़	लाख
१६—केंद्रवर्ती पहाडी*	...	
१७—पश्चिमी पहाड़ी	०—१७	

इस प्रकार १७ भाषाओं के ६ वर्ग और ३ उपशाखाएँ मानी जा सकती हैं, पर कुछ लोगों को यह अंतरंग और बहिरंग का भेद ठीक नहीं प्रतीत होता। डा० सुनीतिकुमार चैटर्जी ने लिखा है कि सुदूर पश्चिम और पूर्व की भाषाएँ एक साथ नहीं रखी जा सकतीं। उन्होंने इसके लिये अच्छे प्रमाण भी दिए हैं और भाषाओं का वर्गीकरण नीचे लिखे ढंग से किया है।

(क) उदीच्य (उत्तरी) वर्ग
१—सिंधी
२—लहँदा
३—पंजाबी

(ख) प्रतीच्य (पश्चिमी) वर्ग
४—गुजराती
५—राजस्थानी

(ग) मध्यदेशीय (विचला) वर्ग
६—पश्चिमी हिंदी

(घ) प्राच्य (पूर्वी) वर्ग
७—पूर्वी हिंदी
८—बिहारी
९—उड़िया
१०—बँगला
११—आसामी

(ङ) दाक्षिणात्य (दक्षिणी) वर्ग
१२—मराठी

सूचना—पहाड़ी बोलियों को डा० चैटर्जी ने भी राजस्थानी का रूपांतर माना है पर उनको निश्चित रूप से किसी भी वर्ग में रख सकना सहज नहीं है। उनका एक अलग वर्ग मानना ही ठीक हो सकता है।

---

* १९२१ की मनुष्य गणना में केंद्रवर्ती पहाड़ी के बोलनेवाले हिंदी-भाषियों में गिन लिए गए हैं अतः केवल ३८५३ मनुष्य इसको बोलनेवाले माने जाते हैं अर्थात् लाख में उनकी गणना नहीं हो सकती।

इस प्रकार हम ग्रियर्सन और चैटर्जी के नाम से दो पक्षों का उल्लेख कर रहे हैं—एक अंतरंग और बहिरंग के भेद को ठीक माननेवाला और दूसरा उसका विरोधी। पर साधारण विद्यार्थी के लिये चैटर्जी का वर्गीकरण स्वाभाविक और सरल ज्ञात होता है; क्योंकि प्राचीन काल से आज तक मध्यदेश की ही भाषा सर्वप्रधान राष्ट्रभाषा होती आई है, अतः उसे अर्थात् 'पश्चिमी हिंदी' (अथवा केवल 'हिंदी') को केंद्र मानकर उसके चारों ओर के चार भाषा-वर्गों की परीक्षा करना सुविधाजनक होता है। इसी से स्वयं ग्रियर्सन ने अपने अन्य लेखों में सर्वप्रथम 'हिंदी' को मध्यदेशीय वर्ग मानकर वर्णन किया है और दूसरे वर्ग में उन भाषाओं को रखा है जो इस मध्यदेशीय भाषा (हिंदी) और बहिरंग भाषाओं के बीच में अर्थात् सीमांत पर पड़ती हैं। इस प्रकार उन्होंने नीचे लिखे तीन भाग किए हैं—

क. मध्यदेशीय भाषा
- १—हिंदी (हिं०)

ख. अंतर्वर्ती अथवा मध्यग भाषाएँ
- (अ) मध्यदेशीय भाषा से विशेष घनिष्ठतावाली
  - २—पंजाबी (पं०)
  - ३—राजस्थानी (रा०)
  - ४—गुजराती (गु०)
  - ५—पूर्वी पहाड़ी, खसकुरा, अथवा नैपाली (पू० प०)
  - ६—केंद्रस्थ पहाड़ी (कें० प०)
  - ७—पश्चिमी पहाड़ी (प० प०)
- (आ) बहिरंग भाषाओं से अधिक संबद्ध
  - ८—पूर्वी हिंदी (पू० हिं०)

ग. बहिरंग भाषाएँ—
- (अ) पश्चिमोत्तर वर्ग
  - ९—लहँदा (ल०)
  - १०—सिंधी (सिं०)
- (आ) दक्षिणी वर्ग
  - ११—मराठी (म०)
- (इ) पूर्वी वर्ग
  - १२—बिहारी (बि०)
  - १३—उड़िया (उ०)
  - १४—बंगाली (बं०)

१५—आसामी (आ०)

सूचना—भीली-गुजराती में और खानदेशी राजस्थानी में अंतर्भूत हो जाती हैं।

हम ग्रियर्सन के इस अंतिम वर्गीकरण को मानकर ही आधुनिक देशभाषाओं का संक्षिप्त परिचय देंगे।

हिंदी

भारतवर्ष के सिंधु, सिंध और सिंधी के ही दूसरे रूप हिंदु, हिंद और हिंदी माने जा सकते हैं, पर हमारी भाषा में आज ये भिन्न भिन्न शब्द माने जाते हैं। सिंधु एक नदी को, सिंध एक देश को और सिंधी उस देश के निवासी को कहते हैं, तथा फारसी से आए हुए हिंदु, हिंद और हिंदी सर्वथा भिन्न अर्थ में आते हैं। हिंदू से एक जाति, एक धर्म अथवा उस जाति या धर्म के माननेवाले व्यक्ति का बोध होता है। हिंद से पूरे देश भारतवर्ष का अर्थ लिया जाता है और हिंदी एक भाषा का वाचक होता है।

हिंदी शब्द के भिन्न भिन्न अर्थ

प्रयोग तथा रूप की दृष्टि से हिंदवी या हिंदी शब्द फारसी* भाषा का है और इसका अर्थ 'हिंद का' होता है, अतः यह फारसी ग्रंथों में हिंद देश के वासी और हिंद देश की भाषा दोनों अर्थों में आता था और आज भी आ सकता है। पंजाब का रहनेवाला दिहाती आज भी अपने को भारतवासी न कहकर हिंदी ही कहता है, पर हमें आज हिंदी के भाषा संबंधी अर्थ से ही विशेष प्रयोजन है। शब्दार्थ की दृष्टि से इस अर्थ में भी हिंदी शब्द का प्रयोग हिंद या भारत में बोली जानेवाली किसी आर्य अथवा अनार्य भाषा के लिये हो सकता है, किंतु व्यवहार में हिंदी उस बड़े भूमिभाग की भाषा मानी जाती है जिसकी सीमा पश्चिम में जैसलमेर, उत्तर-पश्चिम में अंबाला, उत्तर में शिमला से लेकर नेपाल के पूर्वी छोर

---

* कुछ लोग स्वय "हिंदी" शब्द को फारसी बतलाते हैं और कहते हैं कि इसमें हिंद शब्द के अंत में जो "ई" है, वह फारसी की "याए निस्बती" (संबंध-सूचक य या ई) है। ऐसी दशा में प्रश्न हो सकता है कि फिर अवधी, बिहारी और मराठी आदि में जो ई है वह कैसी है ? दूसरे इस अर्थ का बोधक ई प्रत्यय पाली में भी लगता है। जैसे—अप्पमत्तो अय गधो याय तगरचंदनी (धम्मपद ४।५६)। अतः यह कहना कि यह फारसी का प्रत्यय है ठीक नहीं है। यह विषय हमारे प्रस्तुत प्रसंग से कुछ बाहर है, इसलिये इसे हम यहीं छोड़ देते हैं। यहाँ हम केवल इतना ही कहना पर्याप्त समझते हैं कि यह हमारी भाषा है और इस समय सारे भारत की राष्ट्रभाषा हो रही है।

तक के पहाड़ी प्रदेश, पूरब में भागलपुर, दक्षिण-पूरब में रायपुर तथा दक्षिण-पश्चिम में खंडवा तक पहुँचती है। इस भूमिभाग के निवासियों के साहित्य, पत्र-पत्रिका, शिक्षा-दीक्षा, बोलचाल आदि की भाषा हिंदी है। इस अर्थ में बिहारी (भोजपुरी, मगही और मैथिली), राजस्थानी (मारवाड़ी, मेवाती आदि), पूर्वी हिंदी (अवधी, बघेली और छत्तीसगढ़ी), पहाड़ी आदि सभी हिंदी की विभाषाएँ मानी जा सकती हैं। उसके बोलनेवालों की संख्या लगभग ११ करोड़ है। यह हिंदी का प्रचलित अर्थ है। भाषा-शास्त्रीय अर्थ इससे कुछ भिन्न और संकुचित होता है।

भाषा-शास्त्र की दृष्टि से इस विशाल भूमिभाग अथवा हिंदी खंड में तीन चार भाषाएँ मानी जाती हैं। राजस्थान की राजस्थानी, बिहार तथा बनारस-गोरखपुर कमिश्नरी की बिहारी, उत्तर में पहाड़ों की पहाड़ी और अवध तथा छत्तीसगढ़ की पूर्वी हिंदी आदि पृथक् भाषाएँ मानी जाती हैं। इस प्रकार हिंदी केवल उस खंड की भाषा को कह सकते हैं जिसे प्राचीन काल में मध्य देश अथवा अंतर्वेद कहते थे। अतः यदि आगरा को हिंदी का केंद्र मानें तो उत्तर में हिमालय की तराई तक और दक्षिण में नर्मदा की घाटी तक, पूर्व में कानपुर तक और पश्चिम में दिल्ली के भी आगे तक हिंदी का क्षेत्र माना जाता है। इसके पश्चिम में पंजाबी और राजस्थानी बोली जाती हैं और पूर्व में पूर्वी हिंदी। कुछ लोग हिंदी के दो भेद मानते हैं—पश्चिमी हिंदी और पूर्वी हिंदी। पर आधुनिक विद्वान् पश्चिमी हिंदी* को ही हिंदी कहना शास्त्रीय समझते हैं। अतः भाषा-वैज्ञानिक विवेचन में पूर्वी हिंदी भी 'हिंदी' से पृथक् भाषा मानी जाती है। ऐतिहासिक दृष्टि से भी देखें तो हिंदी शौरसेनी की वंशज है और पूर्वी हिंदी अर्धमागधी की। इसी से ग्रियर्सन, चैटर्जी आदि ने हिंदी शब्द का पश्चिमी हिंदी के ही अर्थ में व्यवहार किया है और ब्रज, कन्नौजी, बुंदेली बाँगरू और खड़ी बोली (हिंदुस्तानी) को ही हिंदी की विभाषा माना है—अवधी, छत्तीसगढ़ी आदि को नहीं। अभी हिंदी लेखकों के अतिरिक्त अँगरेजी लेखक भी 'हिंदी' शब्द का मनचाहा अर्थ किया करते हैं इससे भाषा-विज्ञान के विद्यार्थी को हिंदी शब्द के (१) मूल शब्दार्थ, (२) प्रचलित और साहित्यिक अर्थ, तथा (३) शास्त्रीय अर्थ को भली भाँति समझ लेना चाहिए। तीनों अर्थ ठीक हैं पर भाषा-विज्ञान में वैज्ञानिक खोज से सिद्ध और शास्त्र-प्रयुक्त अर्थ ही लेना चाहिए।

हिंदी का शास्त्रीय अर्थ

---

* पश्चिमी हिंदी के बोलनेवालों की संख्या केवल ४ करोड़ १२ लाख है।

(१) हिंदी (पश्चिमी हिंदी अथवा केंद्रीय हिंदी-आर्य भाषा) की प्रधान पाँच विभाषाएँ हैं—खड़ी बोली*, बाँगरू, ब्रजभाषा, कन्नौजी और बुंदेली। आज खड़ी बोली राष्ट्र की भाषा है—साहित्य और व्यवहार सब में उसी का बोलबाला है, इसी से वह अनेक नामों और रूपों में भी देख पड़ती है। प्रायः लोग ब्रजभाषा, अवधी आदि प्राचीन साहित्यिक भाषाओं से भेद दिखाने के लिये आधुनिक साहित्यिक हिंदी को 'खड़ी बोली' कहते हैं। यह इसका सामान्य अर्थ है, पर इसका मूल अर्थ लें तो खड़ी बोली उस बोली को कहते हैं जो रामपुर रियासत, मुरादाबाद, बिजनौर, मेरठ, मुजफ्फरनगर, सहारनपुर, देहरादून, अंबाला तथा कलसिया और पटियाला रियासत के पूर्वी भागों में बोली जाती है। इसमें यद्यपि फारसी-अरबी के शब्दों का व्यवहार अधिक होता है पर वे शब्द तद्भव अथवा अर्धतत्सम होते हैं। इसके बोलनेवालों की संख्या लगभग ५३ लाख है। इसकी उत्पत्ति के विषय में अब यह माना जाने लगा है कि इसका विकास शौरसेनी अपभ्रंश से हुआ है। उस पर कुछ पंजाबी का भी प्रभाव देख पड़ता है।

खड़ी बोली

यह खड़ी बोली ही आजकल की हिंदी, उर्दू और हिंदुस्तानी तीनों का मूलाधार है। खड़ी बोली अपने शुद्ध रूप में केवल एक बोली है पर जब वह साहित्यिक रूप धारण करती है तब कभी वह 'हिंदी' कही जाती है और कभी 'उर्दू'। जिस भाषा में संस्कृत के तत्सम और अर्धतत्सम

उच्च हिंदी

---

* यह एक विचित्र बात है कि जहाँ अन्य भाषाएँ भिन्न भिन्न प्रदेशों में बोली जाने के कारण उस उस प्रदेश के नाम से अभिहित होती हैं, जैसे अवधी, ब्रज, बुंदेली, वहाँ खड़ी बोली का नाम सबसे भिन्न देख पड़ता है। इसका नामकरण किसी प्रदेश के नाम पर, जहाँ इसका मुख्यतया प्रचार है या उद्भव हुआ है, नहीं है। हिंदी साहित्य में यह नाम पहले-पहल लल्लूजी लाल के लेख में मिलता है। मुसलमानों ने जब इसे अपनाया तब इसे रेखता का नाम दिया। रेखता का अर्थ गिरता या पड़ता है। क्या इसी गिरी या पड़ी हुई भाषा के नाम का विरोध सूचित करने के लिये इसका नाम खड़ी बोली रखा गया? कुछ लोगों का कहना है कि यह 'खड़ी' शब्द 'खरी' (टकसाली) का बिगड़ा रूप है। जो हो, इस नामकरण का कोई प्रामाणिक कारण अब तक नहीं ज्ञात हुआ है। क्या इसका नाम अंतर्वेदी रखना अनुपयुक्त होता? पर अब खड़ी बोली नाम चल पड़ा है और उसे बदलने की चेष्टा व्यर्थ है।

शब्दों का विशेष व्यवहार होता है वह हिंदी (अथवा योरोपीय विद्वानों की उच्च हिंदी) कही जाती है। इसी हिंदी में वर्तमान युग का साहित्य निर्मित हो रहा है। पढ़े लिखे हिंदू इसी का व्यवहार करते हैं। यही खड़ी बोली का साहित्यिक रूप हिंदी के नाम से राष्ट्रभाषा के सिंहासन पर बिठाया जा रहा है।

उर्दू

जब वही खड़ी बोली फारसी-अरबी के तत्सम और अर्धतत्सम शब्दों को इतना अपना लेती है कि कभी कभी उसकी वाक्य-रचना पर भी कुछ विदेशी रंग चढ़ जाता है तब उसे उर्दू कहते हैं। यही उर्दू भारत के मुसलमानों की साहित्यिक भाषा है। इस उर्दू के भी दो रूप देखे जाते हैं। एक दिल्ली लखनऊ आदि की तत्सम-बहुला कठिन उर्दू और दूसरी हैदराबाद की सरल दक्खिनी उर्दू (अथवा हिंदुस्तानी)। इस प्रकार भाषा-वैज्ञानिक दृष्टि में हिंदी और उर्दू खड़ी बोली के दो साहित्यिक रूप मात्र हैं। एक का ढाँचा भारतीय परंपरागत प्राप्त है और दूसरी को फारसी का आधार बनाकर विकसित किया जा रहा है।

हिंदुस्तानी

खड़ी बोली का एक रूप और होता है जिसे न तो शुद्ध साहित्यिक ही कह सकते हैं और न ठेठ बोलचाल की बोली ही कह सकते हैं। वह है हिंदुस्तानी—विशाल हिंदी प्रांत के लोगों की परिमार्जित बोली। इसमें तत्सम शब्दों का व्यवहार कम होता है पर नित्य व्यवहार के शब्द देशी-विदेशी सभी काम में आते हैं। संस्कृत, फारसी, अरबी के अतिरिक्त अँगरेजी ने भी हिंदुस्तानी में स्थान पा लिया है। इसी से एक विद्वान् ने लिखा है कि "पुरानी हिंदी, उर्दू और अँगरेजी के मिश्रण से जो एक नई जबान आप से आप बन गई है वह हिंदुस्तानी के नाम से मशहूर है।" यह उद्धरण भी हिंदुस्तानी का अच्छा नमूना है। यह भाषा अभी तक बोल-चाल की बोली ही है। इसमें कोई साहित्य नहीं है। किस्से, गजल, भजन आदि की भाषा को, यदि चाहें तो, हिंदुस्तानी का ही एक रूप कह सकते हैं। आजकल कुछ लोग हिंदुस्तानी को साहित्य की भाषा बनाने का यत्न कर रहे हैं, पर वर्तमान अवस्था में वह राष्ट्रीय बोली* ही कही जा सकती है। उसकी उत्पत्ति का कारण भी परस्पर

* हिंदुस्तानी का साहित्य के आसन पर विराजने की चेष्टा करना हिंदी और उर्दू और दोनों के लिये अनिष्टकर सिद्ध हो सकता है। इसके प्रचार और विकास तथा साहित्योपयोगी होने से हिंदी उर्दू दोनों अपने प्राचीन

विनिमय की इच्छा ही है। जिस प्रकार उर्दू के रूप में खड़ी बोली ने मुसलमानों की माँग पूरी की है उसी प्रकार अँगरेजी शासन और शिक्षा की आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिये हिंदुस्तानी चेष्टा कर रही है। वास्तव में 'हिंदुस्तानी' नाम के जन्मदाता अँगरेज आफिसर हैं। वे जिस साधारण बोली में साधारण लोगों से—साधारण पढ़े और बेपढ़े दोनों ढंग के लोगों से—बातचीत और व्यवहार करते थे उसे हिंदुस्तानी कहने लगे। जब हिंदी और उर्दू साहित्य-सेवा में विशेष रूप से लग गई तब जो बोली जनता में बच रही है उसे हिंदुस्तानी कहा जाने लगा है। यदि हम चाहें तो हिंदुस्तानी को चाहे हिंदी का, चाहे उर्दू के बोलचाल का रूप कह सकते हैं। अत. हिंदी, उर्दू, हिंदुस्तानी तीनों ही खड़ी बोली के रूपांतर मात्र हैं। साथ ही हमें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि शास्त्रों में खड़ी बोली का अधिक प्रयोग एक प्रांतीय बोली के अर्थ में ही होता है।

(२) बाँगरू—हिंदी की दूसरी विभाषा बाँगरू बोली है। यह बाँगर अर्थात् पंजाब के दक्षिण-पूर्वी भाग की बोली है। देहली, करनाल, रोहतक, हिसार, पटियाला, नाभा और झींद आदि की ग्रामीण बोली यही बाँगरू है। यह पंजाबी, राजस्थानी और खड़ी बोली तीनों की खिचड़ी है। बाँगरू बोलनेवालों की संख्या बाईस लाख है। बाँगरू बोली की पश्चिमी सीमा पर सरस्वती नदी बहती है। पानीपत और कुरुक्षेत्र के प्रसिद्ध मैदान इसी बोली की सीमा के अंदर पड़ते हैं।

(३) व्रजभाषा—व्रजमंडल में व्रजभाषा बोली जाती है। इसका विशुद्ध रूप आज भी मथुरा, आगरा, अलीगढ़ तथा धौलपुर में बोला जाता है। इसके बोलनेवालों की संख्या लगभग ७९ लाख है। व्रजभाषा में हिंदी का इतना बड़ा और सुंदर साहित्य लिखा गया है कि उसे बोली अथवा विभाषा न कहकर भाषा का नाम मिल गया था, पर आज तो यह हिंदी की एक विभाषा मात्र कही जा सकती है। आज भी अनेक कवि पुरानी अमर व्रजभाषा में काव्य लिखते हैं।

(४) कनौजी—गंगा के मध्य दोआब की बोली कनौजी है। इसमें भी अच्छा साहित्य मिलता है पर वह भी व्रजभाषा का ही साहित्य माना जाता है, क्योंकि साहित्यिक कनौजी और व्रज में कोई विशेष अंतर नहीं लक्षित होता।

गौरव और परंपरा से पृथक् हो जायँगी और दोनों अपभ्रष्ट होकर एक ऐसी स्थिति उत्पन्न करेंगी, जो भारतीय भाषाओं के इतिहास की परंपरा में उथल-पुथल कर देगी।

(५) बुंदेली—यह बुंदेलखंड की भाषा है और व्रजभाषा के क्षेत्र के दक्षिण में बोली जाती है। शुद्ध रूप में यह झाँसी, जालौन, हमीरपुर, ग्वालियर, भूपाल, ओड़छा, सागर, नरसिंहपुर, सिवनी तथा होशंगाबाद में बोली जाती है। इसके कई मिश्रित रूप दतिया, पन्ना, चरखारी, दमोह, बालाघाट तथा छिंदवाड़ा के कुछ भागों में पाए जाते हैं। बुंदेली के बोलनेवाले लगभग ६६ लाख हैं। मध्यकाल में बुंदेलखंड में अच्छे कवि हुए हैं पर उनकी भाषा व्रज ही रही है। उनकी व्रजभाषा पर कभी कभी बुंदेली की अच्छी छाप देख पड़ती है।

'मध्यवर्ती' कहने का यही अभिप्राय है कि ये भाषाएँ मध्यदेशी भाषा और बहिरंग भाषाओं के बीच की कड़ी हैं अतः उनमें दोनों के लक्षण मिलते हैं। मध्यदेश के पश्चिम की भाषाओं में मध्यदेशी लक्षण अधिक मिलते हैं पर उसके पूर्व की 'पूर्वी हिंदी' में बहिरंग वर्ग के इतने अधिक लक्षण मिलते हैं कि उसे बहिरंग वर्ग की ही भाषा कहा जा सकता है।

मध्यवर्ती भाषाएँ

जैसा पीछे तीसरे ढंग के वर्गीकरण में स्पष्ट हो गया है, ये मध्यवर्ती भाषाएँ सात हैं—पंजाबी, राजस्थानी, गुजराती, पूर्वी पहाड़ी, केंद्रीय पहाड़ी, पश्चिमी पहाड़ी और पूर्वी हिंदी। ये सातों भाषाएँ हिंदी को—मध्यदेश की भाषा को—घेरे हुए हैं। साहित्यिक और राष्ट्रीय दृष्टि से ये सब हिंदी की विभाषाएँ (अथवा उपभाषाएँ) मानी जा सकती हैं पर भाषाशास्त्र की दृष्टि से ये स्वतंत्र भाषाएँ मानी जाती हैं। इनमें से पहली छः में मध्यदेशी लक्षण अधिक मिलते हैं पर पूर्वी हिंदी में बहिरंग लक्षण ही प्रधान हैं।

पूरे पंजाब प्रांत की भाषा को 'पंजाबी' कह सकते हैं। इसी से कई लेखक पश्चिमी पंजाबी और पूर्वी पंजाबी के दो भेद करते हैं पर भाषाशास्त्री पूर्वी पंजाबी को पंजाबी कहते हैं अतः हम भी पंजाबी का इसी अर्थ में 'व्यवहार करेंगे। पश्चिमी पंजाबी को लहँदा कहते हैं। अमृतसर के आसपास की भाषा शुद्ध पंजाबी मानी जाती है। यद्यपि स्थानीय बोलियों में भेद मिलता है पर सच्ची विभाषा डोग्री ही है। जंबू रियासत और काँगड़ा जिले में डोग्री बोली जाती है। इसकी लिपि तक्करी अथवा टकरी है। टक्क जाति से इसका संबंध जोड़ा जाता है। पंजाबी में थोड़ा साहित्य भी है। पंजाबी ही एक ऐसी मध्यदेश से संबद्ध भाषा है जिसमें संस्कृत और फारसी शब्दों की भरती नहीं है। इस भाषा में वैदिक-संस्कृत-सुलभ रस और सुंदर पुरुषत्व देख पड़ता है। इस भाषा में इसके बोलनेवाले

पंजाबी

बलिष्ट और कठोर किसानों की कठोरता और सादगी मिलती है। ग्रियर्सन ने लिखा है कि पंजाबी ही एक ऐसी आधुनिक हिंदी--आर्य भाषा है जिसमें वैदिक अथवा तिब्बत चीनी भाषा के समान स्वर पाए जाते हैं।

राजस्थानी और गुजराती

पंजाबी के दक्षिण में राजस्थानी है। जिस प्रकार हिंदी का उत्तर-पश्चिम की ओर फैला हुआ रूप पंजाबी है, उसी प्रकार हिंदी का दक्षिण पश्चिम विस्तार राजस्थानी है। इसी विस्तार का अंतिम भाग गुजराती है। राजस्थानी और गुजराती वास्तव में इतनी परस्पर संबद्ध हैं कि दोनों को एक ही भाषा की दो विभाषाएँ मानना भी अनुचित न होगा। पर आजकल ये दो स्वतंत्र भाषाएँ मानी जाती हैं। दोनों में स्वतंत्र साहित्य की भी रचना हो रही है। राजस्थानी की मेवाती, मालवी, मारवाडी और जयपुरी आदि अनेक विभाषाएँ हैं, पर गुजराती में कोई निश्चित विभाषाएँ नहीं हैं। उत्तर और दक्षिण की गुजराती की बोली में थोड़ा स्थानीय भेद पाया जाता है।

पहाडी

मारवाडी और जयपुरी से मिलती-जुलती पहाडी भाषाएँ हिंदी के उत्तर में मिलती हैं। पूर्वी पहाडी नेपाल की प्रधान भाषा है इसी से वह नेपाली भी कही जाती है। इसे ही परबतिया अथवा खसकुरा भी कहते हैं। यह नागरी अक्षरों में लिखी जाती है। इसका साहित्य सर्वथा आधुनिक है। केंद्रवर्ती पहाडी गढवाल रियासत तथा कुमाऊँ और गढवाल जिलों में बोली जाती है। इसमें दो विभाषाएँ हैं—कुमाउनी और गढवाली। इस भाषा में भी कुछ पुस्तकें, थोड़े दिन हुए, लिखी गई हैं। यह भी नागरी अक्षरों में लिखी जाती है। पश्चिमी पहाडी बहुत सी पहाडी बोलियों के समूह का नाम है। उसकी कोई प्रधान विभाषा नहीं है और न उसमें कोई उल्लेखनीय साहित्य ही है। कुछ ग्राम गीत भर मिलते हैं। इसका क्षेत्र बहुत विस्तृत है। संयुक्तप्रांत के जोनसार—बावर से लेकर पंजाब प्रांत में सिरमोर रियासत, शिमला पहाडी, कुडू, मंडी, चंबा होते हुए पश्चिम में कश्मीर की भदरवार जागीर तक पश्चिमी पहाडी बोलियाँ फैली हुई हैं। इसमें जौनसारी, कुडली, चंबाली आदि अनेक विभाषाएँ हैं। ये टकरी अथवा तकरी लिपि में लिखी जाती हैं।

इसे हिंदी का पूर्वी विस्तार कह सकते हैं पर इस भाषा में इतने बहिरंग भाषाओं के लक्षण मिलते हैं कि इसे अर्ध विहारी* भी कहा जा

---

* अर्धमागधी का ही अनुवाद अर्ध विहारी है। पूर्वी हिंदी प्राचीन काल की अर्धमागधी प्राकृत के क्षेत्र में ही बोली भी जाती है। ध्यान देने की बात

सकता है। यही एक ऐसी मध्यवर्ती भाषा है जिसमें बहिरंग भाषाओं के अधिक लक्षण मिलते हैं। यह हिंदी और बिहारी के मध्य की भाषा है। इसकी

पूर्वी हिंदी

तीन विभाषाएँ हैं—अवधी, बघेली और छत्तीसगढ़ी। अवधी को ही कोशली या बैसवाड़ी भी कहते हैं। वास्तव में दक्षिण-पश्चिमी अवधी ही बैसवाड़ी कही जाती है। पूर्वी हिंदी नागरी के अतिरिक्त कैथी में भी कभी कभी लिखी मिलती है। इस भाषा के कवि हिंदी-साहित्य के अमर कवि हैं जैसे तुलसी और जायसी।

इनका सबसे बड़ा भेदक यह है कि मध्यदेश की भाषा अर्थात् हिंदी की अपेक्षा ये सब अधिक संहिति-प्रधान हैं। हिंदी की रचना सर्वथा

बहिरंग भाषाएँ

व्यवहित है पर इन बहिरंग भाषाओं में संहित रचना भी मिलती है। वे व्यवहिति से संहिति की ओर रही हैं। मध्यवर्ती भाषाओं में केवल पूर्वी हिंदी कुछ संहित पाई जाती है।

यह पश्चिम पंजाब की भाषा है, इसी से कुछ लोग इसे पश्चिमी पंजाबी भी कहा करते हैं। यह जटकी, अच्छी, हिंदकी, डिलाही आदि

लहँदा

नामों से भी पुकारी जाती है। कुछ विद्वान् इसे लहँदी भी कहते हैं पर लहँदा तो संज्ञा है अतः उसका स्त्रीलिंग नहीं हो सकता। लहँदा एक नया नाम ही चल पड़ा है; अब उसमें उस अर्थ के द्योतन की शक्ति आ गई है।

लहँदा की चार विभाषाएँ हैं—(१) एक केंद्रीय लहँदा जो नमक की पहाड़ी के दक्षिण प्रदेश में बोली जाती है और जो टकसाली मानी जाती है, (२) दूसरी दक्षिणी अथवा मुलतानी जो मुलतान के आस-पास बोली जाती है, (३) तीसरी उत्तर-पूर्वी अथवा पोठवारी और (४) चौथी उत्तर-पश्चिमी अर्थात् धन्नी। यह उत्तर में हजारा जिले तक पाई जाती है। लहँदा में साधारण गीतों के अतिरिक्त कोई साहित्य नहीं है। इसकी अपनी लिपि लंडा है।

यह दूसरी बहिरंग भाषा है, और सिंध नदी के दोनों तटों पर बसे हुए सिंध देश की बोली है। इसमें पाँच विभाषाएँ हैं—विचोली,

सिंधी

सिरैकी, लारी, थरेली और कच्छी। विचोली मध्य सिंध की टकसाली भाषा है। सिंधी के उत्तर में लहँदा, दक्षिण में गुजराती और पूर्व में राजस्थानी है। सिंधी का भी साहित्य छोटा सा है। इसकी भी लिपि लंडा है पर गुरुमुखी और नागरी का भी प्रायः व्यवहार होता है।

है कि साहित्यिक और धार्मिक दृष्टि से अर्धमागधी भाषा का सदा से ऊँचा स्थान रहा है पर राष्ट्रीय दृष्टि से मध्यदेश की भाषा ही राज्य करती रही है।

कच्छी बोली के दक्षिण में गुजराती है। यद्यपि उसका क्षेत्र पहले बहिरंग भाषा का क्षेत्र रह चुका है पर गुजराती मध्यवर्ती भाषा है। अतः यहाँ बहिरंग भाषा की शृंखला टूट सी गई है। इसके बाद गुजराती के दक्षिण में मराठी आती है। यही दक्षिणी बहिरंग भाषा है। यह पश्चिमी घाट और अरब समुद्र के मध्य की भाषा है। पूना की भाषा ही टकसाली मानी जाती है। पर मराठी बरार में से होते हुए बस्तर तक बोली जाती है। इसके दक्षिण में द्रविड़ भाषाएँ बोली जाती हैं। पूर्व में मराठी अपनी पड़ोसिन छत्तीसगढ़ी से मिलती है।

मराठी

मराठी की तीन विभाषाएँ हैं। पूना के आसपास की टकसाली बोली देशी मराठी कहलाती है। यही थोड़े भेद से उत्तर कोंकण में बोली जाती है, इससे इसे कोंकणी भी कहते हैं। पर कोंकणी एक दूसरी मराठी बोली का नाम है जो दक्षिणी कोंकण में बोली जाती है। पारिभाषिक अर्थ में दक्षिण कोंकणी ही कोंकणी मानी जाती है। मराठी की तीसरी विभाषा बरार की बरारी है। हल्बी, मराठी और द्रविड़ की खिचड़ी बोली है जो बस्तर में बोली जाती है।

मराठी भाषा में तद्धितांत, नामधातु आदि शब्दों का व्यवहार विशेष रूप से होता है। इसमें वैदिक स्वर के भी कुछ चिह्न मिलते हैं।

पूर्व की ओर आने पर सबसे पहली बहिरंग भाषा बिहारी मिलती है। बिहारी केवल बिहार में ही नहीं, संयुक्त प्रांत के पूर्वी भाग अर्थात् गोरखपुर-बनारस कमिश्नरियों से लेकर पूरे बिहार प्रांत में तथा छोटा नागपुर में भी बोली जाती है। यह पूर्वी हिंदी के समान हिंदी की चचेरी बहिन मानी जा सकती है। इसकी तीन विभाषाएँ—(१) मैथिली, जो गंगा के उत्तर दरभंगा के आसपास बोली जाती है। (२) मगही, जिसके केंद्र पटना और गया हैं। (३) भोजपुरी, जो गोरखपुर और बनारस कमिश्नरियों से लेकर बिहार प्रांत के आरा (शाहाबाद), चंपारन और सारन जिलों में बोली जाती है। यह भोजपुरी अपने वर्ग की ही मैथिली—मगही से इतनी भिन्न होती है कि चैटर्जी भोजपुरी को एक पृथक् वर्ग में ही रखना उचित समझते हैं।

बिहारी

बिहार में तीन लिपियाँ प्रचलित हैं। छपाई नागरी लिपि में होती है। साधारण व्यवहार में कैथी चलती है और कुछ मैथिलों में मैथिली लिपि चलती है।

ओड्री, उत्कली अथवा उड़िया उड़ीसा की भाषा है। इसमें कोई विभाषा नहीं है। इसकी एक खिचड़ी बोली है जिसे भत्री कहते हैं। भत्री में उड़िया, मराठी और द्रविड़ तीनों आकर मिल गई हैं। उड़िया का साहित्य अच्छा बड़ा है।

उड़िया

बंगाल की भाषा बंगाली प्रसिद्ध साहित्य-संपन्न भाषाओं में से एक है। इसकी तीन विभाषाएँ हैं। हुगली के आसपास की पश्चिमी बोली टकसाली मानी जाती है। बँगला लिपि देवनागरी का ही एक रूपांतर है।

बंगाली

आसामी बहिरंग समुदाय की अंतिम भाषा है। यह आसाम की भाषा है। यहाँ के लोग उसे असामिया कहते हैं। आसामी में प्राचीन साहित्य भी अच्छा है। आसामी यद्यपि बँगला से बहुत कुछ मिलती है तो भी व्याकरण और उच्चारण में पर्याप्त भेद पाया जाता है। यह भी एक प्रकार की बँगला लिपि में ही लिखी जाती है। आसामी की कोई सच्ची विभाषा नहीं है।

आसामी

तीसरा अध्याय

हिंदी का ऐतिहासिक विकास

हिंदी के विकास की अवस्थाएँ

हिंदी का विकास क्रमशः प्राकृत और अपभ्रंश के अनंतर हुआ है। पर पिछली अपभ्रंश में भी हिंदी के बीज बहुत स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ते हैं, इसी लिये इस मध्यवर्त्ती नागर अपभ्रंश को कुछ विद्वानों ने पुरानी हिंदी माना है। यद्यपि अपभ्रंश की कविता बहुत पीछे की बनी हुई भी मिलती है, परंतु हिंदी का विकास चंद बरदाई के समय से स्पष्ट देख पड़ने लगता है। इसका समय बारहवीं शताब्दी का अंतिम अर्ध भाग है, परंतु उस समय भी इसकी भाषा अपभ्रंश से बहुत भिन्न हो गई थी। अपभ्रंश का यह उदाहरण लीजिए—

> भल्ला हुआ जु मारिया बहिणि महारा कंतु।
> लज्जेज्ज तु वयंसिअहु जइ भग्गा घरु एंतु ॥ १ ॥
> पुत्तें जाए कवणु गुणु अवगुणु कवणु मुएण।
> जा बप्पी की भुंहडी चम्पिज्जइ अवरेण ॥ २ ॥

दोनों दोहे हेमचंद्र के हैं। हेमचंद्र का जन्म संवत् ११४५ में और मृत्यु सं० १२२६ में हुई थी। अतएव यह माना जा सकता है कि ये दोहे सं० १२०० के लगभग अथवा उसके कुछ पूर्व लिखे गए होंगे। अब हिंदी के आदि कवि चंद के कुछ छंद लेकर मिलाइए और देखिए, दोनों में कहाँ तक समता है।

> उचिठ छंद चंदह बयन सुनत सुजंपिय नारि।
> तनु पवित्त पावन कविय उकति अनूठ उधारि ॥
> ताड़ी खुल्लिय ब्रह्म दिक्खि इक असुर अदब्भुत।
> दिग्घ देह चख सीस मुष्ष करुना जस जप्पत ॥

हेमचंद्र और चंद की कविताओं को मिलाने से यह स्पष्ट विदित होता है कि हेमचंद्र की कविता प्राचीन है और चंद की उसकी अपेक्षा बहुत अर्वाचीन। हेमचंद्र ने अपने व्याकरण में अपभ्रंश के कुछ उदाहरण दिए हैं, जिनमें से ऊपर के दोनों दोहे लिए गए हैं; पर ये सब उदाहरण स्वयं हेमचंद्र के बनाए हुए ही नहीं हैं। संभव है कि इनमें

से कुछ स्वयं उनके बनाए हुए हों; पर अधिकांश अवतरण मात्र हैं और इसलिये उसके पहले के हैं।

विक्रम की ग्यारहवीं शताब्दी के द्वितीय चरण में वर्तमान महाराज भोज का पितृव्य द्वितीय वाक्पतिराज परमार मुंज जैसा पराक्रमी था, वैसा ही कवि भी था। एक बार वह कल्याण के राजा तैलप के यहाँ कैद था। कैद ही में तैलप की बहन मृणालवती से उसका प्रेम हो गया और उसने कारागृह से निकल भागने का अपना भेद अपनी प्रणयिनी को बतला दिया। मृणालवती ने मुंज का मंसूबा अपने भाई से कह दिया, जिससे मुंज पर और अधिक कड़ाई होने लगी। निम्नलिखित दोहे मुंज की तत्कालीन रचना हैं—

जा मति पच्छइ संपज्जइ सा मति पहिलो होइ।
मुंज भणइ मुणालवइ विघन न वेढइ कोइ॥

(जो मति पीछे संपन्न होती है, वह यदि पहले हो, तो मुंज कहता है, हे मृणालवती, कोई विघ्न न सतावे।)

सायर खाई लंक गढ़ गढ़वइ दससिरि राउ।
भग्गक्खय सो भज्जि गय मुंज म करि विसाउ॥

(सागर खाई, लंका गढ़, गढ़पति दशकंधर राजा भाग्य क्षय होने पर सब चौपट हो गए। मुंज विषाद मत कर।)

ये दोहे हिंदी के कितने पास पहुँचते हुए हैं, यह इन्हें पढ़ते ही पता लग जाता है। इनकी भाषा साहित्यिक है, अतः रूढ़ि के अनुसार इनमें कुछ ऐसे शब्दों के प्राकृत रूप भी रखे हुए हैं जो बोलचाल में प्रचलित न थे, जैसे संपज्जइ, सायर, मुणालवइ, विसाउ। इन्हें यदि निकाल दें तो भाषा और भी स्पष्ट हो जाती है।

इस अवस्था में यह माना जा सकता है कि हेमचंद्र के समय से पूर्व हिंदी का विकास होने लग गया था और चंद के समय तक उसका कुछ कुछ रूप स्थिर हो गया था; अतएव हिंदी का आदि काल हम सं० १०५० के लगभग मान सकते हैं। यद्यपि इस समय के पूर्व के कई हिंदी कवियों के नाम बताए जाते हैं, परंतु उनमें से किसी की रचना का कोई उदाहरण कहीं देखने में नहीं आता। इस अवस्था में उन्हें हिंदी के आदि काल के कवि मानने में संकोच होता है। पर चंद को हिंदी का आदि-कवि मानने में किसी को संदेह नहीं हो सकता। कुछ लोगों का यह कहना है कि चंद का पृथ्वीराज रासो बहुत पीछे का बना हुआ है। इसमें संदेह नहीं कि इस रासो में बहुत कुछ प्रक्षिप्त अंश है, पर

साथ ही उसमें प्राचीनता के चिह्न भी कम नहीं हैं। उसके कुछ अंश अवश्य प्राचीन जान पड़ते हैं।

चंद का समकालीन जगनिक कवि हुआ है जो बुंदेलखंड के प्रतापी राजा परमाल के दरबार में था। यद्यपि इस समय उसका बनाया कोई ग्रंथ नहीं मिलता, पर यह माना जाता है कि उसके बनाए ग्रंथ के आधार पर ही आरंभ में "आल्हखंड" की रचना हुई थी। अभी तक इस ग्रंथ की कोई प्राचीन प्रति नहीं मिली है; पर संयुक्त प्रदेश और बुंदेलखंड में इसका बहुत प्रचार है और यह बराबर गाया जाता है। लिखित प्रति न होने तथा इसका रूप सर्वथा आल्हा गानेवालों की स्मृति पर निर्भर होने के कारण इसमें बहुत कुछ प्रक्षिप्त अंश भी मिलता गया है और भाषा में भी फेरफार होता गया है।

हिंदी के जन्म का समय भारतवर्ष के राजनीतिक उलटफेर का था। उसके पहले ही से यहाँ मुसलमानों का आना आरंभ हो गया था और इस्लाम धर्म के प्रचार तथा उत्कर्षवर्धन में उत्साही और दृढ़संकल्प मुसलमानों के आक्रमणों के कारण भारतवासियों को अपनी रक्षा की चिंता लगी हुई थी। ऐसी अवस्था में साहित्य-कला की वृद्धि की किसको चिंता हो सकती थी। ऐसे समय में तो वे ही कवि सम्मानित हो सकते थे जो केवल कलम चलाने में ही निपुण न हों, वरन् तलवार चलाने में भी सिद्धहस्त हों तथा सेना के अग्रभाग में रहकर अपनी वाणी द्वारा सैनिकों का उत्साह बढ़ाने में भी समर्थ हों। चंद और जगनिक ऐसे ही कवि थे, इसी लिये उनकी स्मृति अब तक बनी है। परंतु उनके अनंतर कोई सौ वर्ष तक हिंदी का सिंहासन सूना देख पड़ता है। अतएव हिंदी का आदि काल संवत् १०५० के लगभग आरंभ होकर १३७५ तक चलता है। इस काल में विशेषकर वीर-काव्य रचे गए थे। ये काव्य दो प्रकार की भाषाओं में लिखे जाते थे। एक भाषा का ढाँचा तो बिलकुल राजस्थानी या गुजराती का होता था जिसमें प्राकृत के पुराने शब्द भी बहुतायत से मिले रहते थे। यह भाषा, जो चारणों में बहुत काल पीछे तक चलती रही है, डिंगल कहलाती है। दूसरी भाषा एक सामान्य साहित्यिक भाषा थी जिसका व्यवहार ऐसे विद्वान् कवि करते थे जो अपनी रचना को अधिक देशव्यापक बनाना चाहते थे। इसका ढाँचा पुरानी ब्रजभाषा का होता था जिसमें थोड़ा बहुत खड़ी या पंजाबी का भी मेल हो जाता था। इसे 'पिंगल' भाषा कहने लगे थे। वास्तव में हिंदी का संबंध इसी भाषा से है। पृथ्वीराज रासो इसी साहित्यिक सामान्य भाषा में लिखा हुआ है। बीसलदेव रासो की भाषा साहित्यिक

नहीं है। हाँ, यह कहा जा सकता है कि उसके कवि ने जगह जगह अपनी राजस्थानी बोली में इस सामान्य साहित्यिक भाषा,(हिंदी) को मिलाने का प्रयत्न अवश्य किया है।

डिंगल के ग्रंथों में प्राचीनता की झलक उतनी नहीं है जितनी पिंगल ग्रंथों में पाई जाती है। राजस्थानी कवियों ने अपनी भाषा को प्राचीनता का गौरव देने के लिये जान बूझकर प्राकृत अपभ्रंश के रूपों का अपनी कविता में प्रयोग किया है। इससे वह भाषा वीरकाव्योपयोगी अवश्य हो जाती है, पर साथ ही उसमें दुरूहता भी आ जाती है।

इसके अनंतर हिंदी के विकास का मध्य काल आरंभ होता है जो ५२५ वर्षों तक चलता है। भाषा के विचार से इस काल को हम दो मुख्य भागों में विभक्त कर सकते हैं—एक सं० १३७५ से १७०० तक और दूसरा १७०० से १६०० तक। प्रथम भाग में हिंदी की पुरानी बोलियाँ बदलकर व्रजभाषा, अवधी और खड़ी बोली का रूप धारण करती हैं; और दूसरे भाग में उनमें प्रौढ़ता आती है; तथा अंत में अवधी और व्रजभाषा का मिश्रण सा,हो जाता है और काव्य-भाषा का एक सामान्य रूप खड़ा हो जाता है। इस काल के प्रथम भाग में राजनीतिक स्थिति डाँवाँडोल थी। पीछे से उसमें क्रमशः स्थिरता आई जो दूसरे भाग में दृढ़ता को पहुँचकर पुनः डाँवाँडोल हो गई। हिंदी के विकास की चौथी अवस्था संवत् १६०० में आरंभ होती है। उसी समय से हिंदी गद्य का विकास नियमित रूप से आरंभ हुआ है और खड़ी बोली का प्रयोग गद्य और पद्य दोनों में होने लगा है।

मध्य काल के पहले भाग में हिंदी की पुरानी बोलियों ने विकसित होकर व्रज, अवधी और खड़ी बोली का रूप धारण किया और व्रज तथा अवधी ने साहित्यिक बाना पहनकर प्रौढ़ता प्राप्त की। पुरानी बोलियों ने किस प्रकार नया रूप धारण किया इसका क्रमबद्ध विवरण देना अत्यंत कठिन है, पर इसमें संदेह नहीं कि वे एक बार ही साहित्य के लिये स्वीकृत न हुई होंगी। इस अधिकार और गौरव को प्राप्त करने में उनको न जाने कितने वर्षों तक साहित्यिकों की तोड़-मरोड़ सहनी, तथा उन्हें घटाने-बढ़ाने की पूर्ण स्वतंत्रता दे रखनी पड़ी होगी। मध्य युग के धार्मिक प्रचार संबंधी आंदोलन ने प्रचारकों को जनता के हृदय तक पहुँचने की आवश्यकता का अनुभव कराया। इसके लिये जन साधारण की भाषा का ज्ञान और उपयोग उन्हें अनिवार्य ज्ञात हुआ। इसी आवश्यकता के वशीभूत होकर निर्गुणपंथी संत कवियों ने जन-साधारण की भाषा को अपनाया और उसमें कविता की; परंतु

थे उस कविता को माधुर्य आदि गुणों से अलंकृत न कर सके और न किसी एक बोली को अपनाकर उसके शुद्ध रूप का उपयोग कर सके। उनके अपढ़ होने, स्थान स्थान के साधु-संतों के सत्संग और भिन्न भिन्न प्रांतों तथा उसके उपखंडों में जिज्ञासा की तृप्ति के लिये पर्यटन एवं प्रवास ने उनकी भाषा में एक विचित्र खिचड़ी पका दी। काशी-निवासी कबीर के प्रभाव से विशेष कर पूरबी भाषा (अवधी) का ही उसमें प्राबल्य रहा, यद्यपि खड़ी बोली और पंजाबी भी अपना प्रभाव डाले बिना न रहीं। इन साधु-संतों द्वारा प्रयुक्त भाषा को हम सधुक्कड़ी अवधी अथवा साहित्य में प्रयुक्त उसका असंस्कृत अपरिमार्जित रूप कह सकते हैं। आगे चलकर इसी अवधी को प्रेमाख्यानक मुसलमान कवियों ने अपनाया और उसको किंचित् परिमार्जित रूप में प्रयुक्त करने का उद्योग किया। इसमें उनको बहुत कुछ सफलता भी प्राप्त हुई। अंत में स्वाभाविक कोमलता और सगुण भक्ति की रामोपासक शाखा के प्रमुख प्रतिनिधि तुलसीदास ने उसे प्रौढ़ता प्रदान करके साहित्यिक आसन पर सुशोभित किया। प्रेमाख्यानक कवियों ने नित्य के व्यवहार में आनेवाली भाषा का प्रयोग किया और तुलसीदास ने संस्कृत के योग से उसको परिमार्जित और प्रांजल बनाकर साहित्यिक भाषा का गौरव प्रदान किया।

व्रजभाषा एक प्रकार से चिर-प्रतिष्ठित प्राचीन काव्य-भाषा का विकसित रूप है। पृथ्वीराज रासो में ही इसके ढाँचे का बहुत कुछ आभास मिल जाता है—"तिहि रिपुजय पुरहरन को भए प्रथिराज नरिंद।"

सूरदास के रचना-काल का आरंभ संवत् १५७५ के लगभग माना जाता है। उस समय तक काव्य-भाषा ने व्रजभाषा का पूरा पूरा रूप पकड़ लिया था, फिर भी उसमें क्या क्रिया, क्या सर्वनाम और क्या अन्य शब्द सबमें प्राकृत तथा अपभ्रंश का प्रभाव दिखाई देता है। पुरानी काव्य-भाषा का प्रभाव व्रजभाषा में अब तक लक्षित होता है। रत्नाकर जी की कविता में भी अभी तक 'मुक्ताहल' और 'नाह' ऐसे न जाने कितने शब्द मिलते हैं। तुलसीदासजी की रचना में जिस प्रकार अवधी ने प्रौढ़ता प्राप्त की उसी प्रकार अष्टछाप के कवियों की पदावली में व्रज-भाषा भी विकसित हुई। घनानंद, बिहारी और पद्माकर की कविता में तो उसका पूर्ण परिपोष हुआ।

यहाँ पर यह बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि जिस प्रकार अवधी में मिश्रण के कारण साधु-संत हुए उसी प्रकार व्रजभाषा में मिश्रण के कारण राजा लोग हुए। यह ऊपर कहा जा चुका है कि

ब्रजभाषा पुरानी सार्वदेशिक काव्य-भाषा का विकसित रूप है। उत्तर भारत की संस्कृत का केंद्र सदा से उसका पश्चिम भाग रहा। बड़ी बड़ी राजधानियाँ तथा समृद्धि-शालिनी नगरियाँ, जहाँ राजा लोग मुक्त-हस्त होकर दान देने के प्रभाव से दूर दूर देश के कवि कोविदों को खींच लाते थे, वहीं थीं। इसी से वहीं की भाषा ने काव्य-भाषा का रूप प्राप्त किया, साथ ही दूर दूर देशों की प्रतिभा ने भी काव्य भाषा के एकत्व स्थापित करने में योग दिया। इस प्रकार का कल्पित एकत्व प्रायः विशुद्धता का विरोधी होता है। यही कारण है कि ब्रजभाषा भी बहुत काल तक मिश्रित रही। रासो की भाषा भी मिश्रित ही है। चंद ने स्वयं कहा है—"षट् भाषा पुरानं च कुरानं कथितं मया।"

इस षट् भाषा का अर्थ स्पष्ट करने के लिये भिखारीदास का निम्नलिखित पद्यांश विचारणीय है—

"ब्रज मागधी मिलै अमर नाग यमन भाखानि।
सहज पारसी हू मिलै षट विधि कहत बखानि॥"

मागधी से पूर्वी (अवधी और बिहारी) का तात्पर्य है, अमर से संस्कृत का, और यमन से अरबी का, पर नागभाषा कौन सी है यह नहीं जान पड़ता। जो कुछ हो, पर यह मिश्रण ऐसा नहीं होता था कि भाषा अपनापन छोड़ दे।

ब्रज भाषा भाषा रुचिर कहैं सुमति सब कोइ।
मिलै संस्कृत पारस्यौ पै अति प्रगट जु होइ॥

प्रत्येक कवि की रचनाओं में इस प्रकार का मिश्रण मिलता है, यहाँ तक कि तुलसीदास और गंग भी, जिनका काव्य-साम्राज्य में बहुत ऊँचा स्थान है, उससे न बच सके। भिखारीदासजी ने इस संबंध में कहा है—

तुलसी गंग दुवौ भए सुकविन के सरदार।
जिनकी कविता में मिली भाषा विविध प्रकार॥

अब तक तो किसी चुने उपयुक्त विदेशी शब्द को ही कविगण अपनी कविता में प्रयुक्त करते थे; परंतु इसके अनंतर भाषा पर अधिकार न रहने, भावों के अभाव, तथा भाषा की आत्मा और शक्ति की उपेक्षा करने के कारण अरुचिकर रूप से विदेशी शब्दों का उपयोग होने लगा और भाषा का नैसर्गिक रूप भी परिवर्तन के आवर्त्त में फँस गया। फारसी के मुहाविरे भी ब्रजभाषा में अजीब स्वाँग दिखाने लगे। इसका फल यह हुआ कि ब्रजभाषा में भी एक विशुद्धतावादी आंदोलन का आरंभ हो गया। हिंदी भाषा के मध्यकालीन विकास के दूसरे अंश की विशे-

पता ब्रजभाषा की विशुद्धता है। भाषा की इस प्रगति के प्रमुख प्रतिनिधि घनानंद हैं। ब्रजभाषा का यह युग अब तक चला आ रहा है, यद्यपि यह अब क्षीणप्राय दशा में है। वर्तमान युग में इस विशुद्धता के प्रतिनिधि पंडित श्रीधर पाठक, बाबू जगन्नाथदास रत्नाकर और पंडित रामचंद्र शुक्ल आदि बताए जा सकते हैं।

किसी समय भी बोलचाल की ब्रजभाषा का क्या रूप था, इसका पता लगाना कठिन है। गद्य के जो थोड़े बहुत नमूने चौरासी वैष्णवों और दो सौ बावन वैष्णवों की वार्ता तथा वैद्यक और साहित्य के ग्रंथों की टीका में मिलते हैं वे संस्कृत-गर्भित हैं। उनसे इस कार्य में कोई विशेष सहायता नहीं मिल सकती।

ब्रज और अवधी के ही समान प्राचीन होने पर भी खड़ी बोली साहित्य के लिये इतना शीघ्र नहीं स्वीकृत हुई, यद्यपि बहुत प्राचीन काल से ही वह समय समय पर उठ उठकर अपने अस्तित्व का परिचय देती रही है। मराठा भक्त प्रवर नामदेव का जन्म संवत् ११९२ में हुआ था। उनकी कविता में पहले पहल शुद्ध खड़ी बोली के दर्शन होते हैं—

"पांडे तुम्हारी गायत्री लोधे का खेत खाती थी।
लैकरि ढेंगा टँगरी तोरी लंगत लंगत जाती थी॥"

इसके अनंतर हमको खड़ी बोली के अस्तित्व का बराबर पता मिलता है। इसका उल्लेख हम यथास्थान करेंगे।

कुछ लोगों का यह कहना है कि हिंदी की खड़ी बोली का रूप प्राचीन नहीं है। उनका मत है कि सन् १८०० ई० के लगभग लल्लूजीलाल ने इसे पहले पहल अपने गद्य ग्रंथ प्रेमसागर में यह रूप दिया और तब से खड़ी बोली का प्रचार हुआ। ग्रियर्सन साहब 'लालचंद्रिका' की भूमिका में लिखते हैं—

"Such a language did not exist in India before.... When, therefore, Lallujilal wrote his Premsagara in *Hindi, he was inventing an altogether new language.*"

अर्थात्—"इस प्रकार की भाषा का इससे पहले भारत में कहीं पता न था...। अतएव जब लल्लूजीलाल ने प्रेमसागर लिखा, तब वे एक बिलकुल ही नई भाषा गढ़ रहे थे।"

इसी बात को लेकर उक्त महोदय अपनी Linguistic Survey (भाषाओं की जाँच) की रिपोर्ट के पहले भाग में लिखते हैं—

"This Hindi (*i.e.*, Sanskritized or at least non-Persianized form of Hindustani), therefore, or as

it is sometimes called 'High Hindi', is the prose literary language of those Hindus who did not employ Urdu. It is of modern origin, having been introduced under English influence at the commencement of the last century. ......Lallulal, under the inspiration of Dr. Gilchrist, changed all this by writing the well-known Prem-Sagar, a work which was, so far as the prose portion went, practically written in Urdu with Indo-Aryan words substituted wherever a writer in that form of speech would use Persian ones."

अर्थात्—"अतः यह हिंदी (संस्कृत-बहुल हिंदुस्तानी अथवा कम से कम वह हिंदुस्तानी जिसमें फारसी शब्दों का मिश्रण नहीं है) जिसे कभी कभी लोग "उच्च हिंदी" कहते हैं, उन हिंदुओं की गद्य साहित्य की भाषा है जो उर्दू का प्रयोग नहीं करते। इसका आरंभ हाल में हुआ है और इसका व्यवहार गत शताब्दी के आरंभ से अँगरेजी प्रभाव के कारण होने लगा है। .... लल्लूलाल ने डा० गिलक्रिस्ट की प्रेरणा से सुप्रसिद्ध प्रेम-सागर लिखकर ये सब परिवर्त्तन किए थे। जहाँ तक गद्य भाग का संबंध है, वहाँ तक यह ग्रंथ ऐसी उर्दू भाषा में लिखा गया था जिसमें उन स्थानों पर भारतीय आर्य्य शब्द रख दिए गए थे जिन स्थानों पर उर्दू लिखनेवाले लोग फारसी शब्दों का व्यवहार करते हैं।"

ग्रियर्सन साहब ऐसे भाषातत्त्ववित् की लेखनी से ऐसी बात न निकलनी चाहिए थी। यदि लल्लूजीलाल नई भाषा गढ़ रहे थे तो क्या आवश्यकता थी कि उनकी गढ़ी हुई भाषा उन साहबों को पढ़ाई जाती जो उस समय केवल इसी अभिप्राय से हिंदी पढ़ते थे कि इस देश की बोली सीखकर यहाँ के लोगों पर शासन करें? प्रेमसागर उस समय जिस भाषा में लिखा गया, वह लल्लूजीलाल की जन्मभूमि 'आगरा' की भाषा थी, जो अब भी बहुत कुछ उससे मिलती जुलती बोली जाती है। उनकी शैली में व्रजभाषा के मुहाविरों का जो पुट देख पड़ता है, वह उसकी स्वतंत्रता, प्रचलन और प्रौढ़ता का द्योतक है। यदि केवल अरबी, फारसी शब्दों के स्थान में संस्कृत शब्द रखकर भाषा गढ़ी गई होती तो यह बात असंभव थी। कल के राजा शिवप्रसाद की भाषा में उर्दू का जो रंग है, वह प्रेम-सागर की भाषा में नहीं पाया जाता। इसका कारण स्पष्ट है। राजा साहब ने उर्दू भाषा को हिंदी का कलेवर दिया

है और लल्लूजीलाल ने पुरानी ही खोल ओढ़ी है। एक लेखक का व्यक्तित्व उसकी भाषा में प्रतिबिंबित है तो दूसरे का उसके लोक व्यवहार-ज्ञान में। दूसरे, लल्लूजीलाल के समकालीन और उनके कुछ पहले के सदल मिश्र, मुंशी सदासुख और सैयद इंशाउल्लाखाँ की रचनाएँ भी तो खड़ी बोली में ही हैं। उसमें ऐसी प्रौढ़ता और ऐसे विन्यास का आभास मिलता है जो नई गढ़ी हुई भाषा में नहीं, किंतु प्रचुर-प्रयुक्त तथा शिष्ट-परिगृहीत भाषाओं में ही पाया जा सकता है। इसके अतिरिक्त तेरहवीं शताब्दी के मध्य भाग में वर्त्तमान अमीर खुसरो ने अपनी कविता में इसी भाषा का प्रयोग किया है। पहले गद्य की सृष्टि होती है, तब पद्य की। यदि यह भाषा उस समय न प्रचलित होती तो अमीर खुसरो ऐसा "घटमान*" कवि इसमें कभी कविता न करता। स्वयं उसकी कविता इसकी साक्षी देती है कि वह चलती रोजमर्रा में लिखी गई है, न कि सोच सोचकर गढ़ी हुई किसी नई बोली में।

कविता में खड़ी बोली का प्रयोग मुसलमानों ने ही नहीं किया है, हिंदू कवियों ने भी किया है। यह बात सच है कि खड़ी बोली का मुख्य स्थान मेरठ के आस-पास होने के कारण और भारतवर्ष में मुसलमानी राजशासन का केंद्र दिल्ली होने के कारण पहले पहल मुसलमानों और हिंदुओं की पारस्परिक बातचीत अथवा उनमें भावों और विचारों का विनिमय इसी भाषा के द्वारा आरंभ हुआ और उन्हीं की उत्तेजना से इस भाषा का व्यवहार बढ़ा। इसके अनंतर मुसलमान लोग देश के अन्य भागों में फैलते हुए इस भाषा को अपने साथ लेते गए और उन्होंने इसे समस्त भारतवर्ष में फैलाया। पर यह भाषा यहीं की थी और इसी में मेरठ प्रांत के निवासी अपने भाव प्रकट करते थे। मुसलमानों के इसे अपनाने के कारण यह एक प्रकार से उनकी भाषा मानी जाने लगी। अतएव मध्य काल में हिंदी भाषा तीन रूपों में देख पड़ती है—ब्रजभाषा, अवधी और खड़ी बोली। जैसे आरंभ काल की भाषा प्राकृत-प्रधान थी, वैसे ही इस काल की तथा इसके पीछे की भाषा संस्कृत-प्रधान हो गई। अर्थात् जैसे साहित्य की भाषा की शोभा बढ़ाने के लिये आदि काल में प्राकृत शब्दों का प्रयोग होता था, वैसे मध्य काल में संस्कृत शब्दों का प्रयोग होने लगा। इससे यह तात्पर्य नहीं निकलता कि शब्दों के प्राकृत रूपों का अभाव हो गया। प्राकृत के कुछ शब्द इस काल में भी बराबर प्रयुक्त होते रहे; जैसे भुआल, सायर, गय, बसह, नाह, लोयन आदि।

---

* दे० काव्यमीमांसा पृ० १६।

उत्तर या वर्त्तमान काल में साहित्य की भाषा में ब्रजभाषा और अवधी का प्रचार घटता गया और खड़ी बोली का प्रचार बढ़ता गया। इधर इसका प्रचार इतना बढ़ा है कि अब हिंदी का समस्त गद्य इसी भाषा में लिखा जाता है और पद्य की रचना भी बहुलता से इसी में हो रही है।

आधुनिक हिंदी गद्य या खड़ी बोली के आचार्य शुद्धता के पक्षपाती थे। वे खड़ी बोली के साथ उर्दू या फारसी का मेल देखना नहीं चाहते थे। इंशाउल्ला तक की यही सम्मति थी। उन्होंने 'हिंदी छुट किसी की पुट' अपनी भाषा में न आने दी; यद्यपि फारसी रचना की छूत से वे अपनी भाषा को न बचा सके। इसी प्रकार आगरा-निवासी लल्लूलाल की भाषा में ब्रज का पुट है और सदल मिश्र की भाषा में पूरबी की छाया वर्तमान है, परंतु सदासुखलाल की भाषा इन दोषों से मुक्त है। उनकी भाषा व्यवस्थित, साधु और बे-मेल होती थी। आजकल की खड़ी बोली से सीधा संबंध इन्हीं की भाषा का है, यद्यपि हिंदी गद्य के क्रमिक विकास में हम इंशाउल्ला खाँ, लल्लूलाल और सदल मिश्र की उपेक्षा नहीं कर सकते।

आगे चलकर जब मुसलमान खड़ी बोली का 'मुश्किल जबान' कहकर विरोध करने लगे और अँगरेजों को भी शासन संबंधी आवश्यकताओं के अनुसार तथा राजनीतिक चालों को सफलता के उद्देश्य से शुद्ध हिंदी के प्रति उपेक्षा भाव उत्पन्न हो गया तब राजा शिवप्रसाद, समय और स्थिति की प्रगति का अनुभव कर, उसे फारसी मिश्रित बनाने में लग गए और इस प्रकार उन्होंने हिंदी की रक्षा कर ली।

इसी समय भाषा में राष्ट्रीयता की एक लहर उठ पड़ी जिसके प्रवर्तक भारतेंदु हरिश्चंद्र थे। अभी कुछ ही दिन पहले मुसलमान भारतवर्ष के शासक थे। इस बात को वे अभी भूले नहीं थे। अतएव उनका इस राष्ट्रीयता के साथ मिलना असंभव सा था। इसलिये राष्ट्रीयता का अर्थ हिंदुत्व की वृद्धि था। लोग सभी बातों के लिये प्राचीन हिंदू संस्कृति की ओर झुकते थे। भाषा की समृद्धि के लिये भी बँगला के अनुकरण पर संस्कृत शब्द लिए जाने लगे, क्योंकि प्राचीन परंपरा का गौरव और संबंध सहज में उच्छिन्न नहीं किया जा सकता। उसको बनाए रखने में भविष्य की उन्नति का मार्ग प्रशस्त, परिमार्जित और सुदृढ़ हो सकता है। यही कारण है कि राजा शिवप्रसाद को अपने उद्योग में सफलता न प्राप्त हुई और भारतेंदु हरिश्चंद्र द्वारा प्रदर्शित

मार्ग पर चलकर हिंदी ऊँचा सिर किए हुए आगे बढ़ रही है। इस समय साहित्यिक हिंदी संस्कृत-गर्भित हो रही है।

परंतु अब राष्ट्रीय आंदोलन में मुसलमानों के आ मिलने से तथा हिंदुओं के उनका मन रखने की उद्विग्नता के कारण एक नई स्थिति उत्पन्न हो गई है। वही राष्ट्रीयता, जिसके कारण पहले शुद्ध हिंदी का आंदोलन चला था, अब मिश्रण की पक्षपातिनी हो रही है और अपनी गौरवान्वित परंपरा को नष्ट कर राजनीतिक स्वर्गलाभ की आशा तथा आकांक्षा करती है। अब प्रयत्न यह हो रहा है कि हिंदी और उर्दू में लिपिभेद के अतिरिक्त और कोई भेद न रह जाय और ऐसी मिश्रित भाषा का नाम हिंदुस्तानी रखा जाय। हिंदी यदि हिंदुस्तानी बनकर देश में एकच्छत्र राज्य कर सके तो नाम और वेश-भूषा का यह परिवर्तन महँगा न होगा, पर आशंका इस बात की है कि अध्रुव के पीछे पड़कर हम ध्रुव को भी नष्ट न कर दें।

इस एकता के साथ साथ साहित्य और बोलचाल तथा गद्य और पद्य की भाषा को एक करने का उद्योग वर्तमान युग की विशेषता है।

ऊपर जो कुछ लिखा गया है, उसका विशेष संबंध साहित्य की भाषा से है। बोलचाल में तो अब तक अवधी, ब्रजभाषा और खड़ी बोली अनेक स्थानिक भेदों और उपभेदों के साथ प्रचलित हैं; पर साधारण बोलचाल की भाषा खड़ी बोली ही है।

चौथा अध्याय

हिंदी पर अन्य भाषाओं का प्रभाव

धातु-भेद

पीछे हम इस बात का उल्लेख कर चुके हैं कि किस प्रकार वैदिक प्राकृत से भिन्न भिन्न प्राकृतों का विकास हुआ और इनके साहित्यिक रूप धारण करने पर अपभ्रंशों का कैसे उदय हुआ; तथा जब ये अपभ्रंश भाषाएँ भी साहित्यिक रूप धारण करने लगीं, तब आधुनिक देश-भाषाओं की कैसे उत्पत्ति हुई। हिंदी के संबंध में विचार करने के समय यह स्मरण रखना चाहिए कि इसका उदय क्रमशः शौरसेनी और अर्धमागधी प्राकृतों तथा शौरसेनी और अर्धमागधी अपभ्रंशों से हुआ है। अतएव जब हम हिंदी के शब्दों की उत्पत्ति तथा उसके व्याकरण के किसी अंग पर विचार करते हैं, तब हमें यह जान लेना आवश्यक होता है कि प्राकृतों या अपभ्रंशों में उन शब्दों के क्या रूप या व्याकरण के उस अंग की क्या व्यवस्था होती है। हमारे यहाँ अत्यंत प्राचीन काल में शब्दों की उत्पत्ति के विषय में बहुत कुछ विवेचन हुआ है। यास्क ने अपने निरुक्त में इस बात पर बहुत विस्तार के साथ विचार किया है कि शब्दों की उत्पत्ति धातुओं से हुई है। यास्क का कहना था कि सब शब्द धातु-मूलक हैं; और धातु वे क्रियावाचक शब्द हैं जिनमें प्रत्यय आदि लगाकर धातुज शब्द बनाए जाते हैं। इस सिद्धांत के विरुद्ध यह कहा गया कि सब शब्द धातु मूलक नहीं हैं; क्योंकि यदि सब शब्दों की उत्पत्ति धातुओं से मान ली जाय, तो "अश्" धातु से, जिसका अर्थ 'चलना' है, अश्व शब्द बनकर सब चलनेवाले जीवों के लिये प्रयुक्त होना चाहिए; पर ऐसा नहीं होता। इसका उत्तर यास्क ने यह दिया है कि जब एक क्रिया के कारण एक पदार्थ का नाम पड़ जाता है, तब वही क्रिया करनेवाले दूसरे पदार्थों का वही नाम नहीं पड़ता। फिर किसी पदार्थ का कोई मुख्य गुण लेकर ही उस पदार्थ का नाम रखा जाता है, उसके सब गुणों का विचार नहीं किया जाता। इसी मत का अनुसरण पाणिनि ने भी किया है और इस समय सब भाषाओं के संबंध में यही मत माना भी जाता है। संस्कृत में १७०८ धातु हैं जिनके तीन मुख्य विभाग हैं—

(क) प्रथम प्रकार के धातु (१) या तो एक स्वर के बने होते हैं, जैसे 'इ'; (२) या एक स्वर और एक व्यंजन से, जैसे "अद्"; (३) अथवा एक व्यंजन और एक स्वर से, जैसे "दा"। किसी भाषा के इतिहास में इस प्रकार के धातु, जिन्हें हम मूल धातु कह सकते हैं, सबसे प्रधान होते हैं; पर विकासोन्मुख विचारों और भावों को व्यंजित करने में इनकी शक्ति साधारणतः बहुत अस्पष्ट होती है। इसलिये क्रमशः इनका स्थान दूसरे प्रकार के धातु और दूसरे प्रकार के धातुओं का स्थान तीसरे प्रकार के धातु ग्रहण कर लेते हैं।

(ख) दूसरे प्रकार के धातु एक व्यंजन, एक स्वर और एक व्यंजन से बने होते हैं; जैसे 'तुद्'। आर्य भाषाओं में इस श्रेणी के धातुओं का अंतिम व्यंजन प्रायः बदलकर अनेक अन्य धातुओं की सृष्टि करता है, जैसे, तुप्, तुभ्, तुज्, तुद्, तुर्, तुह्, तुस्। इन सब धातुओं के अर्थ में मूल भाव एक ही है, पर विचारों और भावों के सूक्ष्म भेद प्रदर्शित करने के लिये इन धातुओं के अंतिम व्यंजन का परिवर्तन करके शब्दों की शक्ति की व्यापकता का उपाय किया गया है।

(ग) तीसरी श्रेणी के धातुओं के चार उपभेद होते हैं, जो इस प्रकार बनते हैं—

(१) व्यंजन, व्यंजन और स्वर; जैसे "प्लु"।
(२) स्वर, व्यंजन और व्यंजन; जैसे "अर्द्"।
(३) व्यंजन, व्यंजन, स्वर और व्यंजन; जैसे "स्पश्"।
(४) व्यंजन, व्यंजन, स्वर, व्यंजन और व्यंजन; जैसे "स्पन्द्"।

इस श्रेणी के धातुओं में यह विशेषता होती है कि दो व्यंजनों में से एक अंतस्थ, अनुनासिक या ऊष्म होता है और उसमें विपर्यय होकर अनेक धातु बन जाते हैं, जो भावों या विचारों के सूक्ष्म भेद व्यंजित करने में सहायक होते हैं।

इस प्रकार धातुओं से संस्कृत के शब्द-भांडार की श्रीवृद्धि हुई है। प्रोफेसर मैक्समूलर का अनुमान है कि यदि विचार और परिश्रम किया जाय, तो संस्कृत का समस्त शब्द-भांडार १७०८ से घटकर प्रायः ५०० धातुओं पर अवलंबित हो जाय।

इन्हीं धातुओं से संस्कृत का समस्त शब्द-भांडार बनता है। संस्कृत शब्दों में से अनेक शब्द हमारी हिंदी में मिल गए हैं। ऐसे शब्दों को, जो सीधे संस्कृत से हमारी भाषा में आए हैं, तत्सम शब्द कहते हैं। हमारी आजकल की भाषा में ऐसे शब्दों का समावेश दिनों दिन बढ़ता जाता है। भाषा की उन्नति

शब्द-भेद

के लिये यह एक प्रकार से आवश्यक और अनिवार्य भी है। ये तत्सम शब्द अधिकतर संस्कृत के प्रातिपदिक रूप में लिए जाते हैं; जैसे, देव, फल; और कुछ संस्कृत की प्रथमा के एकवचन के रूप में हिंदी में सम्मिलित होकर प्रयुक्त होते हैं और उसके व्याकरण के अनुशासन में आते हैं; जैसे—राजा, पिता, दाता, नदी आदि।

इनके अतिरिक्त हिंदी में ऐसे शब्दों की बड़ी भारी संख्या है जो सीधे प्राकृत से आए हैं अथवा जो प्राकृत से होते हुए संस्कृत से निकले हैं। इनको तद्भव कहते हैं। जैसे—साँप, काज, बच्चा आदि। इस प्रकार के शब्दों में यह विचार करना आवश्यक नहीं है कि वे संस्कृत से प्राकृत में आए हुए तद्भव शब्द हैं अथवा प्राकृतों के ही तत्सम शब्द। हमारे लिये तो इतना ही जान लेना आवश्यक है कि ये शब्द प्राकृत से हिंदी में आए हैं।

तीसरे प्रकार के शब्द वे हैं जिन्हें अर्ध-तत्सम कहते हैं। इनके अंतर्गत वे सब संस्कृत शब्द आते हैं जिनका प्राकृत-भाषियों द्वारा युक्त विकर्ष (संयुक्त वर्णों का विश्लेषण) या प्रतिभासमान वर्ण-विकार होते होते भिन्न रूप हो गया है। जैसे, अगिन, बच्छ, अच्छर, किरपा आदि।

इन तीनों प्रकार के शब्दों की भिन्नता समझने के लिये एक दो उदाहरण दे देना आवश्यक है। संस्कृत का "आज्ञा" शब्द हिंदी में ज्यों का त्यों आया है, अतएव यह तत्सम हुआ। इसका अर्धतत्सम रूप आग्याँ हुआ। प्राकृत में इसका रूप "आणा" होता है जिससे हिंदी का 'आन' शब्द निकला है। इसी प्रकार "राजा" शब्द तत्सम है और 'राय' या 'राव' उसका तद्भव रूप है। ये तीनों प्रकार के—अर्थात् तत्सम, अर्ध-तत्सम और तद्भव—शब्द हिंदी में मिलते हैं; परंतु सब शब्दों के तीनों रूप नहीं मिलते। क्रियापद और सर्वनाम प्रायः तद्भव हैं, परंतु संज्ञा शब्द तत्सम, अर्ध-तत्सम और तद्भव तीनों प्रकार के मिलते हैं। इन तीनों प्रकार के शब्दों के कुछ और उदाहरण नीचे दिए जाते हैं—

तत्सम	अर्ध-तत्सम	तद्भव
वत्स	बच्छ	बच्चा
स्वामी		साईं
कर्ण		कान
कार्य	कारज	काज
पक्ष		पंख, पाख
वायु		बयार

तत्सम	अर्ध-तत्सम	तद्भव
अक्षर	अच्छर	अक्खर, आखर
रात्रि	रात	
सर्व		सब
दैव	दई	

कुछ शब्द ऐसे भी मिलते हैं जिनकी व्युत्पत्ति का कोई पता ही नहीं चलता। संभव है कि भाषा-विज्ञान की अधिक चर्चा होने तथा शब्दों की व्युत्पत्ति की अधिक खोज होने पर इनके मूल आधार का भी पता चल जाय। ऐसे शब्दों को 'देशज' कहते हैं। जैसे, तेंदुआ, खिड़की, (खडक्किका—कादम्बरी टीका ?) घूआ, ठेस इत्यादि। पर इस समय तक तो इन शब्दों का देशज माना जाना अल्पज्ञता का ही सूचक है।

हिंदी भाषा में एक और प्रकार के शब्द पाए जाते हैं जो किसी पदार्थ की वास्तविक या कल्पित ध्वनि पर बने हैं और जिन्हें 'अनुकरण' शब्द कहते हैं, जैसे—खटखटाना, चटचटाना, फड़फड़ाना, धमकाना इत्यादि। संसार की सब भाषाओं में ऐसे शब्द पाए जाते हैं। इसी अनुकरण सिद्धांत पर मनुष्यों की भाषा का विकास हुआ है। इनके अतिरिक्त हिंदी में बहुत से ऐसे शब्दों का प्रयोग होता है जिन्हें कहने को तो तत्सम कहते हैं, पर वे तत्सम नहीं हैं। इनमें से कुछ शब्द तो बहुत दिनों से चले आते हैं; जैसे—श्राप, प्रण, छत्राणी, सिंचन, अभिलाषा, सृजन, मनोकामना आदि; और अधिक आजकल अल्प-संस्कृतज्ञों के गढ़े हुए चल रहे हैं; जैसे—राष्ट्रीय, जागृत, पौर्वात्य, उन्नायक आदि आदि। इन्हें चाहे तो तत्समाभास कह सकते हैं।

कुछ ऐसे शब्द भी हैं जिन्हें न तत्सम कह सकते हैं, न तद्भव और न देशज। जैसे, (संस्कृत 'मातृष्वसा' से प्रसिद्ध स्त्रीत्व-व्यंजक 'ई' प्रत्यय लगाकर जो 'मौसी' शब्द बना है वह तो तद्भव है, पर उससे बना पुंलिंग 'मौसा' शब्द न तत्सम है, न तद्भव और न देशज। ऐसे शब्दों को अर्धतद्भव या तद्भवाभास कहें तो कह सकते हैं। किंतु अब तक विद्वानों ने इन्हें कोई नाम नहीं दिया है। कुछ शब्द ऐसे भी हैं जो या तो दो भाषाओं के शब्दों के समास से, जैसे—'कौंसिल निर्वाचन', 'सबूट पादप्रहार', 'अमन सभा', 'जगन्नाथ वख्श', 'रामचीज' आदि आदि; या विजातीय प्रकृति अथवा प्रत्यय के योग से; जैसे—उजड्डुता, रसदार, अकाट्य, गुरुडम, लाटत्व आदि बनते हैं। दो भाषाओं से बने होने के कारण यदि इन्हें 'द्विज' कह दिया जाय तो, आशा है, किसी को बुरा न लगेगा।

कभी कभी किसी शब्द का प्रकार, सादृश्य या संबंध बोधन करने के लिये आंशिक आवृत्ति कर दी जाती है, जैसे, लोटा ओटा अर्थात् लोटा और तत्सदृश अन्य वस्तुएँ। इसी प्रकार की प्रकारार्थक द्विरुक्ति आधुनिक आर्यभाषा एवं द्रविड़ भाषाओं में ही देखी जाती है। जैसे—हिंदी—घोड़ा-ओड़ा; बँगला—घोड़ा-टोड़ा; मैथिली—घोड़ा-तोड़ा; गुजराती—घोड़ो-वोड़ो; मराठी—घोड़ा-बोड़ा; सिंहली—अश्वया-बश्वया; तामिल—कुदिरइ-किदिरइ; कनड़ी—कुदिरे-गिदिरे; तेलुगु—गुर्रमु-गिर्रमु। इसी प्रकार, हिंदी—जल-वल या जल ओल अर्थात् जल-जलपान; बँगला—जोल् टोल्; मराठी—जल-बिल; तामिल—तरणीर किरणीर; कनड़ी—नीरु-गीरु आदि। हिंदी में इस प्रकार के प्रतिध्वनि शब्दों की सृष्टि पर बहुत कुछ द्रविड़ भाषाओं का प्रभाव समझना चाहिए।

तत्सम और तद्भव शब्दों के रूप-विभेद के कारण प्रायः उनके अर्थ में भी विभेद हो गया है। विशेषता यह देखने में आती है कि तत्सम शब्द कभी सामान्य अर्थ में प्रयुक्त होता है, पर उसी का तद्भव रूप विशेष अर्थ देता है; जैसे—गर्भिणी और गाभिन; स्थान और थान। कभी तत्सम शब्द से महत्त्व का भाव प्रकट किया जाता है और उसी के तद्भव रूप से लघुता का, जैसे—देखना और दर्शन। यह भी देखने में आता है कि कभी कभी एक ही द्व्यर्थक शब्द के तत्सम और तद्भव रूपों में भिन्न भिन्न अर्थ हो जाते हैं; जैसे—'वंश' शब्द के तत्सम रूप का अर्थ कुटुंब और तद्भव रूप बाँस का अर्थ तृण-विशेष ही लिया जाता है। एक ही शब्द नानार्थक कैसे हो जाता है अथवा एक ही प्रकार के भाव का द्योतन करने के लिये अनेक पर्यायों की कैसे सृष्टि होती है, या किसी एक पर्याय की अवयवार्थ-बोधकता अन्य पर्याय को, चाहे उसका अवयवार्थ कुछ और ही हो, कैसे प्राप्त हो जाती है, जैसे—भोगी साँप को भी कहते हैं और भोग करनेवाले विलासी को भी। साँप का पर्याय-वाचक भुजंग शब्द वेश्या का उपभोग करनेवाले विलासी के लिये प्रयुक्त होता है, यद्यपि भुजंग का अवयवार्थ है टेढ़ी चाल चलनेवाला। इन अनेक बातों की स्वतंत्र विवेचना होनी चाहिए। पर इस प्रसंग को हम यहाँ नहीं छेड़ना चाहते।

आधुनिक हिंदी में तद्भव शब्दों से क्रियापद बनते हैं; पर तत्सम शब्दों से क्रियापद नहीं बनते। उनमें 'करना' या 'होना' जोड़कर उनके क्रियापद रूप बनाए जाते हैं; जैसे 'देखना' और 'दर्शन करना' या 'दर्शन होना'। पुरानी कविता में तत्सम शब्दों से क्रियापद बनाए गए हैं और उनका प्रयोग भी बहुत कुछ हुआ है। आजकल कुछ क्रियापद

तत्सम शब्दों से बनकर प्रयोग में आने लगे हैं; जैसे, 'दर्शाना'। ज्यों ज्यों खड़ी बोली में कविता का प्रचार बढ़ेगा, त्यों त्यों उसमें ऐसे क्रिया-पदों की संख्या भी बढ़ेगी। भाषा की व्यंजक शक्ति बढ़ाने और उसके संक्षेप में भाव प्रकट करने में समर्थ होने के लिये ऐसे नामधातुओं की संख्या में वृद्धि होना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी है।

इस प्रकार हम हिंदी के शब्द-भांडार का विश्लेषण करके इस सिद्धांत पर पहुँचते हैं कि इसमें (१) संस्कृत या प्राकृत भाषाओं से आगत शब्दों, (२) देशज शब्दों तथा (३) अनुकरण शब्दों के अतिरिक्त (४) तत्समाभास, (५) अर्द्धतद्भव या तद्भवाभास, (६) द्विज और (७) प्रतिध्वनि शब्द भी पाए जाते हैं।

हमारी भाषा पर भारतवर्ष की अन्यान्य भाषाओं तथा विदेशियों की भाषाओं का भी कम प्रभाव नहीं पड़ा है। द्रविड़ भाषाओं के बहुत से शब्द संस्कृत और प्राकृतों में मिल गए हैं और उनमें से होते हुए हमारी भाषा में आ गए हैं।

विदेशी प्रभाव

टवर्गी अक्षरों के विषय में बहुतों का यह कहना है कि इनका आगमन संस्कृत और प्राकृत में तथा उनसे हमारी भाषा में द्रविड़ भाषाओं के प्रभाव के कारण हुआ है। डाक्टर ग्रियर्सन की सम्मति है कि द्रविड़ भाषाओं के केवल शब्द ही हमारी भाषा में नहीं मिल गए हैं, वरन् उनके व्याकरण का भी उस पर प्रभाव पड़ा है। वे कहते हैं कि हिंदी की कुछ विभक्तियाँ भी द्रविड़ भाषाओं की विभक्तियों के अनुरूप बनाई गई हैं; जैसे—कर्म और संप्रदान कारकों की विभक्तियाँ तो संस्कृत के "कृते" से निकलकर "कहुँ" होती हुई 'को' हो गई हैं। पर द्रविड़ भाषाओं में इन्हीं दोनों कारकों की विभक्ति 'कु' है। विभक्तियों के विषय में हम आगे चलकर विशेष रूप से विचार करेंगे। यहाँ इतना ही जान लेना आवश्यक है कि हिंदी विभक्ति 'को' की द्राविड़ विभक्ति 'कु' से बहुत कुछ समानता है; पर इससे यह सिद्धांत नहीं निकल सकता कि वह द्रविड़ भाषाओं से हिंदी में आई। डाक्टर ग्रियर्सन ने भी यह सिद्धांत नहीं माना है। उनके कहने का तात्पर्य इतना ही है कि द्रविड़ विभक्तियों की अनुरूपता हमारी विभक्तियों के जिस रूप में पाई गई, वही रूप अधिक ग्राह्य समझा गया। मिस्टर केलाग का कहना है कि टवर्ग के अक्षरों से आरंभ होनेवाले अधिकांश शब्द द्रविड़ भाषा के हैं और प्राकृतों से हिंदी में आए हैं। उन्होंने हिसाब लगाकर बताया है कि प्रेमसागर के टवर्ग के अक्षरों से आरंभ होनेवाले ८६ शब्दों में से २१ संस्कृत के तत्सम और ६८ प्राकृत के तद्भव हैं; और 'क' से आरंभ होनेवाले

१२८ शब्दों में से २१ तद्भव और १०७ तत्सम हैं। इससे वे यह सिद्धांत निकालते हैं कि भारतवर्ष के आदिम द्रविड़ निवासियों की भाषाओं का जो प्रभाव आधुनिक भाषाओं पर पड़ा है, वह प्राकृतों के द्वारा पड़ा है।

अब कई आधुनिक आर्य-भाषाओं के भी शब्द हिंदी में मिलने लगे हैं; जैसे—मराठी के लागू, चालू, बाजू आदि; गुजराती के लोहनी, कुनबी, हड़ताल आदि और बँगला के प्राणपण, चूड़ांत, भद्र लोग, गल्प, नितांत, सुविधा आदि। इसी प्रकार कुछ अनार्य-भाषाओं के शब्द भी मिले हैं, जैसे—तामिल पिल्लई से पिल्ला, शुलुट्टु से चुरुट, तिब्बती—चुंगी; चीनी—चाय; मलय—साबू इत्यादि।

हिंदी के शब्द-भांडार पर मुसलमानों और अँगरेजों की भाषाओं का भी कुछ कम प्रभाव नहीं पड़ा है। मुसलमानों की भाषाएँ फारसी, अरबी और तुर्की मानी जाती हैं। इन तीनों भाषाओं के शब्दों का प्रयोग मुसलमानों द्वारा अधिक होने के कारण तथा मुसलमानों का उत्तरी भारत पर बहुत अधिक प्रभाव पड़ने के कारण ये शब्द हमारी बोलचाल की भाषा में बहुत अधिकता से मिल गए हैं और इसी कारण साहित्य की भाषा में भी इनका प्रयोग चल पड़ा है। पर यहाँ इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि इनमें से अधिकांश शब्दों का ध्वन्यात्मक विकास होकर हमारी भाषा में आगम हुआ है। यह एक साधारण सिद्धांत है कि ग्राह्य भाषा का विजातीय उच्चारण ग्राहक भाषा के निकटतम सजातीय उच्चारण के अनुकूल हो जाता है। इसी सिद्धांत के अनुसार मुसलमानी शब्दों का भी हिंदी में रूपांतर हुआ है। ये परिवर्तन हम संक्षेप में नीचे देते हैं—

(१.) ط और ت हिंदी में त हो जाते हैं; जैसे طلب का तलब और تکرار का तकरार।

(२) ث ص और س हिंदी में स हो जाते हैं; जैसे ثابت का साबित, سائیس का साईस, صاحب का साहिब या साहब। ش का प्रायः श हो जाता है, यद्यपि बोलचाल की भाषा में वह भी प्रायः स ही रहता है।

(३) ذ ز ض और ظ सब हिंदी में ज हो जाते हैं; जैसे ذرہ का जरा, زمین का जमीन, ضامن का जामिन, ظاہر का जाहिर। कहीं कहीं अंतिम ذ द में भी परिवर्तित होता है; जैसे کاغذ का कागद।

(४) ح और ہ हिंदी में ह हो जाते हैं; जैसे حال का हाल, ہر का हर। शब्दों के अंत में आया हुआ ہ जो प्रायः विसर्ग के समान उच्चरित होता है, हिंदी में आ में परिवर्तित हो जाता है; जैसे شبہ का शुभा, پردہ का पर्दा या परदा, مردہ का मुर्दा या मुरदा, پیادہ का प्यादा।

(५) ق خ और غ हिंदी में क्रमशः क, ख और ग हो जाते हैं; जैसे قول का कौल, حق का हक, خاک का खाक, غم का गम, غلام का गुलाम, غریب का गरीब।

(६) ف हिंदी में फ हो जाता है; जैसे فائدہ का फायदा, فکر का फिकर, شریف का शरीफ। इस अक्षर के विदेशी उच्चारण का प्रभाव कुछ अधिक व्यापक जान पड़ता है। यद्यपि यह प्रायः फ ही जाता है, पर बोलचाल में इसने अपना प्रभाव कुछ कुछ बना रखा है; और कहीं कहीं तो शुद्ध संस्कृत शब्दों के फ का भी लोग धोखे से ف के समान उच्चारण कर बैठते हैं; जैसे 'फूल' को 'फूल' न कहकर 'फ़ूल' और 'फिर' को 'फिर' न कहकर 'फ़िर' कहते हैं। प्रायः गुजरातियों के उच्चारण में यह दोष अधिक पाया जाता है।

(७) ع और ہ का कभी कभी लोप हो जाता है। जब ع शब्द के बीच में आता है, तब उसका लोप होकर उसके पूर्व का अर्धोच्चरित अ दीर्घ हो जाता है; जैसे معلوم का मालूम, موافق का माफिक।

ये सब उदाहरण भाषा के ध्वनि-विकास के भिन्न भिन्न भेदों के अंतर्गत आते हैं। मुसलमानी भाषाओं से आए हुए शब्दों में आगम, विपर्यय और लोप संबंधी भेद भी प्रत्यक्ष देख पड़ते हैं; जैसे मर्द से मरद, फिक्र से फिकर, अमानत से अनामत।

इन भाषाओं से आए हुए कुछ शब्दों का यदि यहाँ निर्देश कर दिया जाय तो अनुचित न होगा। सुभीते के लिये इनके विभाग कर दिए जायँ तो और अच्छा हो।

राजकाज, लड़ाई, आखेट आदि के—

अमीर, उमरा, खानदान, खिताब, ख्याल, खास, तख्त, ताज, दरबार, दौलत, नकीब, नवाब, बादशाह, मिर्जा, मालिक, हुजूर, हजरत, कूच, कतार, काबू, खंजर, जखम, जंजीर, जमादार, तबक, तंबू, तोप, दुश्मन, नगद, नेजा, फौज, फौत, बहादुर, वजीर, मनसबदार, रसद, रिसाला, शिकार, शमशेर, सरदार, हलका, हिम्मत आदि आदि।

राजकर, शासन, और दंडविधान आदि के—

औलाद, मर्दुमशुमारी, आबाद, इस्तमरारी, बासिल, कब्जा, कसबा, खजाना, खारिज, गुमाश्ता, चाकर, जमा, जमीन, जायदाद, तहवील, ताल्लुक, दारोगा, दफ्तर, नाजिर, प्यादा, फिहरिस्त, बाब, बीमा, महकमा, माफ, मोहर, रैयत, शहर, सनद, सरकार, सजा, हद, हिसाब, हिस्सा, आइना, अदालत, इजहार, इलाका, उज्र, कसूर, काजी, कानून, खिलाफ, सिरिश्ता, सुलहनामा, जौजे, जवान, जब्त, जारी,

जिरह, तकरार, तामील, दरखास्त, दलील, दस्तखत, नाबालिग, नालिश, पेशा, फरियादी, करार, वखरा, बाजाब्ता, मुकद्दमा, मुंसिफ, रद, राय, रुजू, शिनाख्त, सफाई, सालिस, हक, हाकिम, हाजत, हुलिया, हिफाजत आदि।

धर्म संबंधी आदि—

वज़ू, औलिया, अल्ला, इंजील, इबादत, ईमान, इसलाम, ईद, कबर, कफन, कलंदर, काफिर, काबा, गाज़ी, जल्लाद, जुम्मा, तोबा, ताजिया, दरगाह, दरवेश, दीन, दुआ, नबी, नमाज, निकाह, नूर, फरिश्ता, रोजा, बिस्मिल्ला, बुजुर्ग, मसजिद, मुहर्रम, मुरीद, मोमिन, मुल्ला, शरीयत्, शहीद, शिरनी, शिया, हदीस, हलाल आदि।

विद्या, कला, साहित्य संबंधी—

अदब, आलिम, इज्जत, इम्तिहान, इल्म, खत, गजल, तरजुमा, दरद, कसीदा, मजलिस, मुंशी, रेखता, शरम, सितार, हरूफ आदि।

विलासिता, व्यवसाय, शिल्प आदि संबंधी—

अस्तुरा, आइना, अखनी, अंगूर, अचकन, अतर, आतिशबाजी, आबनूस, अर्क, इमारत, कागज, कलफ, कुलुफ, कीमख्वाब, किशमिश, वर्फी, कोर्मा, कसाई, खरबूजा, खाल, खानसामाँ, खस्ता, गज, गिर्दा, गुलाब, गोश्त, चरखा, चश्मा, चपकन, चाबुक, चिक, जरी, जर्दा, जवाहिरात, जामा, जुलाब, ताफता, तकमा, तराजू, तसवीर, तकिया, दालान, दस्ताना, दवा, दूर्बीन, दवात, नारंगी, परदा, पाजामा, पुलाव, फर्राश, फानूस, फुहारा, बरफ, बागीचा, बादाम, बुलबुल, मखमल, लबादा, मलहम, मसाला, मलाई, मिश्री, मीना, मेज, रफ़ू, रूमाल, रिकाब, रेशम, लगाम, शहनाई, शाल, शीशी, संदूक, सुर्खा, सुराही, हौदा, हलुवा, हुक्का, हौज आदि।

भिन्न भिन्न देशवासियों के नाम—

अरब, अरमनी, यहूदी, उजबक, तिब्बती, विलायती, हबशी इत्यादि।

साधारण वस्तुओं और भावों के लिये—

अंदर, आवाज, अक्सर, आबहवा, आसमान, असल, इल्लत, कदम, कम, कायदा, कारखाना, कमर, खबर, खुराक, गरज, गरम, गुजरान, चंदा, जलदी, जानवर, जहाज, जिद, तलाश, ताजा, दखल, दम, दरकार, दगा, दाना, दुकान, नगद, नमूना, नरम, निहायत, नशा, पसंद, परी, फुरसत, बदजात, बंदोबस्त, बादहवाई, बेवकूफ, मजबूत, मियाँ, मुर्गा, मुलुक, यार, रकम, रोशनाई, वजन, सादा, साफ, हफ्ता, हजार, हजम, होशियार, हजूम आदि।

थोड़े से तुर्की शब्दों का पृथक् दिग्दर्शन कराना भी उपयोगी होगा—

आगा, उजबक (ओज़बेक), उर्दू (ओर्दू = खेमा), कलँगा (कलग़:), कंची (कँची), काबू (क़ापू = चाल, अवसर, अधीनता, अधिकार, पकड़), क़ुली (क़ुली = गुलाम), कोतका = ठेंगा (कुतका = डंडा), कोर्मा (क़ुर्मा), खातुन = महिला (ख़ातून), खान, खाँ (ख़ान, ख़ाक़ान), गलीचा (क़लीचा), चक़मक़ (चक़मक़), चाक़ू (चाक़ू), चिक (फा० चिग, तु० चिक़), तकमा (तमग़ा), तुपक, तोप, तगाड़ = सुर्खी चूने का गड्ढा (तगार), तुरुक (तुर्क), दरोगा (दारोगा), बख्सी (फा० बख़शी, तु० बक्सी), बावर्ची (बावर्ची), बहादुर, बीबी, बेगम (बेगुम), बकचा = बंडल (बक़चा), मुचलका, लाश, सौगात, सुराक = पता (सुराग़), और 'ची' प्रत्यय जैसे मशालची, ख़ज़ानची इत्यादि। इनके अतिरिक्त पठान (पश्तान) रोहिल्ला (पश्तो 'रोह' = पहाड़) आदि कुछ शब्द पश्तो भाषा के भी मिलते हैं।

युरोपियन भाषाओं के शब्द भी, जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, हमारी भाषा में मिल गए हैं; और वर्तमान समय में तो बहुत अधिकता से मिलते जाते हैं। इन शब्दों में से थोड़े से शब्द तो पुर्तगाली भाषा के हैं, जैसे Camera से कमरा, Martello से मारतौल, Lelloo से नीलाम; कुछ फ्रेंच भाषा के, जैसे Cartouche से कारतूस, Franchis से फरासीसी, Anglais से अँगरेज; कुछ डच भाषा के, जैसे Troef से तुरुप (ताश का खेल), Boom से बम (गाड़ी का); पर अँगरेजी भाषा के शब्दों की संख्या हमारी भाषा में बहुत अधिक हो गई है और नित्य बढ़ती जा रही है। इनमें से कुछ शब्द तो तत्सम रूप में आए हैं, पर अधिकांश शब्द तद्भव रूप में आए हैं। तत्सम रूप में आए हुए शब्दों के कुछ उदाहरण ये हैं— इंच, फुट, अमोनिया, बेंच, बिल, बोर्ड, वोट, वार्डर, बजेट, बटन इत्यादि। तद्भव शब्दों के संबंध में आगम, विपर्यय, लोप और विकार के नियमों का स्पष्ट प्रभाव देख पड़ता है; जैसे (१) Sample से सैंपुल, Recruit से रंगरूट, Dozen से दर्जन; (२) General से जनरल, Desk से डेकस; (३) Report से रपट, Pantaloon से पतलून, Magistrate से मजिस्टर, Lantern से लालटेन, Hundredweight से हंडर या हंडरवेट, Town-duty से टून डूटी, Time से टेम, Ticket से टिकट, Quinine से कुनैन, Kettle से केतली। इन उदाहरणों को देखने से यह स्पष्ट होता है कि शब्दों के ध्वन्यात्मक विकास

में आगम, विपर्यय, लोप और विकार के नियमों में से कोई एक नियम किसी एक शब्द के रूप के परिवर्तित होने में नहीं लगता, वरन् दो या अधिक नियम एक साथ लगते हैं। यदि हम प्रत्येक शब्द के संबंध में सूक्ष्म विश्लेषण न करके एक व्यापक नियम के आधार पर विचार करें, तो सब काम चल जाता है। वह नियम यह है कि जब एक भाषा से दूसरी भाषा में कोई शब्द आता है, तब वह शब्द उस ग्राहक भाषा के अनुरूप उच्चारण के शब्द या निकटतम मित्राक्षर शब्द से, जो उस भाषा में पहले से वर्त्तमान रहता है, प्रभावान्वित होकर कुछ अक्षरों का लोप करके अथवा कुछ नए अक्षरों को जोड़कर उसके अनुकूल बना लिया जाता है।

ऊपर जो कुछ कहा गया है, उससे यह मुख्य सिद्धांत निकलता है कि हिंदी भाषा में प्राचीन आर्य भाषाओं के अथवा विदेशी भाषाओं के जो शब्द आए हैं, वे या तो तत्सम रूप में आए हैं अथवा तद्भव रूप में। अधिकांश शब्द तद्भव रूप में ही आए हैं, तत्सम शब्दों की संख्या बहुत कम है। पर साथ ही यह प्रवृत्ति भी देख पड़ती है कि जो लोग प्राचीन आर्य भाषाओं के अथवा विदेशी भाषाओं के ज्ञाता हैं, वे उन भाषाओं के शब्दों को तत्सम रूप में ही व्यवहृत करने का उद्योग करते हैं। यह प्रवृत्ति यहाँ तक बढ़ रही है कि ध्वन्यात्मक विकास के सिद्धांतों की भी परवा न करके लोग उन शब्दों को शुद्ध विदेशी या प्राचीन रूप में ही अपनी भाषा में रक्षित रखना चाहते हैं। इससे एक ओर तो नए उच्चारणों के लिये, जो हमारी भाषा में वर्तमान नहीं हैं, नए चिह्नों के बनाने की आवश्यकता उपस्थित हो गई है और दूसरी ओर हमारी भाषा की पाचन-शक्ति में व्याघात पहुँच रहा है। जिस प्रकार कोई जीवधारी पाचन-शक्ति के मंद पड़ जाने अथवा उसके क्रमशः नष्ट हो जाने के कारण अपनी शारीरिक क्रियाएँ संपन्न करने में असमर्थ हो जाता है, उसी प्रकार जब किसी भाषा की पाचन-शक्ति का नाश हो जाता है, अर्थात् जब उसमें दूसरी भाषाओं के शब्दों को लेकर तथा उन्हें अपने नैसर्गिक रूप में परिवर्तित करके अपना अंग बनाने की शक्ति नहीं रह जाती, तब वह क्रमशः क्षीण होकर या तो नष्टप्राय हो जाती है अथवा ऐसा विकृत रूप धारण करने लगती है कि उसके पूर्व-ऐतिहासिक रूप का पता लगना भी कठिन हो जाता है। संस्कृत, फारसी और अँगरेजी के विद्वानों को यह ध्यान रखना चाहिए कि अपने पांडित्य की कौंध के आगे वे कहीं अपनी मातृभाषा को विवर्ण और छिन्न-भिन्न न कर दें।

यहाँ हम इतना और कह देना चाहते हैं कि जहाँ नई जातियों के संसर्ग तथा नए भावों के उदित होने से हमारी भाषा में नए शब्दों का आगम रोकना असंभव है, वहाँ अपने पूर्व रूप को न पहचानने के कारण अपने प्राचीन शब्द-भांडार से सहायता न लेना भी अस्वाभाविक है। आवश्यकता केवल इस बात की है कि अपना नैसर्गिक रूप न भूला जाय और भाषा को दासत्व की बेड़ी न पहनाई जाय।

प्राचीन भारतीय भाषाओं का प्रभाव

हम पहले लिख चुके हैं कि हिंदी में प्राचीन आर्यभाषाओं के शब्द भी तत्सम, अर्ध-तत्सम या तद्भव रूप में आए हैं। जैसा कि हम पहले निर्देश कर चुके हैं, अनेक अवस्थाओं में एक ही शब्द के तत्सम और तद्भव दोनों रूप प्रयोग में आते हैं। पर ऐसे दोनों रूपों के अर्थों में कुछ सूक्ष्म विभेद हो गया है; जैसे, मेघ—मेह, स्थान—थान या थाना, दर्शन—देखना। इनमें से कहीं तो प्रायः ऐसा देखा जाता है कि तद्भव शब्द के अर्थ में कुछ विशिष्टता आ जाती है और कहीं तत्सम शब्द आदर अथवा महत्ता का सूचक हो जाता है। तत्सम संज्ञावाचक और विशेषणवाचक शब्द संस्कृत से अधिकतर प्रातिपदिक रूप में और कुछ संस्कृत के प्रथमा एकवचन के रूप में आकर हिंदी व्याकरण के शासनाधीन होते हैं। फल, घृत, पशु, सुंदर, कुरूप आदि शब्द प्रातिपदिक रूप में ही लिए हुए हैं। दाता, सरिता, राजा, धनवान्, तेजस्वी आदि प्रथमा एकवचन के रूप में आते हैं। इसका तात्पर्य यही है कि हिंदी के कारक चिह्न स्वतंत्र हो गए हैं और संस्कृत के कारक चिह्नों का प्रयोग हिंदी में लुप्त हो गया है।

विशेषणों के तारतम्य-सूचक प्रत्यय भी हिंदी में प्रायः लुप्त हो गए हैं, और उनके स्थान पर अप्रत्यय शब्दों से काम लिया जाता है। कहीं कहीं इन प्रत्ययों का जो प्रयोग भी होता है, वह सब तत्सम शब्दों के साथ। जैसे, श्रेष्ठतर, पुण्यतर, मंदतम।

हिंदी के संख्यावाचक विशेषणों तथा सर्वनामों में बहुत विकार हो गया है। अब वे सर्वथा तद्भव हो गए हैं। तत्सम नामधातुज क्रियाओं के रूप कविता में तो मिलते हैं, पर गद्य में नहीं मिलते। इधर किसी किसी का प्रयोग गद्य में होने लगा है; पर अधिकांश क्रियाएँ तद्भव ही हैं, और जहाँ कहीं तत्सम शब्दों का प्रयोग किया जाता है, वहाँ तत्सम संज्ञावाचक शब्द के साथ करना, होना, लेना आदि तद्भव क्रियाएँ लगा दी जाती हैं।

हिंदी में तद्भव शब्दों की संख्या बहुत अधिक है। ये संस्कृत से प्राकृत या अपभ्रंश द्वारा विकृत होकर हिंदी में आए हैं। इनके विकृत होने में आगम, लोप, विपर्यय तथा विकार के नियम लगते हैं। ये विकार शब्द के आदि, मध्य या अंत में होते हैं। सबसे अधिक परिवर्त्तन शब्दों के मध्य में होता है; इसके अनंतर आरंभ के परिवर्त्तनों की संख्या है; और अंत में तो बहुत कम परिवर्त्तन होते हैं। इस विषय पर एक स्वतंत्र पुस्तक ही लिखी जा सकती है; अतः हम यहाँ केवल यही बतला देना चाहते हैं कि प्रधानतः प्रयत्नलाघव, स्वरसाम्य और गुण-साम्य आदि के कारण अनेक प्रकार के परिवर्तन हुआ करते हैं।

पाँचवाँ अध्याय

साहित्यिक हिंदी की उपभाषाएँ

हमने ऊपर हिंदी के विकास के भिन्न भिन्न कालों में भिन्न भिन्न बोलियों के नाम दिए हैं। इनमें मुख्य राजस्थानी, अवधी, व्रजभाषा और खड़ी बोली* हैं। बुँदेलखंडी स्थूल दृष्टि से व्रज भाषा के अंतर्गत आती है। अब हम इन पर अलग अलग विचार करेंगे।

हिंदी की उपभाषाएँ या बोलियाँ

(१) राजस्थानी भाषा—यह भाषा राजस्थान में बोली जाती है। इसके पूर्व में व्रजभाषा और बुँदेली, दक्षिण में बुँदेली, मराठी, भीली, खानदेशी और गुजराती, पश्चिम में सिंधी और पश्चिमी पंजाबी तथा उत्तर में पश्चिमी पंजाबी और बाँगरू भाषाओं का प्रचार है। इनमें से मराठी, सिंधी और पश्चिमी पंजाबी बहिरंग शाखा की भाषाएँ हैं और शेष सब अंतरंग शाखा की भाषाएँ हैं।

जहाँ इस समय पंजाबी, गुजराती और राजस्थानी भाषाओं का, जो अंतरंग भाषाएँ हैं, प्रचार है, वहाँ पूर्व काल में बहिरंग भाषाओं का प्रचार था। क्रमशः अंतरंग समुदाय की भाषाएँ इन स्थानों में फैल गईं और बहिरंग समुदाय की भाषाओं को अपने स्थान से च्युत करके उन्होंने उन स्थानों में अपना अधिकार जमा लिया। आधुनिक राजस्थानी में बहिरंग भाषाओं के कुछ अवशिष्ट चिह्न मिलते हैं; जैसे आ, ए, ऐ और औ के उच्चारण साधारण न होकर उससे कुछ भिन्न होते हैं। इसी प्रकार छ का उच्चारण स से मिलता जुलता और शुद्ध स का ह के समान होता है। इसके अतिरिक्त राजस्थानी भाषाओं की संज्ञा का विकारी रूप बहिरंग भाषाओं के समान आकारांत होता है और संबंध कारक का चिह्न बँगला के समान र होता है।

बहिरंग भाषाओं को उनके स्थान से हटाकर अंतरंग भाषाओं के प्रचलित होने के प्रमाण कई ऐतिहासिक घटनाओं से भी मिलते हैं। महाभारत के समय में पंचाल देश का विस्तार चंबल नदी से हरद्वार

---

* साहित्यिक हिंदी और भाषा-शास्त्रीय हिंदी में जो अंतर है उसका उल्लेख पृष्ठ २८-२९ पर हो चुका है।

तक था; अतएव उसका दक्षिणी भाग राजपूताने का उत्तरी भाग था। पाश्चात्य पंडित तथा उनके अनुयायी अन्य विद्वान् यह मानते हैं कि पांचाल लोग उन आर्यों में से थे जो पहले भारतवर्ष में आए थे; इसलिये उनकी प्राचीन भाषा वहिरंग समुदाय की थी। जब अंतरंग समुदाय की भाषा बोलनेवाले आर्य, जो पीछे भारतवर्ष में आए, अधिक शक्ति-संपन्न होकर चारों ओर फैलने लगे, तब उन्होंने वहिरंग भाषाओं के स्थान में बसे हुए आर्यों को दक्षिण की ओर खदेड़ना आरंभ कर दिया। इसी प्रकार अंतरंगवासी आर्य वहिरंग आर्यों को चीरते हुए गुजरात की ओर चले गए और समुद्र के किनारे तक बस गए। महाभारत के समय में द्वारका का उपनिवेश स्थापित हुआ था और उसके पीछे कई बार आर्य लोग मध्य देश से जाकर वहाँ बसे थे। डाक्टर ग्रियर्सन का अनुमान है कि ये लोग राजपूताने के मार्ग से गए होंगे क्योंकि सीधे मार्ग से जाने में मरु देश पडता था जहाँ का मार्ग बहुत कठिन था। पीछे की शताब्दियों में आर्य लोग मध्य देश से जाकर राजपूताने में बसे थे। बारहवीं शताब्दी में राठौरों का कन्नौज छोड़कर मारवाड़ में बसना इतिहास-प्रसिद्ध बात है। जयपुर के कछवाहे अवध से और सोलंकी पूर्वी पंजाब से राजपूताने में गए थे। यादव लोग मथुरा से जाकर गुजरात में बसे थे। इन बातों से यह स्पष्ट अनुमान होता है कि मध्य देश से जाकर आर्य लोग गंगा के दोआवे से लेकर गुजरात में समुद्र के किनारे तक बस गए थे और वहाँ के बसे हुए पूर्ववर्ती आर्यों को उन्होंने खदेड़कर हटा दिया था। इससे यह भी स्पष्ट है कि आधुनिक राजस्थानी भाषा बोलनेवाले मध्य देश के परवर्ती आर्य थे; और ऐसी दशा में उनकी भाषा में वहिरंग भाषाओं का कुछ कुछ प्रभाव बाकी रह जाना स्वाभाविक ही है।

राजस्थानी भाषा की चार बोलियाँ हैं—मारवाड़ी, जयपुरी,१ मेवाती और मालवी। इनके अनेक भेद उपभेद हैं। मारवाड़ी का पुराना साहित्य डिंगल नाम से प्रसिद्ध है। जो लोग व्रजभाषा में कविता करते थे, उनकी भाषा पिंगल कहलाती थी; और उससे भेद करने के लिये मारवाड़ी भाषा का उसी की ध्वनि पर गढ़ा हुआ डिंगल नाम पड़ा। जयपुरी में भी साहित्य है। दादूदयाल और उनके शिष्यों की वाणी इसी भाषा में है। मेवाती और मालवी में किसी प्रकार के साहित्य का पता नहीं चला है। इन भिन्न भिन्न बोलियों की बनावट पर ध्यान देने से यह प्रकट होता है कि जयपुरी और मारवाड़ी गुजराती से, मेवाती व्रजभाषा से और मालवी बुंदेलखंडी से बहुत मिलती

जुलती है। संज्ञा शब्दों के एकवचन रूप प्रायः समान ही हैं, पर बहुवचनों में अंतर पड़ जाता है; जैसे, एकवचन घर, घोड़ा, घड़ी; पर बहुवचन में इनके रूप क्रमशः घराँ, घोड़ाँ, घड़याँ हो जाते हैं। जयपुरी और मारवाड़ी की विभक्तियाँ इस प्रकार हैं—

कारक	जयपुरी	मारवाड़ी
संबंध	को, का, की	रो, रा, री
सम्प्रदान	नै, कै	नै
अपादान	सूँ, सैं	सूँ, ऊँ

ब्रजभाषा में अपादान की विभक्ति सों, तें और बुँदेलखंडी की सों, सें होती है जो जयपुरी और मारवाड़ी दोनों से मिलती है। ब्रजभाषा और बुँदेलखंडी में तो संबंध कारक की विभक्ति परस्पर मिलती है, पर मारवाड़ी की भिन्न है।

व्यक्तिवाचक सर्वनामों की भी यही अवस्था है। ब्रजभाषा और बुँदेलखंडी में एकवचन का मूल रूप मो, मुज, मे या तो, तुज, ते है; पर राजस्थानी में मुँ, त, तू है, जो गुजराती से मिलता है। बहुवचन में हम, तुम की जगह म्हाँ, थाँ हो गया है। राजस्थानी में एकवचन के पहले व्यंजन को हकारमय करने की भी प्रवृत्ति है; जैसे म्हा। सारांश यह कि व्यक्तिवाचक सर्वनामों में कहीं गुजराती से और कहीं ब्रजभाषा या बुँदेलखंडी से साम्य है और कहीं उसके सर्वथा स्वतंत्र रूप हैं। निश्चयवाचक सर्वनामों की भी यही अवस्था है।

राजस्थानी भाषाओं की क्रियाओं में एक बड़ी विशेषता है। उनमें कर्मणि-प्रयोग बराबर मिलता है जो पश्चिमी हिंदी में बहुत ही कम होता है। इन भाषाओं की क्रियाओं में धातु रूप वे ही हैं जो दूसरी आधुनिक भारतीय भाषाओं में मिलते हैं; केवल उनके उच्चारण में कहीं कहीं भेद है। राजस्थानी क्रियाओं में विशेषता इतनी ही है कि वर्तमान काल में उत्तम पुरुष बहुवचन का प्रत्यय ऑं होता है, पर प्रथम पुरुष बहुवचन का प्रत्यय विशेषण के समान आ होता है। जैसे—

वचन	जयपुरी *	मारवाड़ी
वर्तमान काल—		
एकवचन		
उ० पु०	छूँ	हूँ
म० पु०	छइ	हइ
अ० पु०	छइ	हइ
बहुवचन		
उ० पु०	छाँ	हाँ
म० पु०	छो	हो
अ० पु०	छइ	हइ
भूत काल—		
एकवचन पुं०	छो	हो
बहुवचन पुं०	छा	हा

राजस्थानी में क्रियाओं के रूप प्रायः पश्चिमी हिंदी के समान होते हैं। भविष्यत् काल में राजस्थानी के रूप दो प्रकार के होते हैं—(१) एक तो प्राकृत के अनुरूप; जैसे, प्रा० चलिस्सामि, चलिहामि, चलस्यूँ, चलह्यूँ; और (२) दूसरा "गा" या "ला" प्रत्यय लगाकर; जैसे चलूँलो, चलाँला, चलूँला, चलूँगो, चलाँगा।

राजस्थानी भाषा वाक्य-विन्यास के संबंध में गुजराती का अनुकरण करती है। पश्चिमी हिंदी में बोलने का अर्थ देनेवाली क्रियाओं के संबंध में जिससे बोला जाय, उसका रूप अपादान कारक में होता है, जैसे—'राम गोविंद से कहता है'। पर गुजराती में इसका रूप संप्रदान कारक का सा होता है; जैसे "राम गोविंद ने कहे छे"। पश्चिमी

हिंदी में जब कोई सकर्मक क्रिया सामान्य भूतकाल में प्रयुक्त होती है, और कर्म सप्रत्यय रखा जाता है, तब उसका रूप पुल्लिंग का सा होता है, पर गुजराती में कर्म के अनुसार लिंग होता है; जैसे (प० हिं०) 'उसने स्त्री को मारा'; (गु०) 'तेणे स्त्री ने मारी'। राजस्थानी में दोनों प्रकार के प्रयोग होते हैं।

ऊपर जो कुछ कहा गया है, उसका सारांश यही है कि राजस्थानी भाषा पर गुजराती का बहुत प्रभाव पड़ा है। संज्ञाओं के कारक रूपों में यह गुजराती से बहुत मिलती है, पश्चिमी हिंदी से नहीं। राजस्थानी की विभक्तियाँ अलग ही हैं। जहाँ कहीं समानता है, वहाँ गुजराती से अधिक है, पश्चिमी हिंदी से कम।

(२) अवधी—इस भाषा का प्रचार अवध, आगरा प्रदेश, बघेलखंड, छोटा नागपुर और मध्य प्रदेश के कई भागों में है। इसकी प्रचार-सीमा के उत्तर में नेपाल की पहाड़ी भाषाएँ, पश्चिम में पश्चिमी हिंदी, पूर्व में बिहारी तथा उड़िया और दक्षिण में मराठी भाषा बोली जाती है।

अवधी के अंतर्गत तीन मुख्य बोलियाँ हैं—अवधी, बघेली और छत्तीसगढ़ी। अवधी और बघेली में कोई अंतर नहीं है। बघेलखंड में बोली जाने के ही कारण वहाँ अवधी का नाम बघेली पड़ गया है। छत्तीसगढ़ी पर मराठी और उड़िया का प्रभाव पड़ा है और इस कारण वह अवधी से कुछ बातों में भिन्न हो गई है। हिंदी-साहित्य में अवधी भाषा ने एक प्रधान स्थान ग्रहण किया है। इसके मुख्य दो कवि मलिक मुहम्मद जायसी और गोस्वामी तुलसीदासजी हैं। मलिक मुहम्मद ने अपने ग्रंथ पद्मावत का आरंभ संवत् १५९७ में और गोस्वामी तुलसीदासजी ने अपने रामचरितमानस का आरंभ संवत् १६३१ में किया था। दोनों में ३०-३५ वर्ष का अंतर है। पर पद्मावत की भाषा अपने शुद्ध रूप में, जैसी वह बोली जाती थी, वैसी ही है; और गोस्वामी तुलसीदासजी ने उसे साहित्यिक रूप देने का सफलता पूर्ण उद्योग किया है। अवधी के भी दो रूप मिलते हैं—एक पश्चिमी, दूसरा पूर्वी। पश्चिमी अवधी लखनऊ से कन्नौज तक बोली जाती है; अतएव व्रजभाषा की सीमा के निकट पहुँच जाने के कारण उसका इस पर बहुत प्रभाव पड़ा है और यह उससे अधिक मिलती है। पूर्वी अवधी गोंडे और अयोध्या के पास बोली जाती है। यहाँ की भाषा शुद्ध अवधी है। इस विभेद को स्पष्ट करने के लिये हम दोनों के तीन सर्वनामों के रूप यहाँ देते हैं।

वर्त्तमान हिंदी	पूर्वी अवधी		पश्चिमी अवधी	
	अविकारी	विकारी	अविकारी	विकारी
कौन	के	के	को	का
जो	जे	जे	जो	जा
वह	से, ते	ते	सो	ता

क्रियापदों में भी इसी प्रकार का भेद मिलता है। पश्चिमी अवधी में व्रजभाषा के समान साधारण क्रिया का नांत रूप रहता है; जैसे आवन, जान, करन। पर पूर्वी अवधी में उसके अंत में व प्रत्यय आता है; जैसे—आउब, जाब, करब। इन साधारण क्रियापदों में कारक चिह्न या दूसरी क्रिया लगने पर पश्चिमी अवधी का नांत रूप बना रहता है; जैसे—आवन काँ, करन माँ, आवन लाग; पर पूर्वी अवधी में साधारण क्रिया का वर्त्तमान तिङन्त (साध्यावस्थापन्न) रूप हो जाता है, जैसे—आवै काँ, जाय माँ, आवै लाग, सुनै चाहौ। करण के चिह्न के पहले पूर्वी और पश्चिमी दोनों प्रकार की अवधी में भूत कृदंत का रूप हो जाता है; जैसे—आए से, चले से, आए सन्, दिए सन्। पश्चिमी अवधी में भविष्यत् काल में प्रथम पुरुष एकवचन का रूप व्रजभाषा के समान 'है' होता है; जैसे—करिहै, सुनिहै, पर पूर्वी अवधी में 'हि' रहता है; जैसे होइहि, आइहि। क्रमशः इस 'हि' में के 'ह' के घिस जाने से केवल 'इ' रह गया, जो पूर्व इ से मिलकर 'ई' हो गया; जैसे आई, जाई, करी, खाई। अवधी साहित्य में दोनों रूप एक ही ग्रंथ में एक साथ प्रयुक्त मिलते हैं।

संज्ञा और सर्वनाम के कारक रूपों में भोजपुरी से अवधी बहुत मिलती है। इसके विकारी रूप का प्रत्यय ए होता है। अवधी की विभक्तियाँ भी वही हैं जो भोजपुरी की हैं; केवल कर्म कारक और संप्रदान कारक का चिह्न अवधी में 'काँ' और विहारी में 'के' तथा अधिकरण कारक का चिह्न अवधी में 'माँ' और विहारी में 'में' है। ये 'काँ' और 'माँ' विभक्तियाँ अवधी की विशेषता की सूचक हैं। सर्वनामों के कारक रूपों में भी विहारी से अवधी मिलती है। व्यक्तिवाचक सर्वनाम के संबंध कारक एकवचन का रूप पश्चिमी हिंदी में मेरो या मेरा है, पर

बिहारी में यह मोर हो जाता है। अवधी में भी बिहारी के समान 'मोर' ही रूप होता है। क्रियापदों में अवधी शौरसेनी की ओर अधिक झुकती है। उदाहरण के लिये अवधी का 'मारा' शब्द ले लीजिए। संस्कृत में यह मारितः था, शौरसेनी में 'मारिदो' हुआ जिससे ब्रजभाषा में मार्‍यो बना। इस उदाहरण में पहले त का द हुआ और तब उस द का लोप हो गया। पूर्वी समुदाय की भाषाओं में इस द के स्थान में ल हो जाता है; जैसे मारल। इससे प्रतीत होता है कि अवधी ने शौरसेनी से सहायता लेकर अपना रूप स्थिर किया है।

यहाँ हम संक्षेप में अवधी के व्याकरण की कुछ बातें देकर इस भाषा का विवरण समाप्त करते हैं।

संज्ञा—शब्दों के प्रायः तीन रूप होते हैं; जैसे घोड़, घोड़वा और घोड़ौना; नारी, नरिया और नरीवा। इसके कारकों के रूप इस प्रकार होते हैं–

कारक	अकारांत पुं०	आकारांत पुं०	ईकारांत स्त्री०
एकवचन			
कर्त्ता	घर	घोड़वा	नारी
विकारी	घरा, घरे	घोड़वा	नारी
बहुवचन			
कर्त्ता	घर	घोड़वे, घोड़वने	नारी
विकारी	घरन	घोड़वन	नारिन

संज्ञाओं के साथ जो विभक्तियाँ लगती हैं, वे इस प्रकार हैं—

कर्त्ता—ऐ (आकारांत शब्दों में सकर्मक क्रिया के साथ)।
कर्म—के, काँ, कहँ।
करण—सें, सन्, सौं।
संप्रदान—के, काँ, कहँ।
अपादान—से, तें, सेंती, हुँत।
संबंध—कर (क), केर, कै (स्त्री०)।
अधिकरण—में, माँ, महँ, पर।

विशेषण—विशेषणों का लिंग विशेष्य के अनुसार परिवर्तित हो जाता है। जैसे—आपन-आपनि, पेल-पेसि, ओकर-ओकरि। प्रायः बोलचाल में इसका ध्यान नहीं रखा जाता, पर साहित्य में इसका विशेष ध्यान रखा जाता है।

सर्वनाम—भिन्न भिन्न सर्वनामों के रूप इस प्रकार होते हैं—

सर्वनाम	एकवचन			बहुवचन		
	कर्त्ता	विकारी	संबंध	कर्त्ता	विकारी	संबंध
मैं	मैं	मे	मोर	हम	हम, हमरे	हमार, हमरे
तू	तैं	ताे	तोर	तुम, तूँ	तुम, तुम्हरे	तुम्हार, तुमरे तोहार, तोहरे
आप (स्व)	आप	आप	आपकर	आप	आप	आपकर
आप (पर)	आप	आपु	आपन	आप	आप	आपन
यह	ई	ए, एह, एहि	एकर, एहिकर	इन, ए	इन	इनकर, इनकेर
वह	ऊ, वै	ओ, ओह, ओहि	ओकर, ओहिकर	उन, ओन	ओन, उन	ओनकर, ओनकेर
जो	जो, जे, जैान	जे, जेहि	जेकर, जेहिकेर	जे	जिन	जिनकर, जिनकेर
सो	सो, से, तैान	ते, तेहि	तेकर, तेहिकेर	ते	तिन	तिनकर, तिनकेर
कैान	को, के, कैान	के, केहि	केकर, केकरे	को, के	किन	किनकर, किनकेर

क्रियाएँ—इनके रूप भिन्न कालों, वचनों, पुरुषों तथा लिंगों में इस प्रकार होते हैं—

(१) अकर्मक क्रियाएँ

वर्त्तमान काल　　"मैं हूँ"

पुरुष	एकवचन		बहुवचन	
	पुं०	स्त्री०	पुं०	स्त्री०
उ० पु०	हौं, बाट्यों, अहौं	हइउँ, बाटिउँ, अहिउँ	हई, बाटी, अही	हइन, बाटिन, अहिन
म० पु०	हए, बाटे, बाटिस, अहिस, अहे, अहसि	हइस, बाटिस, अहिस	हो, बाट्यौ, अही, अहेव, अहौ, अह, अहे	हइउ, बाटिउ, अहिव
अ० पु०	अहै, है, आय, बाटै, बा	बाटइ, अहै, है, बाटै, बा	बाटैं, अहैं, हैं, बाटैं	बाटी, अहैं, बाटिन

भूत काल　　"मैं था"

पुरुष	एकवचन		बहुवचन	
	पुं०	स्त्री०	पुं०	स्त्री०
उ० पु०	रह्यों	रहिउँ	रहे	रहे, रहिन, (रहेन)
म० पु०	रहे, रहसि	रहे, रहिसि	रह्यो	रहिउ
अ० पु०	रहो	रही	रहेन, रहिन, रहैं	रहा, रहिन

(२) सकर्मक-मुख्य क्रियाएँ

क्रियार्थक संज्ञा	देखब
वर्तमान कृदंत (कर्तरि)	देखत, देखित
भूत कृदंत (कर्मणि)	देखा
भविष्य कृदंत (कर्मणि)	देखब
संभाव्यार्थ कृदंत	देखत, देखित
वर्तमान संभाव्यार्थ	(यदि) मैं देखौं

पुरुष	एकवचन	बहुवचन
उ० पु०	देखौं	देखी
म० पु०	देखु, देखिस	देखौ
अ० पु०	देखै	देखैं

अज्ञात के एकवचन का रूप देखु, देखसि और बहुवचन का देखउ, देखौं, देखैं (आप) होता है।

भविष्य

पुरुष	एकवचन	बहुवचन
उ० पु०	देखबूँ, देखबौं, देखिहौं	देखब, देखिहैं
म० पु०	देखबे, देखिहै	देखबौ, देखिहौ
अ० पु०	देखि, देखे, देखिहै	देखिहैं

भूत

पुरुष	एकवचन		बहुवचन	
	पुं०	स्त्री०	पुं०	स्त्री०
उ० पु०	देख्यों	देखिउँ	देखा, देखिन	देखा, देखिन
म० पु०	देखे, देखिस देखेसि	देखिस, देखे देखिसि, देखी	देखेन देख्यो	देखेन देखेउ, देखी
अ० पु०	देखेस, देखिस देखिसि, देख	देखिस, देखी	देखेन, देखिन	देखी, देखिनि

भूत संकेतार्थ

पुरुष	एकवचन		बहुवचन	
	पुं०	स्त्री०	पुं०	स्त्री०
उ० पु०	देखत्यों	देखतिउँ	देखित	देखित
म० पु०	देखते, देखतिस	देखते, देखतिस	देखतेहु, देखत्यो	देखतिउ
अ० पु०	देखत	देखति	देखतेन, देखतिन	देखतिन

वर्तमान सामान्य—देखत अहेउँ ।
भूत अपूर्ण—देखत रह्यों ।

ताल के तराई-परगनों तक चला गया है। इसका केंद्रस्थान मथुरा है, और वहीं की भाषा शुद्ध ब्रजभाषा है। इस केंद्र स्थान से जिधर जिधर यह फैली है, उधर उधर की भाषाओं से संसर्ग होने के कारण इसके रूप में कुछ न कुछ विकार हो गया है। इस भाषा की मुख्य विशेषता यह है कि इसकी आकारांत पुल्लिंग संज्ञाएँ, विशेषण और भूत कृदंत तथा कहीं कहीं वर्त्तमान कृदंत भी ओकारांत होते हैं; जैसे—घोड़ो, चल्यो, कियो आदि। संस्कृत के घोटक शब्द का प्राकृत रूप घोडओ होता है, जिससे ब्रजभाषा का घोड़ो रूप बना है। इसी प्रकार संस्कृत के भूत और वर्त्तमान कृदंतों के अंतिम त का प्राकृत में अ+उ हो जाता है; जैसे—चलितः से चलिअउ; और ब्रजभाषा में यह चल्यो हो गया है। यद्यपि यह ब्रजभाषा का एक प्रधान लक्षण है, पर इसके भी अपवाद हैं। जिस प्रकार संस्कृत में स्वार्थे 'क' का प्रयोग होता है, उसी प्रकार ब्रज भाषा में रा आदि होता है, जैसे—हियरा, जियरा, बदरा, चवैया, कन्हैया। खड़ी बोली में यह डा और अवधी में वा, ना आदि होता है; जैसे, मुखड़ा, बछुड़ा, करेजवा, बिधना इत्यादि। ऐसे शब्द न तो ओकारांत होते हैं और न इनके विकारी रूपों में आ का ए होता है। ब्रजभाषा की दूसरी विशेषता यह है कि इसके कारक-चिह्न अवधी और खड़ी बोली से भिन्न हैं। यह भिन्नता नीचे की सारिणी से स्पष्ट हो जायगी।

कारक	ब्रजभाषा	अवधी	खड़ी बोली
कर्ता	(विकारी) ने	×	(विकारी) ने
कर्म	को, कौ	के, का, कहँ	को
करण	सो, तें	से, सन, सौं	से
संप्रदान	को, कौ	के, का, कहँ	को
अपादान	तें, सो	सें	से
संबंध	को	कर, कै, केर	का, के, की
अधिकरण	में, मो, पै, पर	में, माँ, पर	में, पर

इससे यह स्पष्ट है कि अवधी में भूतकालिक सकर्मक क्रियाओं के कर्त्ता के साथ 'ने' का प्रयोग सर्वथा नहीं होता, पर व्रजभाषा और खड़ी बोली में यह अवश्य होता है। इसी प्रकार कर्म, संप्रदान तथा अधिकरण के रूप खड़ी बोली के रूपों से मिलते हैं, पर अवधी से नहीं मिलते। जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, यह, वह, सो, को (कौन) और जो सर्वनामों के रूप कारक-चिह्नों के लगने के पूर्व व्रजभाषा में या, वा, ता, का और जा हो जाते हैं, जैसे—याने, वाको, तासों, काकों, जाकों। पर अवधी में इनके रूप यहि, वहि, तेहि, केहि, जेहि होकर तब उनमें कारक-चिह्न लगते हैं। नीचे व्रजभाषा के व्याकरण की मुख्य मुख्य बातें दे दी जाती हैं जिनसे इस भाषा के स्वरूप का स्पष्ट ज्ञान हो जायगा।

संज्ञा

कारक	पुल्लिंग		स्त्रीलिंग
	आकारांत	अकारांत	ईकारांत
एकवचन	घोड़ा	घर	घोड़ी
कर्त्ता	घोड़ो, घोड़े ने	घर	घोड़ी, घोड़ी ने
विकारी	घोड़े	घर	घोड़ी
बहुवचन	घोड़े	घर	घोड़ियाँ
कर्त्ता	घोड़े, घोड़न ने	घर	घोड़ियाँ, घोड़ियन ने, घोडियान ने
विकारी	घोड़न, घोड़ान	घरन	घोड़ियन, घोड़ियान

विभक्ति

कर्त्ता—ने
कर्म, संप्रदान—को
करण, अपादान—सों, तें
अधिकरण—में, मों, पै
संबंध—को

सर्वनाम—एकवचन

सर्वनाम	कर्त्ता	विकारी	कर्म सम्प्र०	सम्बन्ध	करण अपा०	अधि०
मैं	मैं, हौ	मैंने	मोहि (मोय) मोकौ	मेरो	मोसों, मोते	मोमें, मोपै
तू	तू, तैं	तूने, तैने	तोहि (तोय) तोकौ	तेरो, तिहारो, तुम्हारो	तोसो, तोतें तोहितें	तोहिमैं, तोमें तोपै, तोहिपै
वह	वह, वो	वाने, ताने	वाहि (वाय) ताहि (ताय) ताकौ	वाको, ताको, तासु	वासो, तासो, वातें, तातें	वामैं, तामैं, वापै, तापै
यह	यह	याने	याहि (याय) याकौं	याको	यासो, यातें	यामैं, यापै
जो	जो, जौन*	जाने	जाहि (जाय) जाकौं	जाको, जासु	जासो, जातें	जामैं, जापै
सो	सो, तौन*	ताने	ताहि (ताय) ताकौं	ताको, तासु	तासो, तातें	तामैं, तापै
कौन	को	काने	काहि (काय), काकौं	काको	कासो, कातें	कामैं, कापै
क्या	कहा, का	×	×	×	×	×

* ब्रज में केवल "सो" के पहले यह रूप आता है, जैसे, जौन सो लेनो होय, ले।

सर्वनाम—बहुवचन

सर्वनाम	कर्त्ता	विकारी	कर्म संप्र०	संबंध	करण अपा०	अधि०
मैं	हम	हमने	हमहि, हमैं, हमकों	हमारो, म्हारो	हमसौं, हमतै	हममैं, हमपै
तू	तुम	तुमने	तुमहि, तुम्हैं, तुमकौं	तुम्हारो, तिहारो	तुमसौं, तुमतै	तुममैं, तुमपै
वह	वे, वै, ते	उनने, विनने, तिनने	उनहि, उन्हैं, तिनहि, तिन्हैं	उनकौ, तिनकौ, विनको	उनसौं, उनतैं, विनसौं, विनतै, तिनसौं, तिनतै	उनमैं, उनपै तिनमैं, तिनपै विनमैं, विनपै
यह	ये	इनने	इनहि, इन्हैं, इनकौं	इनकौ	इनसौं, इनतै	इनमैं, इनपै
जो	जो, जे	जिनने	जिनहि, जिन्हैं, जिनकौं	जिनकौ	जिनसौं, जिनतै	जिनमैं, जिनपै
सो	ते	तिनने	तिनहि, तिन्हैं, तिनकौं	तिनकौ	तिनसौं, तिनतै	तिनमैं, तिनपै
कौन	को, के	किनने	किनहि, किन्हैं, किनकौं	किनकौ	किनसौं, किनतै	किनमैं, किनपै

(१) क्रियाएँ

वर्त्तमान काल—करना (सकर्मक) "मैं करता हूँ"

पुरुष	एकवचन		बहुवचन	
	पुल्लिंग	स्त्रीलिंग	पुल्लिंग	स्त्रीलिंग
उ॰ पु॰	करत हौ, करूँ हूँ	करति हौ, करूँ हूँ	करत हैं, करैं हैं	करति हैं, करैं हैं
म॰ पु॰	करत है, करै है	करति है, करै है	करत हैं, करौ हौ	करति हौ, करौ हौ
अ॰ पु॰	करत है, करै है	करति है, करै है	करत हैं, करैं हैं	करति हैं, करैं हैं

भूत काल* "मैं करता था"

पुरुष	एकवचन		बहुवचन	
	पुल्लिंग	स्त्रीलिंग	पुल्लिंग	स्त्रीलिंग
उ॰ पु॰	कियौ, कीन्हौ, करयौ	कियौ, कीन्हौं, करयौ	कियौ, कीन्हौं, करयौ	कियौ, कीन्हौं करयौ
म॰ पु॰	" "	" "	" "	" "
अ॰ पु॰	" "	" "	" "	" "

* कर्त्ता के लिंग या वचन का कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

(२) मुख्य सकर्मक—क्रियाएँ

क्रियार्थक संज्ञा—करनो, करिबो, कीबो।
वर्तमान कृदंत कर्तरि—करतो, करती।
भूत कृदंत कर्त्तरि और कर्मणि –कियो, कीन्हों, करयो, कियो, गयो।

वर्तमान संभाव्यार्थ "मैं देखूँ"

पुरुष	एकवचन	बहुवचन
उ० पु०	(मैं) देखूँ	(हम) देखें
म० पु०	(तू) देखै	(तुम) देखो
अ० पु०	(वह) देखै	(वे) देखें

आज्ञार्थ में एकवचन का रूप 'देख' और बहुवचन का रूप 'देखौ' होता है।

भविष्य "देखना"

पुरुष	एकवचन		बहुवचन	
	पुल्लिंग	स्त्रीलिंग	पुल्लिंग	स्त्रीलिंग
उ० पु०	देखूँगो, देखिहौ	देखूँगी, देखिहै	देखैंगे, देखिहैं	देखैंगी, देखिहैं
म० पु०	देखैगो, देखिहै	देखैगी, देखिहै	देखोगे, देखिहौ	देखोगी, देखिहौ
अ० पु०	देखैगो, देखिहै	देखैगी, देखिहै	देखैंगे, देखिहैं	देखैंगी, देखिहैं

भूत काल संकेतार्थ "करना"

पुरुष	एकवचन		बहुवचन	
	पुल्लिग	स्त्रीलिंग	पुल्लिग	स्त्रीलिंग
सब पुरुषो में समान	करतो	करती	करते	करतीं

वर्तमान पूर्ण* "करना"

पुरुष	एकवचन		बहुवचन	
	पुल्लिग	स्त्रीलिंग	पुल्लिग	स्त्रीलिंग
सब पुरुषो में समान	कियो है, कीन्हो है	कियो है, कीन्हो है	कियो है, कीन्हो है	कियो है, कीन्हो है

भूत काल "जाना" (अकर्मक) गया

पुरुष	एकवचन		बहुवचन	
	पुल्लिग	स्त्रीलिंग	पुल्लिग	स्त्रीलिंग
सब पुरुषों में समान	गयो	गई	गए	गई

* कर्त्ता के लिंग, वचन के अनुसार रूप में कोई परिवर्त्तन नहीं होता।

वर्तमान पूर्ण "जाना"

पुरुष	एकवचन		बहुवचन	
	पुं०	स्त्री०	पुं०	स्त्री०
उ० पु०	गयो हौं	गई हौं	गए हैं	गई हैं
म० पु०	गयो है	गई है	गए हो	गई हो
अ० पु०	गयो है	गई है	गए हैं	गई हैं

(४) बुंदेली भाषा—ब्रज से मिलती जुलती या उसी की एक शाखा बुँदेली या बुँदेलखंडी भी है, जिसकी छाया कवियों की भाषा में बराबर मिलती है। यह भाषा बुँदेलखंड, ग्वालियर और मध्य प्रदेश के कुछ जिलों में बोली जाती है। इसकी विस्तार-सीमा के पूर्व ओर की पूर्वी हिंदी की बघेली बोली, उत्तर-पश्चिम की ओर ब्रजभाषा, दक्षिण-पश्चिम की ओर राजस्थानी और दक्षिण की ओर मराठी भाषा का साम्राज्य है। उत्तर, पूर्व और पश्चिम की ओर तो यह क्रमशः उन दिशाओं में बोली जानेवाली भाषाओं में लीन हो जाती है और वहाँ इसका मिश्र रूप देख पड़ता है; पर दक्षिण की ओर यह मराठी से बहुत कम मिलती है। यद्यपि इसकी कई बोलियाँ बताई जाती हैं, पर वास्तव में सर्वत्र इसका एक सा ही रूप है। इधर-उधर जो अंतर देख पड़ता है वह नाम मात्र का है।

साहित्य में बुँदेली का सबसे अच्छा नमूना आल्हखंड में मिलता है। पर इस ग्रंथ की कोई प्राचीन हस्तलिखित प्रति न मिलने तथा इसका अस्तित्व आल्हा गानेवालों की स्मरणशक्ति पर ही निर्भर रहने के कारण भिन्न भिन्न प्रांतों में इसने भिन्न भिन्न रूप धारण कर लिए हैं। इसमें बहुत कुछ क्षेपक अंश भी मिल गया है, इससे इसका वास्तविक प्राचीन रूप अब प्राप्त नहीं है। कवि केशवदास बुँदेलखंड के रहनेवाले थे, अतएव उनकी भाषा में बुँदेली का बहुत कुछ अंश वर्त्तमान है। नीचे इस भाषा की व्याकरण-संबंधी मुख्य मुख्य बातों का उल्लेख करके इसके रूप का परिचय दिया जाता है।

पूर्वी भाषाओं में जहाँ लघु उच्चारणवाला ए और ओ होता है, वहाँ बुँदेलखंडी में इ और उ होता है; जैसे, घोड़िया, घुड़िया। कहीं कहीं ऐसे रूप भी मिलते हैं, जैसे, बिलैया, चिरैया आदि। हिंदी की विभाषाओं में संज्ञाओं के पाँच रूप होते हैं—अकारांत, आकारांत, वाकारांत और "औवा" तथा "औना" से अंत होनेवाले; जैसे, घोड़, घोड़ा, घोड़वा, घोड़ौवा, घोड़ौना। पर सब भाषाओं में ये सब रूप नहीं मिलते। हिंदी के आकारांत पुल्लिंग शब्द बुँदेली में ब्रजभाषा के समान ओकारांत हो जाते हैं; पर संबंधसूचक शब्दों में यह विकार नहीं होता; जैसे दादा, काका। हिंदी में जो स्त्रीलिंग शब्द 'इन' प्रत्यय लगाने से बनते हैं, वे बुँदेली में 'नी' प्रत्यय लेते हैं; जैसे तेली-तेलिन; बुं० तेलनी। बुँदेली के कारक हिंदी के ही समान होते हैं। ओकारांत तद्भव संज्ञाओं का विकारी रूप एकवचन में ए और बहुवचन में अन होता है; जैसे, एकवचन, घोड़ो, विकारी—घोड़े; बहुवचन, घोड़े, विकारी—घोड़न। दूसरे प्रकार की पुल्लिंग संज्ञाएँ एकवचन में नहीं बदलतीं; परंतु कर्त्ता के तथा विकारी रूप के बहुवचन में इनके अंत में "अन" आता है। कभी कभी कुछ अकारांत शब्दों का बहुवचन आँ से भी बनता है। "इया" से अंत होनेवाले स्त्रीलिंग शब्दों का बहुवचन "इयाँ" और विकारी बहुवचन "इयन" लगाने से बनता है। दूसरे प्रकार के स्त्रीलिंग शब्दों का कर्त्ता बहुवचन एँ प्रत्यय लगाने से बनता है। ईकारांत शब्दों के बहुवचन में "ई" और विकारी बहुवचन में "अन" या "इन" प्रत्यय लगता है। बुँदेलखंडी में जो विभक्तियाँ लगती हैं, वे इस प्रकार हैं—

कर्त्ता-विकारी	ने, नें
कर्म, संप्रदान	कों, खों,
करण, अपादान	से, सें, सों
संबंध	को, के, की
अधिकरण	में, मे

बुँदेली में सर्वनामों के रूप इस प्रकार होते हैं—

एकवचन	मैं	तू
कर्त्ता	में, मैं	तूँ, तैं
विकारी	मैंने	तैंने
संबंध	मोको, मेरो,	तोको, तेरो,
	मोरो, मोने	तोरो, तोने

बहुवचन

कर्त्ता	हम	तुम
संबंध	हमको, हमारो, हमाश्रो	तुमकों, तुमारो, तुमाश्रो
विकारी	हम	तुम

अन्य पुरुष सर्वनाम का रूप वो या ऊँ होता है। इनका बहुवचन वे और विकारी बहुवचन विन या उन होता है।

क्रियाओं के संबंध में नीचे कुछ रूप दिए जाते हैं।

अकर्मक . वर्तमान

पुरुष	एकवचन	बहुवचन
उ० पु०	हों, आँवँ, आँव	हैं, आयँ
म० पु०	है, आँयँ	हो, आव
अ० पु०	है, आँयँ	हैं, आयँ

अकर्मक . भूत

पुरुष	एकवचन		बहुवचन	
	पुं०	स्त्री०	पुं०	स्त्री०
उ० पु०	हतो, तो	हती, ती	हते, ते	हतीं, तीं
म० पु०	हतो, तो	हती, ती	हते, ते	हतीं, तीं
अ० पु०	हतो, तो	हती, ती	हते, ते	हतीं, तीं

भविष्यत्काल में दोनों रूप होते हैं—हुहौं, होंगो; मारिहों, मारूँगो; मारिहैं, मारैंगे।

इस संक्षिप्त विवरण से यह स्पष्ट हो जायगा कि बुँदेलखंडी ब्रज-भाषा की ओर बहुत झुकती है और इसी लिये वह पश्चिमी हिंदी के अंतर्गत मानी गई है।

(५) खड़ी बोली—इस भाषा का इतिहास बड़ा ही रोचक है। यह भाषा मेरठ के चारों ओर के प्रदेश में बोली जाती है और पहले वहीं तक इसके प्रचार की सीमा थी, बाहर इसका बहुत कम प्रचार था। पर जब मुसलमान इस देश में बस गए और उन्होंने यहाँ अपना राज्य स्थापित कर लिया, तब दिल्ली में मुसलमानी शासन का केंद्र होने के कारण विशेष रूप से उन्होंने उसी प्रदेश की भाषा खड़ी बोली को अपनाया। यह कार्य एक दिन में नहीं हुआ। अरब, फारस और तुर्किस्तान से आए हुए सिपाहियों को यहाँवालों से बातचीत करने में पहले बड़ी दिक्कत होती थी। न ये उनकी अरबी, फारसी समझते थे और न वे इनकी "हिंदवी"। पर बिना वाग्व्यवहार के काम चलना असंभव था, अतः दोनों ने दोनों के कुछ कुछ शब्द सीखकर किसी प्रकार आदान प्रदान का रास्ता निकाला। यों मुसलमानों की उर्दू (छावनी) में पहले पहल एक खिचड़ी पकी, जिसमें दाल-चावल सब खड़ी बोली के थे, सिर्फ नमक आगंतुकों ने मिलाया। आरंभ में तो वह निरी बाजारू बोली थी, पर धीरे धीरे व्यवहार बढ़ने पर और मुसलमानों को यहाँ की भाषा के ढाँचे का ठीक ठीक ज्ञान हो जाने पर इसका रूप कुछ कुछ स्थिर हो चला। जहाँ पहले 'शुद्ध' 'अशुद्ध' बोलनेवालों से 'सही' 'गलत' बोलवाने के लिये शाहजहाँ को "शुद्धौ सहीह इत्युक्तो ह्यशुद्धौ गलतः स्मृतः*" का प्रचार करना पड़ा था, वहाँ अब इसकी कृपा से लोगों के मुँह से शुद्ध, अशुद्ध न निकलकर सही, गलत निकला करता है। आजकल जैसे अँगरेजी पढ़े लिखे भी अपने नौकर से 'एक ग्लास पानी' न माँगकर एक गिलास ही माँगते हैं, वैसे उस समय मुख-सुख-उच्चारण और परस्पर बोध-सौकर्य के अनुरोध से वे लोग अपने "ओज़बेक" का उजबक, '.क़ुतका' का कोतका कर लेने देते और स्वयं करते थे; एवं ये लोग बरहमन् सुनकर भी नहीं चौंकते थे। बैसवाड़ी हिंदी, बुंदेलखंडी हिंदी, पंडिताऊ हिंदी, बाबू-इँगलिश की तरह यह उस समय उर्दू-हिंदी कहलाती थी; पर पीछे भेदक उर्दू शब्द स्वयं भेद्य बनकर उसी प्रकार उस भाषा के लिये प्रयुक्त होने लगा जिस प्रकार 'संस्कृतवाक्' के लिये केवल संस्कृत शब्द। मुसलमानों ने अपनी संस्कृति के प्रचार का सबसे बड़ा साधन मानकर इस भाषा को खूब उन्नत किया और जहाँ जहाँ फैलते गए, वे इसे अपने साथ लेते गए। उन्होंने इसमें केवल फारसी तथा अरबी के शब्दों की ही उनके शुद्ध रूप में अधिकता नहीं कर दी,

---

* इस 'पारसीक प्रकाश' कोश के थोड़े से पन्ने मिले हैं; पूरी पोथी नहीं मिली।

बल्कि उसके व्याकरण पर भी फारसी, अरबी व्याकरण का रंग चढ़ाना आरंभ कर दिया। इस अवस्था में इसके दो रूप हो गए; एक तो हिंदी ही कहलाता रहा, और दूसरा उर्दू नाम से प्रसिद्ध हुआ। दोनों के प्रचलित शब्दों को ग्रहण करके, पर व्याकरण का संघटन हिंदी ही के अनुसार रखकर, अँगरेजों ने इसका एक तीसरा रूप 'हिंदुस्तानी' बनाया। अतएव इस समय इस खड़ी बोली के तीन रूप वर्त्तमान हैं—(१) शुद्ध हिंदी—जो हिंदुओं की साहित्यिक भाषा है और जिसका प्रचार हिंदुओं में है। (२) उर्दू—जिसका प्रचार विशेषकर मुसलमानों में है और जो उनके साहित्य की और शिष्ट मुसलमानों तथा कुछ हिंदुओं की घर के बाहर की बोलचाल की भाषा है। और (३) हिंदुस्तानी—जिसमें साधारणतः हिंदी उर्दू दोनों के शब्द प्रयुक्त होते हैं और जिसका सब लोग बोलचाल में व्यवहार करते हैं। इसमें अभी साहित्य की रचना बहुत कम हुई है। इस तीसरे रूप के मूल में राजनीतिक कारण हैं।

प्रसंगवश हम हिंदी शब्द के इतिहास पर थोड़ा सा प्रकाश डालना चाहते हैं। पहले कुछ लोग इस शब्द से बड़ी घृणा करते थे और इसका प्रतिनिधि 'आर्य भाषा' शब्द प्रयुक्त करते थे। पर अब इसी का प्रयोग बढ़ रहा है। है भी यह सिंधु से निकला हुआ बड़ा पुराना शब्द। ईसा मसीह से बहुत पहले फारस में लिखी गई 'दसातीर' नामक फारसी धर्म-पुस्तक में जो 'अकनूँ बिरहमने व्यास नाम अज़ हिंद आमद बस दाना के आक़िल चुनानस्त' और 'चूँ व्यास हिंदी बलख़ आमद' लिखा है, वही 'हिंदी' शब्द की प्राचीनता के प्रमाण में यथेष्ट है। एक मुसलमान लेखक ने 'नूरनामा' नाम की पुस्तक में उस भाषा को भी 'हिंदी' बतलाया है जिसको आजकल उर्दू कहते हैं। देखिए—

ज़ुबाने अरब में य' था सब कलाम।
किया नज़्म हिंदी में मैंने तमाम॥
अगर्चे था अफ़सः वो अरबी ज़ुबाँ।
व लेकिन समझ उसकी थी बस गिराँ॥
समझ उसकी हर इक के दुश्वार थी।
कि हिंदी ज़ुबाँ वाँ तो दरकार थी॥
इसी के सबब मैंने कर फ़िक्रो गौर।
लिखा नूरनामे के हिंदी के तौर॥

अरबी, फारसी मिश्रित खड़ी बोली के लिये 'उर्दू' शब्द का प्रयोग बहुत ही आधुनिक है। पहले बहुत करते थे तो केवल हिंदी न कहकर 'उर्दू-हिंदी' कह देते थे।

इन तीनों रूपों पर अलग अलग विचार करने के पहले लगे हाथ हम यह भी लिख देना चाहते हैं कि खड़ी बोली की उत्पत्ति के विषय में जो बहुत से विचार फैल रहे हैं, वे प्रायः भ्रमात्मक हैं। कुछ लोगों का क्या, सं० १९८५ के हिंदी-साहित्य-सम्मेलन के सभापति तक का कहना है कि आरंभ में हिंदी या खड़ी बोली व्रजभाषा से उत्पन्न हुई और मुसलमानों के प्रभाव से इसमें सब प्रकार के शब्द सम्मिलित हो गए और इसने एक नया रूप धारण किया। इस कथन में तथ्य बहुत कम है। खड़ी बोली के कलेवर पर ध्यान देने ही से यह बात स्पष्ट हो जायगी। यदि यह व्रजभाषा से निकली हुई होती तो इसमें उसी के से घोड़ो, गयो, प्यारो आदि ओकारांत रूप पाए जाते जो शौरसेनी प्राकृत से व्रजभाषा को विरासत में मिले हैं, न कि आकारांत घोड़ा, गया, प्यारा आदि। ये आकारांत रूप अपभ्रंश से हिंदी में आए हैं। हेमचंद्र ने "स्यादौ दीर्घह्रस्वौ" सूत्र से इनकी सिद्धि बतलाकर कई विभक्तियों में आकारांत रूपों के उदाहरण दिए हैं। जैसे—

ढोला सामला धण चंपावण्णी
ढोल्ला मइं तुहुं वारिया मा कुरु दीहा माणु।
निद्दए गमिही रत्तड़ी दडवड होई विहाणु॥
[दूल्हा साँवला धन चम्पावरनी,
दूल्हा, मैं तोहिं वरज्यौ मत कर दीरघ मान।
नींदै गँवैहो रतिया चटपट होइ बिहान॥]

मालूम नहीं यह पैशाची अपभ्रंश का रूप है अथवा और किसी का। हेमचंद्र ने तो इसका उल्लेख नहीं किया है, पर पंजाबी में आकारांत रूप मिलने के कारण यह संभावना होती है। अतः जिन महापुरुषों ने आकारांत रूपों पर फारसी के ه (हे) से अंत होनेवाले शब्दों के प्रभाव की कल्पना की है, उन्हें इस पर फिर से विचार करना चाहिए। दूसरे खड़ी बोली का प्रचार भी उसी समय से है, जब से अवधी या व्रजभाषा का है। भेद केवल इतना ही है कि व्रजभाषा तथा अवधी में साहित्य की रचना बहुत पहले से होती आई है और खड़ी बोली में साहित्य की रचना अभी थोड़े दिनों से होने लगी है। पूर्व काल में खड़ी बोली केवल बोल-चाल की भाषा थी। मुसलमानों ने इसे अंगीकार किया और आरंभ में उन्होंने इसको साहित्यिक भाषा बनाने का गौरव भी पाया। जैसा कि हम पहले लिख चुके हैं कि खड़ी बोली का सबसे पुराना नमूना जो अब तक मिला है वह नामदेव की कविता में है। कुछ लोग कह सकते हैं कि यह अंश क्षेपक और जाली है पर इस कथन को

यदि हम वितंडावाद के नाम से पुकारें तो अनुचित न होगा। अस्तु, नामदेव को छोड़ भी दिया जाय तो हमें खड़ी बोली का सबसे पहला कवि अमीर खुसरो मिलता है जिसका जन्म सं० १३१२ में और मृत्यु संवत् १३८१ में हुई थी। अमीर खुसरो ने मसनवी खिज्र-नामः में, जिसमें मुख्यतः सुलतान अलाउद्दीन खिलजी के पुत्र खिज्र खाँ और देवल देवी के प्रेम का वर्णन है, हिंदी भाषा के विषय में जो कुछ लिखा है, इस अवसर पर वह उल्लेख के योग्य है। वे लिखते हैं—

"मैं भूल में था; पर अच्छी तरह सोचने पर हिंदी भाषा फारसी से कम नहीं ज्ञात हुई। अरबी के सिवा, जो प्रत्येक भाषा की मीर और सबों में मुख्य है, रई (अरब का एक नगर) और रूम की प्रचलित भाषाएँ समझने पर हिंदी से कम मालूम हुईं। अरबी अपनी बोली में दूसरी भाषा को नहीं मिलने देती, पर फारसी में यह कमी है कि बिना मेल के वह काम में आने योग्य नहीं होती। इस कारण कि वह शुद्ध है और यह मिली हुई है, उसे प्राण और इसे शरीर कह सकते हैं। शरीर में सभी वस्तुओं का मेल हो सकता है, पर प्राण से किसी का नहीं हो सकता। यमन के मूँगे से दरी के मोती की उपमा देना शोभा नहीं देता। सबसे अच्छा धन वह है जो अपने कोष में बिना मिलावट के हो; और न रहने पर माँगकर पूँजी बनाना भी अच्छा है। हिंदी भाषा भी अरबी के समान है; क्योंकि उसमें भी मिलावट का स्थान नहीं है।"

खुसरो ने हिंदी और अरबी-फारसी शब्दों का प्रचार बढ़ाने तथा हिंदू-मुसलमानों में परस्पर भाव-विनिमय में सहायता पहुँचाने के उद्देश्य से खालिकबारी नाम का एक कोष पद्य में बनाया था। कहते हैं कि इस कोष की लाखों प्रतियाँ लिखवाकर तथा ऊँटों पर लदवाकर सारे देश में बाँटी गई थीं। अतएव अमीर खुसरो खड़ी बोली के आदि-कवि ही नहीं हैं, वरन् उन्होंने हिंदी तथा फारसी अरबी में परस्पर आदान-प्रदान में भी अपने भरसक सहायता पहुँचाई है। विक्रम की १४वीं शताब्दी की खड़ी बोली की कविता का नमूना खुसरो की कविता में अधिकता से मिलता है; जैसे—

टट्टी तोड़ के घर में आया।
अरतन बरतन सब सरकाया॥
खा गया, पी गया, दे गया बुत्ता।
ए सखि! साजन? ना सखि कुत्ता॥
स्याम बरन की है एक नारी।
माथे ऊपर लागै प्यारी॥

जो मानुप इस अरथ को खोलै।
कुत्ते की वह बोली बोलै ॥

रहीम खानखाना ने भी खड़ी बोली में कविता की है। उनका मदनाष्टक खड़ी बोली का बड़ा मधुर उदाहरण है—

कलित ललित माला वा जवाहिर जड़ा था।
चपल चखनवाला चाँदनी में खड़ा था ॥
कटितट बिच मेला पीत सेला नवेला।
अलि बन अलबेला यार मेरा अकेला ॥

हिंदू कवियों ने तथा कबीर, नानक, दादू आदि संतों ने भी अपनी कविता में इस खड़ी बोली का प्रयोग किया है। भूषण ने शिवाबावनी में अनेक स्थानों पर इस भाषा का प्रयोग किया है। उनमें से कुछ उदाहरण नीचे दिए जाते हैं—

(१) अब कहाँ पानी मुकुतों में पाती हैं।
(२) खुदा की कसम खाई है।
(३) अफजल खान को जिन्होंने मैदान मारा।

ललित किशोरी की एक कविता का उदाहरण लीजिए—

जंगल में हम रहते हैं, दिल बस्ती से घबराता है।
मानुप गंध न भाती है, मृग मरकट संग सुहाता है ॥
चाक गरेबाँ करके दम दम आहैं भरना आता है।
ललित किशोरी इश्क,रैन दिन ये सब खेल खेलाता है ॥

सीतल कवि (१७८०) ने खड़ी बोली में बड़ी ही सुंदर रचना की है। मधुरिमा तो उनकी कविता के अंग अंग में व्याप रही है। देखिए—

हम खूब तरह से जान गए जैसा आनँद का कंद किया।
सब रूप सील गुन तेज पुंज तेरे ही तन में बंद किया ॥
तुझ हुस्न प्रभा की बाकी ले फिर बिधि ने यह फरफंद किया।
चंपक दल सोनजुही नरगिस चामीकर चपला चंद किया ॥
चंदन की चौकी चारु पड़ी सोता था सब गुन जटा हुआ।
चौके की चमक अधर बिहँसन मानो एक दाड़िम फटा हुआ ॥
ऐसे में ग्रहन समै सीतल एक ख्याल बड़ा अटपटा हुआ।
भूतल ते नभ नभ ते अवनी अँग उछलै नट का बटा हुआ ॥

अतएव यह सिद्ध है कि खड़ी बोली का प्रचार कम से कम सोलहवीं शताब्दी में अवश्य था, पर साहित्य में इसका अधिक आदर नहीं था। सच बात तो यह है कि खड़ी बोली को काव्यभाषा का स्थान कभी नहीं मिला था। यह उसकी अपनी सजीवता थी कि वह समय

समय पर स्वयं अपना सिर उठा देती थी। हरिश्चंद्र ने भी उसमें बहुत कविता नहीं की है। काव्य की परंपरा के लिये ढली चली आती हुई ब्रजभाषा के सामने उसका काव्य के लिये स्वीकृत होना बहुत कम संभव था, क्योंकि खड़ी बोली में मधुरता का अभाव था। पर रहीम ने यह बात स्पष्ट कर दी थी कि संस्कृत वृत्तों का अनुसरण करने से खड़ी बोली की कविता में मिठास लाई जा सकती है। यही बात पीछे चलकर फारसी के वृत्तों के संबंध में हरिऔधजी की रचनाओं से प्रमाणित हुई। वर्तमान युग में मराठी के संसर्ग से पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी ने फिर से इसी बात का अनुभव प्राप्त किया और उनके दिखाए हुए मार्ग पर चलकर बाबू मैथिलीशरण गुप्त तथा कई और कवियों ने अच्छी सफलता प्राप्त की। पर इसका एक बुरा परिणाम यह दृष्टिगोचर हो रहा है कि खड़ी बोली की कविता एक प्रकार से संस्कृतमयी हो गई है। केवल कोई संयोजक शब्द, कोई विभक्ति या कोई क्रिया जो यहाँ वहाँ मिल जाती है, इस बात की ओर ध्यान आकृष्ट कर देती है कि यह कविता संस्कृत की नहीं हिंदी की है। उदाहरण के लिये पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी की यह पंक्ति—

"मांगल्य-मूलमय-वारिद-वारि-वृष्टि"

अथवा पंडित अयोध्यासिंह उपाध्याय का यह पद्य देखिए—

रूपोद्यानप्रफुल्लप्रायकलिका राकेंदुबिंबानना
तन्वंगी कलहासिनी सुरसिका क्रीड़ाकलापुत्तली।
शोभावारिधि की अमूल्य मणि सी लावण्यलीलामयी—
श्रीराधा मृदुहासिनी मृगदृगी माधुर्य्य सन्मूर्ति थी॥

आनंद की बात है कि अब धीरे धीरे खड़ी बोली की कविता की भाषा सरल गद्य की-सी हो रही है जो समय की प्रवृत्ति के अनुकूल तथा भाषा कविता के भविष्य का द्योतक है। अट्ठारहवीं शताब्दी में विशेष रूप से हिंदी के गद्य की रचना आरंभ हुई और इसके लिये खड़ी बोली ग्रहण की गई। पर इससे यह मानना कि उर्दू के आधार पर हिंदी (खड़ी बोली) की रचना हुई, ठीक नहीं है। पंडित चंद्रधर गुलेरी ने लिखा है—"खड़ी बोली या पक्की बोली या रेखता या वर्तमान हिंदी के आरंभ काल के गद्य और पद्य को देखकर यही जान पड़ता है कि उर्दू रचना में फारसी अरबी तत्समों या तद्भवों को निकालकर संस्कृत या हिंदी तत्सम और तद्भव रखने से हिंदी बना ली गई है। इसका कारण यही है कि हिंदू तो अपने घरों की प्रादेशिक और प्रांतीय बोली में रँगे थे, उनकी परंपरागत मधुरता उन्हें प्रिय थी। विदेशी मुसल-

मानों ने आगरा, दिल्ली, सहारनपुर, मेरठ की "पड़ी" भाषा को "खड़ी" कर अपने लश्कर और समाज के लिये उपयोगी बनाया। किसी प्रांतीय भाषा से उनका परंपरागत प्रेम न था। उनकी भाषा सर्वसाधारण की या राष्ट्र-भाषा हो चली। हिंदू अपने अपने प्रांत की भाषा को न छोड़ सके। अब तक यही बात है। हिंदू घरों की बोली प्रादेशिक है, चाहे लिखा-पढ़ी और साहित्य की भाषा हिंदी हो; मुसलमानों में बहुतों के घर की बोली खड़ी बोली है। वस्तुतः उर्दू कोई भाषा नहीं है, हिंदी की विभाषा है। किंतु हिंदुई भाषा बनाने का काम मुसलमानों ने बहुत कुछ किया, उसकी सार्वजनिकता भी उन्हीं की कृपा से हुई। फिर हिंदुओं में जागृति होने पर उन्होंने हिंदी को अपना लिया। हिंदी गद्य की भाषा लल्लूजीलाल के समय से आरंभ होती है। उर्दू गद्य उससे पुराना है; खड़ी बोली की कविता हिंदी में नई है। अभी तक ब्रजभाषा बनाम खड़ी बोली का झगड़ा चल ही रहा था। उर्दू पद्य की भाषा उसके बहुत पहले हो गई है। पुरानी हिंदी गद्य और पद्य खड़े रूप में मुसलमानी हैं। हिंदू कवियों का यह संप्रदाय रहा है कि हिंदू पात्रों से प्रादेशिक भाषा कहलाते थे और मुसमान पात्रों से खड़ी बोली।"

यद्यपि गुलेरीजी का यह निष्कर्ष कि 'खड़ी बोली ने मुसलमानी राजाश्रय पाकर उन्नति की और उसका प्रचार चारों ओर हुआ तथा मुसलमानों की कृपा के ही कारण हिंदी के इस खड़ी बोली रूप का इतना महत्त्व हुआ' सर्वथा सत्य है और इसके लिये हमें उनका उपकार मानना चाहिए, परंतु उनका यह कहना कि "उर्दू-रचना में फारसी, अरबी तत्सम या तद्भव निकालकर संस्कृत तत्सम या तद्भव रखकर हिंदी बना ली गई" ठीक नहीं है। उर्दू का आदि कवि मुहम्मद कुली माना जाता है। संवत् १६३७ में गोलकुंडा के बादशाह सुलतान इब्राहीम की मृत्यु पर उसका पुत्र मुहम्मद कुली कुतुबशाह गद्दी पर बैठा। पर हिंदी का खड़ी बोलीवाला रूप हमें साहित्य में १३०० वि० के आरंभ में अर्थात् उर्दू के आदि कवि से कोई ३०० वर्ष पहले भी मिलता है। इसलिये यह कहना ठीक नहीं है कि उर्दू के आधार पर खड़ी बोली का रूप प्रस्तुत हुआ। मुहम्मद कुली के कई सौ वर्ष पहले से उर्दू पर ब्रज की काव्य-मयी भाषा का प्रभाव पड़ चुका था। मुसलमानों को उर्दू कविता में भी ब्रजभाषा के रस-परिपुष्ट शब्दों का बराबर और निःसंकोच प्रयोग होता था। पीछे के उर्दू कवियों ने इस काव्य भाषा के शब्दों से अपना पीछा छुड़ाकर और खड़ी बोली को अरब तथा फारस की वेषभूषा से सुसज्जित करके उसे स्वतंत्र रूप दे दिया। अतएव यह कहना तो ठीक है कि उर्दू

वास्तव में हिंदी की 'विभाषा' है, पर यह कहना सर्वथा अनुचित है कि उर्दू के आधार पर हिंदी खड़ी हुई है। "उर्दू कविता पहले स्वभावतः देश की काव्यभाषा का सहारा लेकर उठी। फिर जब टाँगों में बल आया, तब किनारे हो गई।" हिंदू कवियों ने जो मुसलमान पात्रों से खड़ी बोली घुलवाई है, उससे यह निष्कर्ष न निकालना चाहिए कि वह मुसलमानी भाषा थी। पात्रों की भाषा में मूलतः भेद करना इस देश की पुरानी परिपाटी थी और मुसलमानों की कोई ऐसी सर्वजन-बोध्य स्वकीय भाषा नहीं थी जिसका कवि लोग प्रयोग करते। अतः उन्होंने उसके लिये उनके द्वारा अपनाई गई खड़ी बोली का प्रयोग किया; और विशेष आत्मीयता बोधन करने के लिये हिंदू पात्रों की भाषा ब्रज या अपने प्रदेश की रखी।

इसी प्रकार हिंदी गद्य के विषय में भी भ्रम फैल रहा है। लल्लूजीलाल हिंदी गद्य के जन्मदाता माने जाते हैं। इस विषय में हम प्रसंगात् पहले लिख चुके हैं, पर यहाँ भी कुछ कहना चाहते हैं। अकबर बादशाह के यहाँ संवत् १६२० के लगभग गंग भाट था। उसने "चंद छंद बरनन की महिमा" खड़ी बोली के गद्य में लिखी है। उसकी भाषा का नमूना देखिए—"इतना सुनके पातशाहजी श्री अकबरशाहजी आद सेर सोना नरहरदास चारन को दिया, इनके डेढ़ सेर सोना हो गया, रास बचना पूरन भया।" गंग भाट के पहले का कोई प्रामाणिक गद्य लेख न मिलने के कारण उसे खड़ी बोली का प्रथम गद्यलेखक मानना चाहिए।* लल्लूजीलाल हिंदी गद्य को आधुनिक रूप देनेवाले भी नहीं हैं। उनके और पहले का मुंशी सदासुख का किया हुआ भागवत का हिंदी अनुवाद "सुखसागर" वर्त्तमान है। उसका कुछ अंश नीचे उद्धृत करके हम यह दिखलाना चाहते हैं कि लल्लूजीलाल के पहले ही हिंदी गद्य आरंभ हो चुका था।

"धन्य कहिए राजा पृथुजी को, नारायण के अवतार हैं, कि जिन्होंने पृथ्वी मंथन करके अन्न उपजाया, ग्राम नगर बसाए, और किसी से सहायता न माँगी, कि किसी और से सहाय चाहेंगे तो उसे दुख होयगा। वह दुख आपको होय, इस हेत अपने पराक्रम से जो कुछ बन आया सो किया। फिर कैसा कुछ किया कि इसका नाम पिरथी राजा पृथु के नाम से प्रसिद्ध है।"

---

* जटमल की लिखी गोरा बादल की कथा भी हिंदी गद्य का पुराना नमूना मानी जाती थी, पर अब यह सिद्ध हो गया है कि यह जटमल की लिखी नहीं है और इसका रचनाकाल १८०० ई० के लगभग है।

इसके अनंतर ईंशाउल्लाखाँ, लल्लूजीलाल तथा सदल मिश्र का समय आता है। लल्लूजीलाल के प्रेमसागर से सदल मिश्र के नासिकेतोपाख्यान की भाषा अधिक पुष्ट और सुंदर है। प्रेमसागर में भिन्न भिन्न प्रयोगों के रूप स्थिर नहीं देख पड़ते। करि, करिके, बुलाय, बुलाय करि, बुलाय कर, बुलाय करिके आदि अनेक रूप अधिकता से मिलते हैं। सदल मिश्र में यह बात नहीं है। ईंशाउल्लाखाँ की रचना में शुद्ध तद्भव शब्दों का प्रयोग है। उनकी भाषा सरल और सुंदर है, पर वाक्यों की रचना उर्दू ढँग की है। इसी लिये कुछ लोग इसे हिंदी का नमूना न मानकर उर्दू का पुराना नमूना मानते हैं। किसी अज्ञात लेखक द्वारा रचित गोरा बादल की कथा भी इस समय की रचना जान पड़ती है। सारांश यह है कि यद्यपि फोर्ट विलियम कालेज के अधिकारियों, विशेष कर डाक्टर गिलक्रिस्ट, की कृपा से हिंदी गद्य का प्रचार बढ़ा और उसका भावी मार्ग प्रशस्त तथा सुव्यवस्थित हो गया, पर लल्लूजीलाल उसके जन्मदाता नहीं थे। जिस प्रकार मुसलमानों की कृपा से हिंदी (खड़ी बोली) का प्रचार और प्रसार बढ़ा, उसी प्रकार अँगरेजों की कृपा से हिंदी गद्य का रूप परिमार्जित और स्थिर होकर हिंदी-साहित्य में एक नया युग उपस्थित करने का मूल आधार अथवा प्रधान कारण हुआ।

हम पहले कह चुके हैं कि उर्दू भाषा हिंदी की विभाषा थी। इसका जन्म हिंदी से हुआ और उसका दुग्धपान करके यह पालित पोषित हुई। पर जब यह शक्ति-संपन्न हो गई, इसमें अपने पैरों पर खड़े होने की शक्ति आ गई और मुसलमानों के लाड़-प्यार से यह अपने मूलरूप को भूलकर अपने पृष्ठ-पोषकों को ही सब कुछ समझने लग गई, तब इसने क्रमशः स्वतंत्रता प्राप्त करने का उद्योग किया। पर यह स्वतंत्रता नाम मात्र की थी। इसने हिंदी से, जहाँ तक संभव हुआ, अलग होने में ही अपनी स्वतंत्रता समझी, पर वास्तव में यह अपनी जन्मदात्री को भूल-कर तथा अरबी-फारसी के जाल में फँसकर अपने आपको उसी प्रकार धन्य मानने लगी, जिस प्रकार एक अविकसित, अनुन्नत अथवा अधोगत जाति अपने विजेता की नकल करके उसका विकृत रूप धारण करने में ही अपना सौभाग्य समझती और अपने को धन्य मानती है। इस प्रकार उर्दू निरंतर हिंदी से अलग होने का उद्योग करती आ रही है। चार बातों में हिंदी से उर्दू की विभिन्नता हो रही है—

(१) उर्दू में अरबी-फारसी के शब्दों का अधिकता से प्रयोग हो रहा है; और वह भी तद्भव रूप में नहीं, अपितु तत्सम रूप में।

(२) उर्दू पर फारसी के व्याकरण का प्रभाव बहुत अधिकता से पड़ रहा है। उर्दू शब्दों के बहुवचन हिंदी के अनुसार न बनकर फारसी के अनुसार बन रहे हैं; जैसे कागज, कसबा या अमीर का बहुवचन कागजों, कसबों या अमीरों न होकर कागजात, कसबात, उमरा होता है; और ऐसे बहुवचनों का प्रयोग अधिकता से बढ़ रहा है।

(३) संबंध कारक की विभक्ति के स्थान में 'ए' की इज़ाफ़त करके शब्दों का समस्त रूप बनाया जाता है; जैसे—सितारेहिंद, दफ़्तरे-फ़ौजदारी, मालिके-मकान। इसी प्रकार करण और अपादान कारक की विभक्ति 'से' के स्थान में 'अज़' शब्द का प्रयोग होता है; जैसे—अज़ख़ुद, अज़ तरफ़। अधिकरण कारक की विभक्ति 'में' के स्थान में भी 'दर' का प्रयोग होता है; जैसे—दर असल, दर हक़ीक़त। कहीं कहीं दर के स्थान में अरबी 'फ़िल' का भी प्रयोग होता है; जैसे—फ़िलहाल, फ़िलहक़ीक़त।

(४) हिंदी और उर्दू की सबसे अधिक विभिन्नता वाक्य-विन्यास में देख पड़ती है। हिंदी के वाक्यों में शब्दों का क्रम इस प्रकार होता है कि पहले कर्त्ता, फिर कर्म और अंत में क्रिया; पर उर्दू की प्रवृत्ति यह देख पड़ती है कि इस क्रम में उलट फेर हो। उर्दू में क्रिया कभी कभी कर्त्ता के पहले भी रख देते हैं; जैसे—"राजा इंदर का आना" न कहकर "आना राजा इंदर का" कहते हैं। इसी प्रकार यह न कहकर कि 'उसने एक नौकर से पूछा' यह कहेंगे—'एक नौकर से उसने पूछा'।

नीचे हम उदाहरणार्थ उर्दू के एक लेख का कुछ अंश उद्धृत करते हैं, जिससे ये चारों बातें स्पष्टतया समझ में आ जायँगी।

"क़स्वः निगोहा के जानिबे दखिन एक मंदर महादेवजी का है, जिसको भौंरेसर कहते हैं, और किनारे दरियाए सई के वाक़अ़ है। और वहाँ पर हर दुशंबः को मेला होता है, और अक्सर लोग हर रोज़ दरशन को बिला नागः जाया करते हैं, और जो मक़सदे दिली रखते हैं, वह पूरा होता है। सुनने में आया है कि एक वक्त औरंगज़ेब बादशाह भी उस मंदर पर तशरीफ़ लाए थे और उनकी मंशा थी कि इस मंदर को खुदवाकर मूरत को निकलवा लेवें। और सदहा मज़दूर उस मूरत के निकालने को मुस्तइद हुए, लेकिन मूरत की इंतहा न मअ़लूम हुई। तब बादशाह ने गुस्से में आकर इजाज़त दी कि इस मूरत को तोड़ डालो। तब मज़दूरों ने तोड़ना शुरुअ़ किया, और दो एक ज़र्ब मूरत में लगाईं, बल्कि कुछ शिकस्त भी हो गई, जिसका निशान आज तक भी मौजूद है, और क़तरे ख़ून भी मूरत से नमूद हुआ; लेकिन ऐसी क़ुदरत मूरत

की ज़ाहिर हुई और उसी मूरत के नीचे से हज़ारहा भौंरे निकल पड़े और सब फ़ौजें बादशाह की भौंरों से परेशान हुईं। और यह ख़बर बादशाह को भी मअ़लूम हुई। तब बादशाह ने हुक्म दिया कि अच्छा, इस मूरत का नाम आज से भौंरेसर हुआ और जिस तरह पर थीं, उसी तरह से बंद कर दो। और ख़ुद बादशाह ने मूरत मज़कूर बंद कराने का इंतज़ाम कर दिया।"

हिंदुस्तानी भाषा के विषय में इतना ही कहना है कि इसकी सृष्टि अँगरेजी राजनीति के कारण हुई है। हिंदी और उर्दू दोनों भाषाओं को मिलाकर, अर्थात् इन दोनों भाषाओं के शब्दों में से जो शब्द बहुत अधिक प्रचलित हैं, उन्हें लेकर तथा हिंदी व्याकरण के सूत्र में पिरोकर इस भाषा को यह रूप दिया जा रहा है। यह उद्योग कहाँ तक सफल होगा, इस विषय में भविष्यत् वाणी करना कठिन ही नहीं, अनुचित भी है। जिस प्रकार राजनीति के प्रभाव में पड़कर हिंदी के अवधी तथा व्रज भाषा रूप, जिनमें साहित्य की बहुमूल्य रचना हुई है, अब धीरे धीरे पीछे हटते जा रहे हैं और उनके स्थान में खड़ी बोली, जो किसी समय केवल बोलचाल की भाषा थी और जिसमें कुछ भी साहित्य नहीं था, अब आगे बढ़ती आ रही है तथा उनका स्थान ग्रहण करती जा रही है, वैसे ही कौन कह सकता है कि दो एक शताब्दियों में भारतवर्ष की प्रधान बोलचाल तथा साहित्य की भाषा हिंदुस्तानी न हो जायगी, जिसमें केवल हिंदी उर्दू के शब्दों का ही मिश्रण न होगा, किंतु अँगरेजी भी अपनी छाप बनाए रहेगी? भारतीय भाषाओं के इतिहास से यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि जब जब बोलचाल की भाषा ने एक और साहित्यिक रूप धारण किया, तब तब दूसरी ओर बोलचाल के लिये भाषा ने परिवर्त्तित होकर दूसरा नया रूप धारण किया; और फिर उसके भी साहित्यिक रूप धारण करने पर बोलचाल की भाषा तीसरे रूप में चल पड़ी। यह क्रम सहस्रों वर्षों से चला आ रहा है; और कोई कारण नहीं देख पड़ता कि इसकी पुनरावृत्ति निरंतर न होती जाय।

हम यह देख चुके हैं कि हिंदी की तीन प्रधान उपभाषाएँ हैं, अर्थात् अवधी, व्रजभाषा और खड़ी बोली। राजस्थानी और बुंदेलखंडी व्रजभाषा के तथा उर्दू खड़ी बोली के निकटतम हैं। इन तीनों उपभाषाओं के तारतम्य का कुछ विवेचन नीचे दिया आता है।

व्रजभाषा, अवधी तथा खड़ी बोली का तारतम्य

व्याकरण—खड़ी बोली के समान सकर्मक भूतकाल के कर्त्ता में व्रजभाषा में भी 'ने' चिह्न होता है, चाहे काव्य में सूरदास आदि की

परंपरा के विचार से उसके नियम का पालन पूर्ण रूप से न किया जाय। यह 'ने' वास्तव में करण का चिह्न है जो हिंदी में गृहीत कर्मवाच्य रूप के कारण आया है। हेमचंद्र के इस दोहे से इस बात का पता लग सकता है—जे महु दिएणा दिश्रहड़ा दइएँ पवसंतेण =जो मुझे दिए गए दिन प्रवास जाते हुए दयित (पति) से। इसी के अनुसार सकर्मक भूतकाल क्रिया के लिंग वचन भी कर्म के अनुसार होते हैं। पर अन्य पूरबी भाषाओं के समान अवधी में भी यह 'ने' नहीं है। अवधी के सकर्मक भूतकाल में जहाँ कृदंत से निकले हुए रूप लिए भी गए हैं, वहाँ भी न तो कर्त्ता में करण का स्मारक रूप 'ने' आता है और न कर्म के अनुसार क्रिया के लिंग वचन बदलते हैं। वचन के संबंध में तो यह बात है कि कारक चिह्नग्राही रूप के अतिरिक्त संज्ञा में बहुवचन का भिन्न रूप अवधी आदि पूरबी बोलियों में होता ही नहीं; जैसे 'घोड़ा' और 'सखी' का व्रजभाषा में बहुवचन 'घोड़े' और 'सखियाँ' होगा, पर अवधी में एकवचन का सा ही रूप रहेगा, केवल कारक चिह्न लगने पर 'घोड़न' और 'सखिन' हो जायगा। इस पर एक कहानी है। पूरब के एक शायर जबाँदानी के पूरे दावे के साथ दिल्ली जा पहुँचे। वहाँ किसी कुँजड़िन की टोकरी से एक मूली उठाकर पूछने लगे—"मूली कैसे दोगी?" वह बोली—"एक मूली का क्या दाम बताऊँ?" उन्होंने कहा—"एक ही नहीं, और लूँगा।" कुँजड़िन बोली—"तो फिर मूलियाँ कहिए।"

अवधी में भविष्यत् की क्रिया केवल तिङंत ही है जिसमें लिंगभेद नहीं है; पर व्रज में खड़ी बोली के समान 'गा' वाला कृदंत रूप भी है, जैसे आवैगो, जायगी इत्यादि।

खड़ी बोली के समान व्रजभाषा की भी दीर्घांत पदों की ओर (क्रियापदों को छोड़) प्रवृत्ति है। खड़ी बोली की आकारांत पुल्लिंग *संज्ञाएँ, विशेषण और संबंध कारक के सर्वनाम व्रज में ओकारांत होते* हैं; जैसे—घोड़ो, फेरो, झगड़ो, ऐसो, जैसो, वैसो, कैसो, छोटो, बड़ो, खोटो, खरो, भलो, नीको, थोरो, गहरो, दूनो, चौगुनो, साँवरो, गोरो, प्यारो, ऊँचो, नीचो, आपनो, मेरो, तेरो, हमारो, तुम्हारो इत्यादि। इसी प्रकार आकारांत साधारण क्रियाएँ और भूतकालिक कृदंत भी ओकारांत होते हैं; जैसे—आवनो, आयबो, करनो, देनो, देवो, दीबो, ठाढ़ो, बैठो, उठो, आयो, गयो, चल्यो, खायो इत्यादि। पर अवधी का लघ्वंत पदों की ओर कुछ झुकाव है, जिससे लिंग-भेद का भी कुछ निराकरण हो जाता है। लिंग-भेद से अरुचि अवधी ही से कुछ कुछ आरंभ हो जाती है। अस, जस, तस, कस, छोट, बड़, खोट, खर, भल, नीक, थोर,

गहिर, दून, चौगुन, साँवर, गोर, पियार, ऊँच, नीच इत्यादि विशेषण, आपन, मोर, तोर, हमार, तुम्हार सर्वनाम और केर, कन, सन तथा पुरानी भाषा के कहँ, महँ, पहँ, कारक के चिह्न इस प्रवृत्ति के उदाहरण हैं। अवधी में साधारण क्रिया के रूप भी अकारांत ही होते हैं; जैसे—आउब, जाब, करब, हँसब इत्यादि। यद्यपि खड़ी बोली के समान अवधी में भूतकालिक कृदंत आकारांत होते हैं, पर कुछ अकर्मक कृदंत विकल्प से अकारांत भी होते हैं, जैसे—ठाढ़, बैठ, आय, गय। उ०—बैठ हैं = बैठे हैं।

(क) बैठ महाजन सिंहलदीपी।—जायसी।

(ख) पाट बैठि रह किए सिँगारू।—जायसी।

इसी प्रकार कविता में कभी कभी वर्त्तमान की अगाड़ी खोलकर धातु का नंगा रूप भी रख दिया जाता है—

(क) सुनत बचन कह पवनकुमारा।—तुलसी।

(ख) उत्तर दिसि सरजू बह पावनि।—तुलसी।

उच्चारण—दो से अधिक वर्णों के शब्द के आदि में 'इ' के उपरांत 'आ' के उच्चारण से कुछ द्वेष ब्रज और खड़ी दोनों पछाहीं बोलियों को है। इससे अवधी में जहाँ ऐसा योग पड़ता है, वहाँ ब्रज में संधि हो जाती है। जैसे अवधी के सियार, कियारी, बियारी, बियाज, बियाह, पियार (कामिहि नारि पियारि जिमि।—तुलसी), नियाव इत्यादि ब्रज-भाषा में स्यार, क्यारी, ब्यारी, ब्याज, ब्याह, प्यारो, न्याव इत्यादि बोले जायँगे। 'उ' के उपरांत भी 'आ' का उच्चारण ब्रज को प्रिय नहीं है; जैसे—पूरबी—दुआर, कुवाँर। ब्रज—द्वार, क्वाँरा। इ और उ के स्थान पर य और व की इसी प्रवृत्ति के अनुसार अवधी इहाँ उहाँ [(१) इहाँ कहाँ सज्जन कर बासा। (२) उहाँ दसानन सचिव हँकारे।—तुलसी] के ब्रज रूप 'यहाँ' 'वहाँ' और 'हियाँ' 'हुवाँ' के 'ह्याँ' 'ह्वाँ' होते हैं। ऐसे ही 'अ' और 'आ' के उपरांत भी 'इ' नापसंद है, 'य' पसंद है। जैसे—अवधी के पूर्वकालिक आइ, जाइ, पाइ, कराइ, दिखाइ इत्यादि और भवि-ष्यत् आइहै, जाइहै, पाइहै, कराइहै, दिखाइहै (अथवा अइहै, जइहै, पइहै, करइहै, दिखइहै) आदि न कहकर ब्रज में क्रमशः आय, जाय, पाय, दिखाय तथा आयहै, जायहै, पायहै, करायहै, दिखायहै (अथवा अयहै = ऐहै, जयहै = जैहै आदि) कहेंगे। इसी रुचि-वैचित्र्य के कारण 'ऐ' और 'औ' का संस्कृत उच्चारण (अइ, अउ के समान) पच्छिमी हिंदी (खड़ी और ब्रज) से जाता रहा, केवल 'य'कार 'व'कार के पहले रह गया, जहाँ दूसरे 'य' 'व' की गुंजाइश नहीं। जैसे, गैया, कन्हैया, भैया, कौवा,

हौवा, इत्यादि में। 'और' 'ऐसा' 'भैंस' आदि का उच्चारण पश्चिमी हिंदी में 'अवर', 'अयसा', 'भयँस' से मिलता जुलता और पूरवी हिंदी में 'अउर', 'अइसा', 'भइँस' से मिलता जुलता होगा।

व्रज के उच्चारण के ढँग में कुछ और भी अपनी विशेषताएँ हैं। कर्म के चिह्न 'को' का उच्चारण 'कौ' से मिलता जुलता करते हैं। माहिं, नाहिं, याहि, वाहि, जाहि के अंत का 'ह' उच्चारण में घिस सा गया है, इससे इनका उच्चारण 'मायँ', 'नायँ', 'याय', 'वाय', 'जाय' के ऐसा होता है। 'आवेंगे' 'जावेंगे' का उच्चारण सुनने में 'आमैंगे' 'जामैंगे' सा लगता है, पर लिखने में इनका अनुसरण करना ठीक नहीं होगा।

खड़ी बोली में काल बतानेवाले क्रियापद ('है' को छोड़) भूत और वर्त्तमान कालवाची धातुज कृदंत अर्थात् विशेषण ही हैं। इसी से उनमें लिंगभेद रहता है। जैसे आता है = आता हुआ है = सं० आयान् (आयांत), उपजता है = उपजता हुआ है = प्राकृत उपजंत = सं० उत्पद्यन्, (उत्पद्यंत), करता है = करता हुआ है = प्रा० करंत = सं० कुर्वन् (कुर्वंत), आती है = आती हुई है = प्रा० आयंती = सं० आयांती, उपजती है = उपजती हुई है = प्रा० उपजंती = सं०* उत्पद्यंती, करती है = करती हुई है = प्रा० करंती = सं०* कुर्वंती। इसी प्रकार वह गया = स गतः, उसने किया = तेन कृतम् इत्यादि हैं। पर व्रजभाषा और अवधी में वर्तमान और भविष्यत् के तिङंत रूप भी हैं जिनमें लिंग-भेद नहीं है। व्रज के वर्त्तमान में यह विशेषता है कि बोलचाल की भाषा में तिङंत प्रथम पुरुष क्रियापद के आगे पुरुषबोधन के लिये 'है' 'हूँ' और 'हौ' जोड़ दिए जाते हैं। जैसे—सं० चलति = प्रा० चलइ = व्रज० चलै, सं० उत्पद्यते = प्रा० उपज्जइ = व्रज० उपजै, सं० पठंति = प्रा० पढंति, अप० पढ़इँ = व्रज० पढ़ैं, उत्तम पुरुष सं० पठामः = प्रा० पठामो, अप० पढ़उँ = व्रज० पढ़ौं या पढ़ूँ। अब व्रज में ये क्रियाएँ 'होना' के रूप लगाकर बोली जाती हैं। जैसे—चलै है, उपजै है, पढ़ैं हैं, पढ़ौं हौं या पढ़ूँ हूँ। इसी प्रकार मध्यम पुरुष "पढ़ौ हौ" होगा। वर्तमान के तिङंत रूप अवधी की बोलचाल से अब उठ गए हैं, पर कविता में बराबर आए हैं; जैसे—(क) पंगु चढ़ै गिरिवर गहन, (ख) बिनु पद चलै सुनै बिनु काना। भविष्यत् के तिङंत रूप अवधी और व्रज दोनों में एक ही हैं; जैसे—करिहै, चलिहै, होयहै = अप० करिहइ, चलिहइ, होइहइ = प्रा० करिस्सइ, चलिस्सइ, होइस्सइ = सं० करिष्यति, चलिष्यति, भविष्यति। अवधी में उच्चारण अपभ्रंश के अनुसार ही हैं, पर व्रज में 'इ' के स्थान पर 'य' वाली प्रवृत्ति के अनुसार करिहय = करिहै, होयहय = होयहै इत्यादि रुप हो जायँगे। 'य' के पूर्व

के 'आ' को लघु करके दोहरे रूप भी होते हैं; जैसे, अयहै = ऐहै, जयहै = जैहै; करयहै = करैहै इत्यादि। उत्तम पुरुष खयहौं = खैहौं, अयहौं = ऐहौं, जयहौं = जैहौं।

ब्रजभाषा में बहुवचन के कारक-चिह्न-ग्राही-रूप में खड़ी बोली के समान 'ओं' (जैसे लड़कों को) नहीं होता, अवधी के समान 'न' होता है। जैसे—घोड़ान को, घोड़न को, छोरान को, छोरन को इत्यादि। अवधी में केवल दूसरा रूप होता है, पहला नहीं। उ०—देखहु बनरन केरि ढिठाई।—तुलसी।

खड़ी बोली में कारक के चिह्न विभक्ति से पृथक् हैं। विलायती मत कहकर हम इसका तिरस्कार नहीं कर सकते। आगे चलकर हम इसका विचार विशेष रूप से करेंगे। इसका स्पष्ट प्रमाण खड़ी बोली के संबंध कारक के सर्वनाम में मिलता है। जैसे, किसका = सं० कस्य = प्रा० पुं० किस्स + कारक चिह्न 'का'। काव्यों की पुरानी हिंदी में संबंध की 'हि' विभक्ति (माग० 'ह', अप० 'हो') सब कारकों का काम दे जाती है। अवधी में अब भी सर्वनाम में कारक चिह्न लगने के पहले यह 'हि' आता है। जैसे—'केहिकाँ' (पुराना रूप—केहि कहँ), 'केहि कर', यद्यपि बोलचाल में अब यह 'हि' निकलता जा रहा है। ब्रजभाषा से इस 'हि' को उड़े बहुत दिन हो गए। उसमें 'काहि को' 'जाहि को' आदि के स्थान पर 'काको' 'जाको' आदि का प्रयोग बहुत दिनों से होता है। यह उस भाषा के अधिक चलतेपन का प्रमाण है। खड़ी बोली में सर्वनामों (जैसे, मुझे, तुझे, हमें, मेरा, तुम्हारा, हमारा) को छोड़ विभक्ति से मिले हुए सिद्ध रूप व्यक्त नहीं हैं, पर अवधी और ब्रजभाषा में हैं। जैसे पुराने रूप 'रामहिं', 'वनहिं', 'घरहिं', नए रूप 'रामै' 'वनै' 'घरै' (अर्थात् राम को, वन को, घर को); अवधी या पूरबी—"घरे" = घर में।

जैसा पहले कहा जा चुका है, ब्रज की चलती बोली से पदांत के 'ह' को निकले बहुत दिन हुए। ब्रजभाषा की कविता में 'रामहिं' 'आवहिं' 'जाहिं' 'करहिं' 'करहु' आदि जो रूप देखे जाते हैं, वे पुरानी परंपरा के अनुसरण मात्र हैं। खड़ी बोली के समान कुछ सर्वनामों जाहि, चाहि, तिन्हें, जिन्हें में यह 'ह' रह गया है। चलती भाषा में 'रामै' 'बनै' 'आवैं' 'जायँ' 'करें', 'करौं' ही बहुत दिनों से, जब से प्राकृत-काल का अंत हुआ तब से, हैं। सूरदास में ये ही रूप बहुत मिलते हैं। कविता में नए पुराने दोनों रूपों का साथ साथ पाया जाना केवल परंपरा का निर्वाह ही नहीं, कवियों का आलस्य और भाषा की उतनी परवा न करना भी सूचित करता है। 'आवैं', 'चलावैं' के स्थान पर 'आवहिं'

'चलावहिं' तो क्या 'आवहीं' 'चलावहीं' तक लिखे जाने से भाषा की सफाई जाती रही। शब्दों का अंग भंग करने का 'कविंदों' ने ठेका सा ले लिया। समस्यापूर्ति की आदत के कारण कवित्त के अंतिम चरण की भाषा तो ठिकाने की होती थी, पर शेष चरण इस बात को भूलकर पूरे किए जाते थे कि शब्दों के नियत रूप और वाक्यों के कुछ निर्दिष्ट नियम भी होते हैं। पर भाषा के जीते-जागते रूप को पहचाननेवाले रसखान और घनानंद ऐसे कवियों ने ऐसे सड़े-गले या विकृत रूपों का प्रयोग नहीं किया, किया भी है तो बहुत कम 'आवहिं', 'जाहिं', 'करहिं', 'कहहुँ' न लिखकर उन्होंने बराबर 'आवैं', 'जायँ', 'करें', 'कहौं' लिखा है। इसी प्रकार 'इमि', 'जिमि', तिमि' के स्थान पर वे बराबर चलती भाषा के 'यों', 'ज्यों', 'त्यों' लाए हैं। व्रज की चलती भाषा में केवल सर्वनाम के कर्म में 'ह' कुछ रह गया है, जैसे, जाहि, ताहि, वाहि, जिन्है, तिन्हें। पर 'जाहि' 'वाहि' के उच्चारण में 'ह' घिसता जा रहा है, लोग 'जाय' 'वाय' के समान उच्चारण करते हैं।

हिंदी की तीनों बोलियों (खड़ी, व्रज और अवधी) में व्यक्तिवाचक सर्वनाम कारक चिह्न के पहले अपना कुछ रूप बदलते हैं। व्रजभाषा में अवधी का सा विकार होता है, खड़ी बोली का सा नहीं।

खड़ी	अवधी	व्रज
मैं–तू–वह	मैं–तैं–वह, सो, ऊ	मैं–तू या तैं–वह–सो
मुझ–तुझ–उस	मो–तो–वा, ता, ओ	मो–तो वा, ता

'ने' चिह्न तो अवधी में आता ही नहीं। व्रज में उत्तम पुरुष कर्त्ता का रूप 'ने' लगने पर 'मैं' ही रहता है। ऊपर अवधी में प्रथम पुरुष का तीसरा रूप पूरबी अवधी का है। व्रज में एकवचन उत्तम पुरुष 'हा' भी आता है जिसमें कोई कारक चिह्न नहीं लग सकता। वास्तव में इसका प्रयोग कर्ता कारक में होता है, पर केशव ने कर्म में भी किया है। यथा—पुन हौं विधवा करी तुम कर्म कीन्ह दुरंत।

जाना, होना के भूतकाल के रूप (गया, भया) में से य उड़ाकर जैसा अवधी में गा, भा रूप होते हैं, वैसे ही व्रज में भी य उड़ाकर गो, भो (ब० गे, भे) रूप होते हैं। उ०—(क) इत पारि गो को मैया मेरी सेज पे कन्हैया को ?—पद्माकर। (ख) सौतिन के साल भो, निहाल नंदलाल भो।—मतिराम।

खड़ी बोली करण का चिह्न 'से' क्रिया के साधारण रूप में लगाती है, व्रज और अवधी प्राय भूतकालिक कृदंत में ही लगाती हैं, जैसे—

ब्रज० 'किए तें' अवधी 'किएसन' = करने से। कारक चिह्न प्रायः उड़ा भी दिया जाता है, केवल उसका सूचक विकार क्रिया के रूप में रह जाता है; जैसे—किए, दीने।

क्रिया का वर्तमान कृदंत रूप ब्रजभाषा खड़ी बोली के समान गुर्वंत भी रखती है; जैसे—आवतो, जातो, भावतो, सुहातो। (उ०—जब चहिहैं तब माँगि पठैहैं जो कोउ आवत जातो।—सूर।) और अवधी के समान लघ्वंत भी; जैसे आवत, जात, भावत, सुहात। कविता में सुभीते के लिये लघ्वंत का ही ग्रहण अधिक है। जिन्हें ब्रज और अवधी के स्वरूप का ज्ञान नहीं होता, वे 'जात' को भी 'जावत' लिख जाते हैं।

खड़ी बोली में साधारण क्रिया का केवल एक ही रूप 'ना' से अंत होनेवाला (जैसे, आना, जाना, करना) होता है; पर ब्रजभाषा में तीन रूप होते हैं—एक तो 'नो' से अंत होनेवाला; जैसे—आवनो, करनो, लेनो, देनो; दूसरा 'न' से अंत होनेवाला; जैसे—आवन, जान, लेन, देन; तीसरा 'बो' से अंत होनेवाला; जैसे—आयबो, करिबो, दैबो, या लैबो इत्यादि। करना, देना और लेना, के 'कीबो', 'दीबो' और 'लीबो' रूप भी होते हैं। ब्रज के तीनों रूपों में से कारक के चिह्न पहले रूप (आवनो, जानो) में नहीं लगते, पिछले दो रूपों में ही लगते हैं। जैसे—आवन को, जान को, दैबे को इत्यादि। शुद्ध अवधी में कारक चिह्न लगने पर साधारण क्रिया का रूप वर्तमान तिङंत का हो जाता है; जैसे—आवइ के, जाइ के, आवइ में, जाइ में अथवा आवइ काँ, जाइ काँ, आवइ माँ, जाइ माँ। उ०—जात पवनसुत देवन देखा। जानइ चह बल बुद्धि बिसेखा।—तुलसी।

पूरबी या शुद्ध अवधी में साधारण क्रिया के अंत में ब रहता है; जैसे—आउब, जाब, करब, हँसब इत्यादि। इस ब की असली जगह पूरबी भाषाएँ ही हैं जो इसका व्यवहार भविष्यत् काल में भी करती हैं; जैसे—पुनि आउब यहि बेरियाँ काली।—तुलसी। उत्तम पुरुष (हम करब, मैं करबौं) और मध्यम पुरुष (तू करबा, तैं करबे) में तो यह बराबर बोला जाता है; पर साहित्य में प्रथम पुरुष में भी बराबर इसका प्रयोग मिलता है। यथा—(क) तिन निज ओर न लाउब भोरा।—तुलसी। (ख) घर पइठत पूछब यहि हारू। कौन उतरु पाउब पैसारू।—जायसी। पर ऐसा प्रयोग सुनने में नहीं आया। मध्यम पुरुष में विशेष कर आज्ञा और विधि में ब में ई मिलाकर ब्रज के दक्षिण से लेकर बुंदेलखंड तक बोलते हैं; जैसे आयबी, करबी इत्यादि। उ०—(क) यह राज साज समेत सेवक जानिबी बिनु गथ लए। (ख) ए

दारिका परिचारिका करि पालिबी करुनामई।—तुलसी। यह प्रयोग व्रजभाषा के ही अंतर्गत है और साहित्य में प्रायः सब प्रदेशों के कवियों ने इसे किया है; सूर, बोधा, मतिराम, दास यहाँ तक कि रामसहाय ने भी। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, जब साहित्य की एक व्यापक और सामान्य भाषा बन जाती है, तब उसमें कई प्रदेशों के प्रयोग आ मिलते हैं। साहित्य की भाषा को जो व्यापकत्व प्राप्त होता है, वह इसी उदारता के बल से। इसी प्रकार 'स्यो' (= सह, साथ) शब्द बुँदेलखंड का समझा जाता है, जिसका प्रयोग केशवदासजी ने, जो बुँदेलखंड के थे, किया है; यथा—"अलि स्यो सरसीरुह राजत है।" विहारी ने तो इसका प्रयोग किया ही है, पर उन्होंने जैसे करिबी और स्यो का प्रयोग किया है, वैसे ही अवधी कीन, दीन, केहि (=किसने) का प्रयोग भी तो किया है। स्यो का प्रयोग दासजी ने भी किया है जो खास अवध के थे; यथा—स्यो ध्वनि अर्थनि वाक्यनि लै गुण शब्द अलंकृत सों रति पाकी। अतः किसी के काव्य में स्थानविशेष के कुछ शब्दों को पाकर चटपट यह निश्चय न कर लेना चाहिए कि वह उस स्थान ही का रहनेवाला था। सूरदास ने पंजाबी और पूरबी शब्दों का व्यवहार किया है। अब उन्हें पंजाबी कहें या पुरबिया? उदाहरण लीजिए—जोग-मोट सिर बोझ आनि कै कत तुम घोप उतारी। एतिक दूरि जाहु चलि काशी जहाँ बिकति है प्यारी। महँगा के अर्थ में 'प्यारा' पंजाबी है। अब पूरबी का नमूना लीजिए—गोड़ चापि लै जीभ मरोरी। गोड़ (पैर) खास पूरबी है।

इस प्रकार हिंदी की तीन मुख्य भाषाएँ, व्रजभाषा, अवधी और खड़ी बोली का विवेचन समाप्त होता है। साधारणतः हम कह सकते हैं कि व्रजभाषा ओकार-बहुला, अवधी एकार-बहुला और खड़ी बोली आकार-बहुला भाषा है।

छठा अध्याय

हिंदी का शास्त्रीय विकास

हिंदी का ऐतिहासिक विकास हम देख चुके हैं पर भाषा-विज्ञान की दृष्टि से किसी भी भाषा का विकास दिखाने के लिये उस भाषा की ध्वनि, रूप और अर्थ—तीनों का ऐतिहासिक अध्ययन किया जाता है। यदि हिंदी का भी इसी प्रकार का अध्ययन किया जाय तो एक बड़ा ग्रंथ बन सकता है—भारोपीय काल की भाषा से लेकर वैदिक, पाली, प्राकृत, अपभ्रंश, अवहट्ट, पुरानी हिंदी और आधुनिक हिंदी तक का अध्ययन करना पड़ता है। यहाँ पूरे विस्तार के साथ विवेचन करने के लिये स्थान नहीं है तो भी संक्षिप्त परिचय देने के लिये हम क्रम से हिंदी की ध्वनि, रूप और अर्थ का विवेचन करेंगे।

हिंदी ध्वनि-समूह का परिचय

परिचय देने में जिन पारिभाषिक शब्दों की हमारे अन्य ग्रंथों में व्याख्या हो चुकी है उन्हीं का हम प्रयोग करेंगे। जैसे यदि हम कहें कि 'क' 'श्वास कंठ्य स्पर्श' है तो इस वर्णन से यह समझ लेना चाहिए कि 'क' एक व्यंजन है जिसके उच्चारण में जिह्वामध्य ऊपर उठकर कंठ (अर्थात् कोमल तालु) को छू लेता है; कोमल तालु इतना ऊँचा उठा रहता है कि हवा नासिका में नहीं जा पाती अर्थात् यह ध्वनि अनुनासिक नहीं है; हवा जब फेफड़ों में से निकलकर ऊपर को आती है तो स्वरतंत्रियाँ कंपन नहीं करतीं (इसी से तो वह श्वास-ध्वनि है); और जीभ कंठ को छूकर इतनी शीघ्र हट जाती है कि स्फोट-ध्वनि उत्पन्न हो जाती है (इसी से वह स्पर्श-ध्वनि कही जाती है)। इसी प्रकार यदि 'इ' को 'संवृत अग्र' स्वर कहा जाता है तो उससे यह समझ लेना चाहिए कि 'इ' एक स्वर है; उसके उच्चारण में जिह्वाग्र कोमल तालु के इतने पास उठकर पहुँच जाता है कि मार्ग बंद सा हो जाने पर घर्षण नहीं सुनाई पड़ता और कोमल तालु नासिकामार्ग को बंद किए रहता है।

स्वर

(१) अ—यह ह्रस्व, अर्द्धविवृत, मिश्र स्वर है अर्थात् इसके उच्चारण में जिह्वा की स्थिति न बिलकुल पीछे रहती है और न बिलकुल

आगे। और यदि जीभ की खड़ी स्थिति अर्थात् ऊँचाई-निचाई का विचार करें तो इस ध्वनि के उच्चारण में जीभ नीचे नहीं रहती—थोड़ा सा ऊपर उठती है इससे उसे अर्द्धविवृत मानते हैं। इसका उच्चारण-काल केवल एक मात्रा है। उदाहरण—अब, कमल, घर, में अ, क, म, घ।

समानाक्षर

यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि हिंदी शब्द और अक्षर के अंत में अ का उच्चारण नहीं होता। ऊपर के ही उदाहरणों में ब, ल, र में हलंत उच्चारण होता है—अ का उच्चारण नहीं होता। पर इस नियम के अपवाद भी होते हैं जैसे दीर्घ स्वर अथवा संयुक्त व्यंजन का परवर्ती अ अवश्य उच्चरित होता है; जैसे—सत्य, सीय। 'न' के समान एकाक्षर शब्दों में भी अ पूरा उच्चारित होता है; पर यदि हम वर्णमाला में अथवा अन्य किसी स्थल में क, ख, ग आदि वर्णों को गिनाते हैं तो अ का उच्चारण नहीं होता अतः 'क' लिखा रहने पर भी ऐसे प्रसंगों में वह हलंत क् ही समझा जाता है।

(२) आ—यह दीर्घ और विवृत पश्च स्वर है और प्रधान आ से बहुत कुछ मिलता-जुलता है। यह अ का दीर्घ रूप नहीं है क्योंकि दोनों में मात्रा-भेद ही नहीं, प्रयत्न-भेद और स्थान-भेद भी है। अ के उच्चारण में जीभ बीच में रहती है और आ के उच्चारण में बिलकुल पीछे रहती है अतः स्थान-भेद हो जाता है। यह स्वर ह्रस्व रूप में व्यवहृत नहीं होता।

उदा०—आदमी, काम, स्थान।

(३) ऑ—अँगरेजी के कुछ तत्सम शब्दों के बोलने और लिखने में ही इस अर्धविवृत पश्च ऑ का व्यवहार होता है। इसका स्थान आ से ऊँचा और प्रधान स्वर ऑं से थोड़ा नीचा होता है।

उदा०—कॉङ्ग्रेस, लॉर्ड।

(४) ऑं—यह अर्धविवृत ह्रस्व पश्च वृत्ताकार स्वर है। अर्थात् इसके उच्चारण में जीभ का पिछला भाग (=जिह्वामध्य) अर्धविवृत पश्च प्रधान स्वर की अपेक्षा थोड़ा ऊपर और भीतर की ओर जाकर दब जाता है। होठ गोल रहते हैं। इसका व्यवहार ब्रजभाषा में पाया जाता है।

उदा०—अवलोकि हौँ सोच-विमोचन को (कवितावली, बाल-कांड १); बरु मारिए, मोहिं बिना पग धोए, हौँ नाथ न नाव चढ़ाइहौँ जू (कवितावली, अयोध्याकांड ६)।

(५) ऑं—यह अर्धविवृत दीर्घ पश्च वृत्ताकार स्वर है। प्रधान स्वर ऑ से इसका स्थान कुछ ऊँचा है। इसका व्यवहार भी ब्रजभाषा में ही मिलता है।

उदा०—थाकौं, ऐसौं, गयौं, भयौं।

ओ से इसका उच्चारण भिन्न होता है इसी से प्रायः लोग ऐसे शब्दों में 'औ' लिख दिया करते हैं।

(६) ओ—यह अर्धसंवृत ह्रस्व पश्च वृत्ताकार स्वर है। प्रधान स्वर ओ की अपेक्षा इसका स्थान अधिक नीचा तथा मध्य की ओर झुका रहता है। ब्रजभाषा और अवधी में इसका प्रयोग मिलता है। पुनि लेत सोई जेहि लागि अरैं (कवितावली, बालकांड, ४), ओहि केर बिटिया (अवधी बोली)।

(७) ओ—यह अर्धसंवृत दीर्घ पश्च वृत्ताकार स्वर है। हिंदी में यह समानाक्षर अर्थात् मूलस्वर है। संस्कृत में भी प्राचीन काल में ओ संध्यक्षर था पर अब तो न संस्कृत ही में यह संध्यक्षर है और न हिंदी में।

उदा०—ओर, ओला, हटो, घोड़ा।

(८) उ—यह संवृत ह्रस्व पश्च वृत्ताकार स्वर है। इसके उच्चारण में जिह्वामध्य अर्थात् जीभ का पिछला भाग कंठ की ओर काफी ऊँचा उठता है पर दीर्घ ऊ की अपेक्षा नीचा तथा आगे मध्य की ओर झुका रहता है।

उदा०—उस, मधुर, ऋतु।

(९) उ॰—यह जपित ह्रस्व संवृत पश्च वृत्ताकार स्वर है। हिंदी की कुछ बोलियों में 'जपित' अर्थात् फुसफुसाहटवाला उ भी मिलता है।

उदा०—ब्र० जातु॰, ब्र० आवतु॰; अव० भोरु॰।

(१०) ऊ—यह संवृत दीर्घ पश्च वृत्ताकार स्वर है। इसका उच्चारण प्रधान स्वर ऊ के स्थान से थोड़े ही नीचे होता है। इसके उच्चारण में ह्रस्व उ की अपेक्षा ओठ भी अधिक संकीर्ण (बंद से) और गोल हो जाते हैं।

उदा०—ऊसर, मूसल, आलू।

(११) ई—यह संवृत दीर्घ अग्र स्वर है। इसके उच्चारण में जिह्वाग्र ऊपर कठोर तालु के बहुत निकट पहुँच जाता है तो भी वह प्रधान स्वर ई की अपेक्षा नीचे [ही रहता है, और होठ भी फैले रहते हैं।

उदा०—ईस, अहीर, पाती।

(१२) इ—यह संवृत ह्रस्व अग्र स्वर है। इसके उच्चारण में जिह्वा-स्थान ई की अपेक्षा कुछ अधिक नीचा तथा पीछे मध्य की ओर रहता है तथा होठ फैले तथा ढीले रहते हैं।

उदा०—इमली, मिठाई, जाति।

(१३) इ॰—यह इ का जपित रूप है। दोनों में अंतर इतना है कि इ नाद और घोष ध्वनि है पर इ॰ जपित है। यह केवल ब्रज, अवधी आदि बोलियों में मिलती है।

उदा०—ब्र० आवतइ॰, अव० गोलि॰।

(१४) ए—यह अर्धसंवृत दीर्घ अग्र स्वर है। इसका उच्चारण-स्थान प्रधान स्वर ए से कुछ नीचा है।

उदा०—एक, अनेक, रहे।

(१५) ए—यह अर्धसंवृत ह्रस्व अग्र स्वर है। इसके उच्चारण में जिह्वाग्र ए की अपेक्षा नीचा और मध्य की ओर रहता है। इसका भी व्यवहार विभाषाओं और बोलियों में ही होता है।

उदा०—ब्र०—अवधेस के द्वारे सकारे गई (कवितावली), अव० आहि केर बेटवा।

(१६) ए॰—नाद ए का यह जपित रूप है और कोई भेद नहीं है। यह ध्वनि भी साहित्यिक हिंदी में नहीं है, केवल बोलियों में मिलती है; जैसे—अवधी-कहेस॰।

(१७) ऍ—यह अर्धविवृत दीर्घ अग्र स्वर है। इसका स्थान प्रधान स्वर ऍ से कुछ ऊँचा है। ऑ के समान ऍ भी ब्रज की बोली की विशेषता है।

उदा०—ऍसो, कॅसो।

(१८) ऍ—यह अर्धविवृत ह्रस्व अग्र स्वर है। यह दीर्घ ए की अपेक्षा थोड़ा नीचा और भीतर की ओर झुका रहता है।

उदा०—सुत गोद कॅ भूपति लै निकसे मैं कॅ। हिंदी संध्यक्षर ऐ भी शीघ्र बोलने से ह्रस्व समानाक्षर ऍ के समान सुन पड़ता है।

(१९) अ'—यह अर्धविवृत ह्रस्वार्ध मिश्र स्वर है और हिंदी 'अ' से मिलता-जुलता है। इसके उच्चारण में जीभ 'अ' की अपेक्षा थोड़ा और ऊपर उठ जाती है। जब यह ध्वनि काकल से निकलती है तब काकल के ऊपर के गले और मुख में कोई निश्चित क्रिया नहीं होती; इससे इसे अनिश्चित (Indeterminate) अथवा उदासीन (neutral) स्वर कहते हैं। इस पर कभी बल-प्रयोग नहीं होता। अँगरेजी में इसका संकेत ə है। पंजाबी भाषा में यह ध्वनि बहुत शब्दों

में सुन पड़ती है; जैसे—पं० रईस, व'चारा (हिं० विचारा), नौकर।
कुछ लोगों का मत है कि यह उदासीन अं पश्चिमी हिंदी की पश्चिमी बोली में भी पाया जाता है। अवधी में तो यह पाया ही जाता है; जैसे—सोरही रामक।

आजकल की टकसाली खड़ी बोली के उच्चारण के विचार से इन १६ अक्षरों में से केवल ६ ही विचारणीय हैं—अ, आ, ऑ, इ, ई, उ, ऊ, ए, ओ। उनमें भी ऑ केवल विदेशी शब्दों में प्रयुक्त होता है अर्थात् हिंदी में समानाक्षर आठ ही होते हैं। इसके अतिरिक्त हिंदी में ह्रस्व ऍ और ओ का भी व्यवहार होता है; जैसे—ऍक्का, सोनार, लोहार। शेष विशेष स्वर विभाषाओं और बोलियों में ही पाए जाते हैं।

खड़ी बोली के स्वर

ऊपर वर्णित सभी अक्षरों के प्रायः अनुनासिक रूप भी मिलते हैं पर इनका व्यवहार शब्दों में सभी स्थानों पर नहीं होता—कुछ विशेष स्थानों पर ही होता है। हिंदी की बोलियों में बुँदेली अधिक अनुनासिक-बहुला है।

अनुनासिक स्वर

अनुनासिक और अननुनासिक स्वरों का उच्चारण-स्थान तो वही रहता है; अनुनासिक स्वरों के उच्चारण में केवल कोमल तालु और कौआ कुछ नीचे झुक जाते हैं जिससे हवा मुख के अतिरिक्त नासिका-विवर में भी पहुँच जाती है और गूँजकर निकलती है। इसी से स्वर 'अनुनासिक' हो जाते हैं। उदाहरण—

अँ—अँगरखा, हँसी, गँवार।
आँ—आँसू, बाँस, साँचा।
इँ—बिँदिया, सिँघाड़ा, धनिँया।
ईं—ईंट, ईंगुर, सींचना, आईं।
उँ—घुँघची, बुँदेली, मुँह।
ऊँ—ऊँघना, सूँघना, गेहूँ।
एं—गेंद, ऐंचा, बातें।

इसके अतिरिक्त ब्रज के लौं, सौं, हौं, मैं आदि अवधी के घंटुआ, गोंठिबा (गाँठ में बाँधूँगा) आदि शब्दों में अन्य विशेष स्वरों के अनुनासिक रूप भी मिलते हैं।

संध्यक्षर उन असवर्ण स्वरों के समूह को कहते हैं जिनका उच्चारण श्वास के एक ही वेग में होता है अर्थात् जिनका उच्चारण एक अक्षरवत् होता है। संध्यक्षर के उच्चारण में मुखावयव एक स्वर के उच्चारण-स्थान से दूसरे स्वर के उच्चारण-स्थान की ओर बड़ी शीघ्रता

से जाते हैं जिससे साँस के एक ही झोंके में ध्वनि का उच्चारण होता है और अवयवों में परिवर्तन स्पष्ट लक्षित नहीं होता, क्योंकि इस परिवर्तन-काल में ही तो ध्वनि स्पष्ट होती है। अतः संध्यक्षर अथवा संयुक्त स्वर एक अक्षर हो जाता है; उसे ध्वनि-समूह अथवा अक्षर-समूह मानना ठीक नहीं। पर व्यावहारिक दृष्टि से देखा जाय तो कई स्वर निकट आने से इतने शीघ्र उच्चरित होते हैं कि वे संध्यक्षर से प्रतीत होते हैं। इससे कुछ विद्वान् अनेक स्वरों के संयुक्त रूपों को भी संध्यक्षर मानते हैं।

संध्यक्षर अथवा संयुक्त स्वर

हिंदी में सच्चे संध्यक्षर दो ही हैं और उन्हीं के लिये लिपि चिह्न भी प्रचलित हैं। (१) ऐ ह्रस्व अ और ह्रस्व ए की संधि से बना है; उदा०—पैसा, कैसा, वैर। और (२) औ ह्रस्व अ और ह्रस्व ओ की संधि से बना है; उदा०—औरत, बौनी, कौड़ी, सौ। इन्हीं दोनों ऐ, औ का उच्चारण कई बोलियों में अइ, अउ के समान भी होता है; जैसे—पैसा और मौसी, पइसा और मउसी के समान उच्चरित होते हैं।

यदि दो अथवा अनेक स्वरों के संयोग को संध्यक्षर मान लें तो भैआ, कौआ, आओ, बोए आदि में अइआ, अउआ, आओ, ओए आदि संध्यक्षर माने जा सकते हैं। इन तीन अथवा दो अक्षरों का शीघ्र उच्चारण मुखद्वार की एक अवस्था से दूसरी अवस्था में परिवर्तित होते समय किया जाता है, इसी से इन्हें लोग संध्यक्षर मानते हैं। इनके अतिरिक्त ब्रज, अवधी आदि बोलियों में अनेक स्वर-समूह पाए जाते हैं जो संध्यक्षर जैसे उच्चरित होते हैं। उदा०—(ब्र०) अइसी, गऊ और (अवधी) होइहै, होउ आदि।

व्यंजन

(१) क़—यह अल्पप्राण श्वास, अघोष, जिह्वामूलीय, स्पर्श व्यंजन है। इसका स्थान जीभ तथा तालु दोनों की दृष्टि से सबसे पीछे है। इसका उच्चारण जिह्वामूल और कौए के स्पर्श से होता है। वास्तव में यह ध्वनि विदेशी है और अरबी-फारसी के तत्सम शब्दों में ही पाई जाती है। प्राचीन साहित्य में तथा साधारण हिंदी में क़ के स्थान पर क हो जाता है।

स्पर्श-व्यंजन

उदा०—क़ाबिल, मुक़ाम, ताक़।

(२) क—यह अल्पप्राण, अघोष, कंठ्य स्पर्श है। इसके उच्चारण में जीभ का पिछला भाग अर्थात् जिह्वामध्य कोमल तालु को छूता है। ऐसा अनुमान होता है कि प्रा० भा० आ० काल में कवर्ग का उच्चारण और भी पीछे होता था। क्योंकि कवर्ग 'जिह्वामूलीय' माना

जाता था। पीछे कंठ्य हो गया। कंठ्य का अर्थ गले में उत्पन्न (guttural) नहीं लिया जाता। कंठ कोमल तालु का पर्याय है, अतः कंठ्य का अर्थ है 'कोमल-तालव्य'।

उदा०—कम, चकिया, एक।

(३) ख—यह महाप्राण, अघोष, कंठ्य-स्पर्श है। क और ख में केवल यही भेद है कि ख महाप्राण है।

उदा०—खेत, भिखारी, सुख।

(४) ग—अल्पप्राण, घोष, कंठ्य स्पर्श है।

उदा०—गमला, गागर, नाग।

(५) घ—महाप्राण, घोष, कंठ्य-स्पर्श है।

उदा०—घर, घिघाना, घघारना, करघा।

(६) ट—अल्पप्राण, अघोष, मूर्धन्य, स्पर्श है। मूर्धा से कठोर तालु का सबसे पिछला भाग समझा जाता है पर आज समस्त टवर्गी ध्वनियाँ कठोर तालु के मध्यभाग में उलटी जीभ की नोक के स्पर्श से उत्पन्न होती हैं। तुलना की दृष्टि से देखा जाय तो अवश्य ही मूर्धन्य वर्णों का उच्चारण-स्थान तालव्य वर्णों की अपेक्षा पीछे है। वर्ण-माला में कंठ्य, तालव्य, मूर्धन्य और दंत्य वर्णों को क्रम से रखा जाता है इससे यह न समझना चाहिए कि कंठ के बाद तालु और तब मूर्धा आता है। प्रत्युत कंठ्य और तालव्य तथा मूर्धन्य और दंत्य वर्णों के परस्पर संबंध को देखकर यह वर्णक्रम रखा गया है—वाक् से वाच् का और विकृत से विकट का संबंध प्रसिद्ध ही।

उदा०—टीका, रटना, चौपट।

अँगरेजी में ट, ड् ध्वनि नहीं हैं। अँगरेजी t और d वर्त्स्य हैं अर्थात् उनका उच्चारण ऊपर के मसूढ़े को बिना उलटी हुई जीभ की नोक से छूकर किया जाता है; पर हिंदी में वर्त्स्य ध्वनि न होने से बोलनेवाले इन अँगरेजी ध्वनियों को प्रायः मूर्धन्य बोलते हैं।

(७) ठ—महाप्राण, अघोष, मूर्धन्य, स्पर्श है।

उदा०—ठाट, कठघरा, साठ।

(८) ड—अल्पप्राण, घोष, मूर्धन्य, स्पर्श-व्यंजन है।

उदा०—डाक, गाडर, गँडेरी, टोडर, गड्ढा, खड।

(९) ढ—महाप्राण, घोष, मूर्धन्य स्पर्श है।

उदा०—ढकना, ढोला, पंढ, पंढरपूर, मेंढक।

ढ का प्रयोग हिंदी तद्भव शब्दों के आदि में ही पाया जाता है। पंढ संस्कृत का और पंढरपूर मराठी का है।

(१०) त—अल्पप्राण, अघोष, दंत्य-स्पर्श है। इसके उच्चारण में जीभ की नोक दाँतों की ऊपरवाली पंक्ति को छूती है।

उदा०—तब, मतवाली, बात।

(११) थ—त और थ में केवल यही भेद है कि थ महाप्राण है।

उदा०—थोड़ा, पत्थर, साथ।

(१२) द—इसका भी उच्चारण त की भाँति होता है। यह अल्पप्राण, घोष, दंत्य स्पर्श है।

उदा०—दादा, मदारी, चाँदी।

(१३) ध—महाप्राण, घोष, दंत्य स्पर्श है।

उदा०—धान, बधाई, आधा।

(१४) प—अल्पप्राण, अघोष, ओष्ठ्य स्पर्श है। ओष्ठ्य ध्वनियों के उच्चारण में दोनों ओठों का स्पर्श होता है और जीभ से सहायता नहीं ली जाती। यदि कोई ओष्ठ्य वर्ण शब्द अथवा 'अक्षर' के अंत में आता है तो उसमें केवल स्पर्श होता है, स्फोट नहीं होता।

उदा०—पत्ता, अपना, बाप।

(१५) फ—यह महाप्राण, अघोष, ओष्ठ्य स्पर्श है।

उदा०—फूल, बफारा, कफ।

(१६) ब—अल्पप्राण, घोष, ओष्ठ्य स्पर्श है।

उदा०—बीन, धोबिन, अब।

(१७) भ—यह महाप्राण, घोष, ओष्ठ्य स्पर्श है।

उदा०—भला, मनभर, साँभर, कमी।

(१८) च—च के उच्चारण में जिह्वोपाग्र ऊपरी मसूढ़ों के पास के तालव्य का इस प्रकार स्पर्श करता है कि एक प्रकार की रगड़ होती है अतः यह घर्ष-स्पर्श अथवा स्पर्श-संघर्षी ध्वनि मानी जाती है। तालु की दृष्टि से देखें तो कंठ के आगे टवर्ग आता है और उसके आगे चवर्ग अर्थात् चवर्ग का स्थान आगे की ओर बढ़ गया है।

घर्ष-स्पर्श

च—अल्पप्राण, अघोष, तालव्य घर्ष-स्पर्श व्यंजन है।

उदा०—चमार, कचनार, नाच।

(१९) छ—महाप्राण, अघोष, तालव्य घर्ष-स्पर्श वर्ण है।

उदा०—छिलका, कुछ, कछार।

(२०) ज—अल्पप्राण, घोष, तालव्य स्पर्श-घर्ष वर्ण है।

उदा०—जमना, जाना, काजल, आज।

(२१) झ—महाप्राण, घोष, तालव्य घर्ष-स्पर्श वर्ण है।

उदा०—झाड़, सुलझाना, बाँझ।

(२२) ङ—घोष, अल्पप्राण, कंठ्य, अनुनासिक स्पर्श-ध्वनि है। इसके उच्चारण में जिह्वामध्य कोमल तालु का स्पर्श करता है और कौआ सहित कोमल तालु कुछ नीचे झुक आता है जिससे कुछ हवा नासिका-विवर में पहुँचकर गूँज उत्पन्न कर देती है। इस प्रकार स्पर्श-ध्वनि अनुनासिक हो जाती है।

अनुनासिक

शब्दों के बीच में कवर्ग के पहले ङ सुनाई पड़ता है। शब्दों के आदि या अंत में इसका व्यवहार नहीं होता। स्वर-सहित ङ का भी व्यवहार हिंदी में नहीं पाया जाता।

उदा०—रंक, शंख, कंघा, भंगी।

(२३) ञ्—घोष, अल्पप्राण, तालव्य, अनुनासिक ध्वनि है। हिंदी में यह ध्वनि होती ही नहीं और जिन संस्कृत शब्दों में वह लिखी जाती है उनमें भी उसका उच्चारण न् के समान होता है जैसे—चञ्चल, अञ्चल आदि का उच्चारण हिंदी में चन्चल, अन्चल की भाँति होता है। कहा जाता है कि व्रज, अवधी आदि में ञ ध्वनि पाई जाती है; पर खड़ी बोली के साहित्य में यह नहीं मिलती।

(२४) ण—अल्पप्राण, घोष, मूर्धन्य अनुनासिक स्पर्श है। स्वर-सहित ण केवल तत्सम संस्कृत शब्दों में मिलता है और वह भी शब्दों के आदि में नहीं।

उदा०—गुण, मणि, परिणाम।

संस्कृत शब्दों में भी पर-सवर्ण 'ण' का उच्चारण 'न' के समान ही होता है। जैसे-सं० पंडित, कंठ आदि पन्डित, कन्ठ आदि के समान उच्चरित होते हैं। अर्द्ध स्वरों के पहले अवश्य हलंत ण ध्वनि सुन पड़ती है, जैसे—कण्व, गण्य, पुण्य आदि। इनके अतिरिक्त जिन हिंदी शब्दों में यह ध्वनि बताई जाती है उनमें 'न' की ही ध्वनि सुन पड़ती है; जैसे—कंडा, गंडा, घंटा, ठंढा।

(२५) न—अल्पप्राण, घोष, वर्त्स्य, अनुनासिक स्पर्श है। इसके उच्चारण में ऊपर के मसूढ़े के जिह्वानीक का स्पर्श होता है। अतः इसे दंत्य मानना उचित नहीं।

उदा०—नमक, कनक, कान, बंदर।

(२६) न्ह—महाप्राण, घोष, वर्त्स्य, अनुनासिक व्यंजन है। पहले इसे विद्वान् संयुक्त व्यंजन मानते थे पर अब कुछ आधुनिक विद्वान् इसे घ, ध, भ आदि की तरह मूल महाप्राण ध्वनि मानते हैं।

उदा०—उन्हें, कन्हैया, जुन्हैया, नन्हा।

(२७) म—अल्पप्राण, घोष, ओष्ठ्य अनुनासिक स्पर्श है।

उदा०—माता, रमता, काम।

(२८) म्ह—महाप्राण, घोष, ओष्ठ्य, अनुनासिक स्पर्श है। न्ह के समान इसे भी अब विद्वान् संयुक्त व्यंजन न मानकर मूल महाप्राण व्यंजन मानते हैं।

उदा०—तुम्हारा, कुम्हार।

यहाँ एक बात ध्यान देने की यह है कि हिंदी के विचार से न, न्ह, म और म्ह, ये ही अनुनासिक ध्वनियाँ हैं। शेष तीन ङ्, ञ् और ण के स्थान में 'न' ही आता है। केवल तत्सम शब्दों में इनका प्रयोग किया जाता है। और अनुस्वार के विचार से तो दो ही प्रकार के उच्चारण होते हैं—न और म।

(२९) ल—पार्श्विक, अल्पप्राण, घोष, वर्त्स्य, ध्वनि है। इसके उच्चारण में जीभ की नोक ऊपर के मसूढ़ों को अच्छी तरह छूती है किंतु साथ ही जीभ के दोनों ओर खुला स्थान रहने से हवा निकला करती है। यद्यपि ल और र एक ही स्थान से उच्चरित होते हैं पर ल पार्श्विक होने से सरल होता है।

पार्श्विक

उदा०—लाल, जलना, फल।

(३०) ल्ह—यह ल का महाप्राण रूप है। न्ह और म्ह की भाँति यह भी मूल-व्यंजन ही माना जाता है। इसका प्रयोग केवल बोलियों में मिलता है।

उदा०—व्र०-कालिह, कल्ह (बुँदेलखंडी), ब्र० सल्हा (हिं० सलाह)। 'कल्ही' जैसे खड़ी बोली के शब्दों में भी यह ध्वनि सुन पड़ती है।

(३१) र—लुंठित, अल्पप्राण, वर्त्स्य, घोष-ध्वनि है। इसके उच्चारण में जीभ की नोक लपेट खाकर वर्त्स अर्थात् ऊपर के मसूढ़े को कई बार जल्दी जल्दी छूती है।

लुंठित

उदा०—रटना, करना, पार, रिण।

(३२) र्ह—र का महाप्राण रूप है। इसे भी मूल ध्वनि माना जाता है। पर यह केवल बोलियों में पाई जाती है। जैसे—कर्हानो, उर्हानो आदि (ब्रज०)।

(३३) ड़—अल्पप्राण, घोष, मूर्धन्य उत्क्षिप्त ध्वनि है। हिंदी की नवीन ध्वनियों में से यह एक है। इसके उच्चारण में उलटी जीभ की नोक से कठोर तालु का स्पर्श झटके के साथ किया जाता है। ड़ शब्दों के आदि में नहीं आता; केवल मध्य अथवा अंत में दो स्वरों के बीच में ही आता है।

उत्क्षिप्त

उदा०—सूँड़, कड़ा, घड़ा, बड़हार। हिंदी में इस ध्वनि का बाहुल्य है।

(३४) ढ़—महाप्राण, घोष, मूर्धन्य, उत्क्षिप्त ध्वनि है। यह ड़ का ही महाप्राण रूप है। ड, ढ स्पर्श हैं और ड़, ढ़ उत्क्षिप्त ध्वनि हैं। बस यही भेद है। ड, ढ का व्यवहार शब्दों के आदि में ही होता है और ड़, ढ़ का प्रयोग दो स्वरों के बीच में ही होता है।

उदा०—बढ़ना, बूढ़ा, मूढ़।

(३५) ह—काकल्य, घोष, घर्ष ध्वनि है। इसके उच्चारण में जीभ, तालु अथवा होठों से सहायता नहीं ली जाती। जब हवा फेफड़े में से वेग से निकलती है और मुखद्वार के खुले रहने से काकल के बाहर रगड़ उत्पन्न करती है तब इस ध्वनि का उच्चारण होता है। ह और अ में मुख के अवयव प्रायः समान रहते हैं पर ह में रगड़ होती है।

घर्ष वर्ण

उदा०—हाथ, कहानी, दोह।

ह के विषय में कुछ बातें ध्यान देने योग्य हैं। 'ह' शब्द के आदि और अंत में अघोष उच्चरित होता है; जैसे—हम, होठ, हिंदु और छिह्, छह्, फह्, यह् आदि। पर जब ह दो स्वरों के मध्य में आता है तब उसका उच्चारण घोष होता है, जैसे—रहन, सहन। पर जब वह महाप्राण व्यंजनों में सुन पड़ता है तब कभी अघोष और कभी घोष होता है। जैसे—ख, छ, थ में अघोष ह है और घ, झ, ध, ढ, भ, ल्ह, न्ह आदि में घोष है। अघोष ह का ही नाम विसर्ग है। 'ख' जैसे वर्णों में और छिः जैसे शब्दों के अंत में यही अघोष ह अथवा विसर्ग सुन पड़ता है। यह सब कल्पना अनुमान और स्थूल पर्यवेक्षण से सर्वथा संगत लगती है पर अभी परीक्षा द्वारा सिद्ध नहीं हो सकी है। कादरी, सक्सेना, चैटर्जी आदि ने कुछ प्रयोग किये हैं पर उनमें भी ऐकमत्य नहीं है।

विसर्ग के लिये लिपि-संकेत ह अथवा : है। हिंदी ध्वनियों में इसका प्रयोग कम होता है। वास्तव में यह अघोष ह है पर कुछ लोग इसे पृथक् ध्वनि मानते हैं।

विसर्ग

(३६) ख़—ख़ जिह्वामूलीय, अघोष, घर्ष-ध्वनि है। इसका उच्चारण जिह्वामूल और कोमल तालु के पिछले भाग से होता है, पर दोनों अवयवों का पूर्ण स्पर्श नहीं होता। अतः उस खुले विवर से हवा रगड़ खाकर निकलती है, अतः इसे स्पर्श-व्यंजनों के वर्ग में रखना उचित नहीं माना जाता। यह ध्वनि फारसी-अरबी तत्सम शब्दों में

ही पाई जाती है और हिंदी बोलियों में स्पर्श ख के समान उच्चरित होती है।

उदा०—ख़राब, बुख़ार और बलख़।

(३७) ग़—इसमें और ख़ में केवल एक भेद है कि यह घोष है। अर्थात् ग़ जिह्वामूलीय, घोष, घर्ष-ध्वनि है। यह भी भारतीय ध्वनि नहीं है, केवल फारसी-अरबी तत्सम शब्दों में पाई जाती है। वास्तव में ग़ और ग में कोई संबंध नहीं है पर बोलचाल में ग़ के स्थान में ग ही बोला जाता है।

उदा०—ग़रीब, चोग़ा, दाग़।

(३८) श—यह अघोष, घर्ष, तालव्य ध्वनि है। इसके उच्चारण में जीभ की नोक कठोर तालु के बहुत पास पहुँच जाती है पर पूरा स्पर्श नहीं होता, अतः तालु और जीभ के बीच में से हवा रगड़ खाती हुई बिना रुके आगे निकल जाती है। इसी से यह ध्वनि घर्ष तथा अनवरुद्ध कही जाती है। इसमें 'शी', 'शी' के समान ऊष्मा निकलता है इससे इसे ऊष्म ध्वनि भी कहते हैं। यह ध्वनि प्राचीन है। साथ ही यह अँगरेजी, फारसी, अरबी आदि से आए हुए विदेशी शब्दों में भी पाई जाती है। पर हिंदी की बोलियों में श का दंत्य (स) उच्चारण होता है।

उदा०—शांति, पशु, यश, शायद, शाम, शेयर, शेड।

(३९) स—वर्त्स्य, घर्ष, अघोष ध्वनि है। इसके उच्चारण में जीभ की नोक और वर्त्स के बीच घर्षण (रगड़) होता है।

उदा०—सेवक, असगुन, कपास।

(४०) ज़—ज़ और स का उच्चारण-स्थान एक ही है। ज़ भी वर्त्स्य, घर्ष-ध्वनि है किंतु यह घोष है। अतः ज़ का संबंध स से है; ज से नहीं। ज़ भी विदेशी ध्वनि है और फारसी-अरबी तत्सम शब्दों में ही बोली जाती है। हिंदी बोलियों में ज़ का ज हो जाता है।

उदा०—ज़ुलम, गुज़र, बाज़।

(४१) फ़—दंतोष्ठ्य, घर्ष, अघोष व्यंजन है। इसके उच्चारण में नीचे का होठ ऊपर के दाँतों से लग जाता है पर होठ और दाँत दोनों के बीच में से हवा रगड़ के साथ निकलती रहती है। इसको द्वयोष्ठ्य फ का रूपांतर मानना शास्त्रीय दृष्टि से ठीक नहीं है। वास्तव में फ़ विदेशी ध्वनि है और विदेशी तत्सम शब्दों में ही पाई जाती है। हिंदी बोलियों में इसका स्थान फ ले लेता है।

उदा०—फ़स्ल, कफ़न, साफ़।

(४२) व—उच्चारण फ के समान होता है। परंतु यह घोष है। अर्थात् व दंतोष्ठ्य घोष घर्ष-ध्वनि है। यह प्राचीन ध्वनि है और विदेशी शब्दों में भी पाई जाती है।

उदा०—वन, सुवन, यादव।

(४३) य (अथवा इ्)—यह तालव्य, घोष, अर्द्धस्वर है। इसके उच्चारण में जिह्वोपाग्र कठोर तालु की ओर उठता है पर स्पष्ट घर्षण नहीं होता। जिह्वा का स्थान भी व्यंजन च और स्वर इ के बीच में रहता है इसी से इसे अंतस्थ अर्थात् व्यंजन और स्वर के बीच की ध्वनि मानते हैं।

अर्द्धस्वर (अंतस्थ)

वास्तव में व्यंजन और स्वर के बीच की ध्वनियाँ हैं घर्ष व्यंजन। जब किसी घर्ष व्यंजन में घर्ष स्पष्ट नहीं होता तब वह स्वरवत् हो जाता है। ऐसे ही वर्णों को अर्धस्वर अथवा अंतस्थ कहते हैं। य इसी प्रकार का अर्धस्वर है।

उदा०—कन्या, प्यास, ह्याँ, यम, धाय, आप।

य का उच्चारण पुश्र सा होता है और कुछ कठिन होता है, इसी से हिंदी बोलियों में य के स्थान में ज हो जाता है। जैसे—यमुना—जमुना, यम—जम।

(४४) व्—ओष्ठ से बहुत कुछ मिलता है। यह घर्ष व का ही अघर्ष रूप है। यह ध्वनि प्राचीन है। संस्कृत तत्सम और हिंदी तद्भव दोनों प्रकार के शब्दों में पाई जाती है।

उदा०—क्वार, स्वाद, स्वर, अध्वर्यु आदि।

अब हम नीचे वैदिक, परवर्ती संस्कृत, पाली, प्राकृत, अपभ्रंश, पुरानी हिंदी और हिंदी के ध्वनि-समूह का संक्षिप्त परिचय देंगे जिससे हिंदी की ध्वनियों का एक इतिहास प्रस्तुत हो जाय।

हमारी संस्कृत भाषा उस भारोपीय परिवार की कन्या है जिसका विद्वानों द्वारा सुंदर अध्ययन हुआ है। इस परिवार की अनेक भाषाएँ आज भी जीवित हैं, अनेक के साहित्य-चिह्न मिलते हैं और इन्हीं के आधार पर इस परिवार की आदिमाता अर्थात् भारोपीय मातृभाषा की भी रूप-रेखा खींचने का यत्न किया गया है। अतः हिंदी की ध्वनियों का इतिहास जानने के लिये उस भारोपीय मातृभाषा की ध्वनियों से भी संक्षिप्त परिचय कर लेना अच्छा होता है। यद्यपि आदिभाषा की ध्वनियों के विषय में मतभेद है तथापि हम अधिक विद्वानों द्वारा गृहीत सिद्धांतों को मानकर ही आगे बढ़ेंगे। विशेष विवाद यहाँ उपयोगी नहीं प्रतीत होता। उस मूल भारोपीय भाषा में स्वर और व्यंजन दोनों

की ही संख्या अधिक थी। कुछ दिन पहले यह माना जाता था कि संस्कृत की वर्णमाला सबसे अधिक पूर्ण है। यही ध्वनियाँ थोड़े परिवर्तन के साथ मूल भाषा में रही होंगी पर अब खोजों द्वारा सिद्ध हो गया है कि संस्कृत की अपेक्षा मूल भाषा में स्वर और व्यंजन ध्वनियाँ कहीं अधिक थीं।

भारोपीय ध्वनि-समूह

स्वर—उस काल के अक्षरों का ठीक उच्चारण सर्वथा निश्चित तो नहीं हो सका है तो भी सामान्य व्यवहार के लिये निम्नलिखित संकेतों से उन्हें हम प्रकट कर सकते हैं।

समानाक्षर—ă, ā ; ĕ, ē ; ŏ, ō ; ə ; ĭ, ī ; ŭ, ū ;

(१) इनमें से a, e, o, i, u ह्रस्व अक्षर हैं। नागरी लिपि में हम इन्हें अ, ए, ओ, इ तथा उ से अंकित कर सकते हैं। (२) और ā आ, ē ए, ō ओ, ī ई और ū ऊ दीर्घ अक्षर होते हैं। (३) ə अ एक ह्रस्वार्ध स्वर है जिसका उच्चारण स्पष्ट नहीं होता। इसे ही उदासीन (neutral) स्वर कहते हैं।

स्वनंत वर्ण—उस मूल भाषा में कुछ ऐसे स्वनंत वर्ण भी थे जो अक्षर का काम करते थे; जैसे—m̥, n̥, r̥, l̥ ; नागरी में इन्हें हम म्, न्, र्, ल् लिख सकते हैं। m̥, n̥ आक्षरिक अनुनासिक व्यंजन हैं और r̥, l̥ आक्षरिक द्रव अथवा अंतस्थ व्यंजन हैं।

संध्यक्षर—अर्धस्वरों, अनुनासिकों और अन्य द्रव वर्णों के साथ स्वरों के संयोग से उत्पन्न अनेक संध्यक्षर अथवा संयुक्ताक्षर भी उस मूलभाषा में मिलते हैं। इनकी संख्या अल्प नहीं है। उनमें से मुख्य ये हैं—

ai, āi, ei, ēi, oi, ōi ; au, āu, eu, ēu, ou, ōu ; əm, ən, ər, əl.

व्यंजन—स्पर्श-वर्ण—

(१) ओष्ठ्य वर्ण-	p,	ph,	b,	bh.
(२) दंत्य-	t,	th,	d,	dh.
(३) कंठ्य-	q,	qh,	g,	gh.
(४) मध्य कंठ्य-	k,	kh,	g,	gh.
(५) तालव्य	k̑,	k̑h,	g̑,	g̑h.

अनुनासिक व्यंजन—m, n, ṅ (ङ) और ñ (ञ्)

अर्धस्वर—i और u अर्थात् य और व।

द्रव-वर्ण--अनुनासिक और अर्धस्वर वर्णों के अतिरिक्त दो द्रववर्ण अवश्य मूल भारोपीय भाषा में विद्यमान थे अर्थात् र् और ल्।

सोष्म ध्वनि—s स, z ज़, j य, v व्ह, γ ग', þ थ, ẟ द, ये सात मुख्य सोष्म ध्वनियाँ थीं।

वैदिक ध्वनि-समूह

अब हम तीसरे काल की ध्वनियों का विचार करेंगे। वैदिक ध्वनि-समूह, सच पूछा जाय तो, इस भारोपीय परिवार में सबसे प्राचीन है। उस ध्वनि-समूह में ५२ ध्वनियाँ पाई जाती हैं—१३ स्वर और ३९ व्यंजन।

स्वर—

नव समानाक्षर—अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, ऌ
चार संध्यक्षर—ए, ओ, ऐ, औ

व्यंजन—

कंठ्य—क, ख, ग, घ, ङ
तालव्य—च, छ, ज, झ, ञ
मूर्धन्य—ट, ठ, ड, ढ, ळ, ळ्ह, ण
दंत्य—त, थ, द, ध, न
ओष्ठ्य—प, फ, ब, भ, म
अंतस्थ—य, र, ल, व
ऊष्म—श, ष, स
प्राणध्वनि—ह
अनुनासिक— ं (अनुस्वार)
अघोष सोष्म वर्ण—विसर्जनीय, जिह्वामूलीय और उपध्मानीय।

ऐतिहासिक तुलना की दृष्टि से देखें तो वैदिक भाषा में कई परिवर्तन देख पड़ते हैं। भारोपीय मूलभाषा की अनेक ध्वनियाँ उसमें नहीं

अभाव

पाई जातीं। उसमें (१) ह्रस्व ĕ, ŏ और ə; (२) दीर्घ ē, ō; (३) संध्यक्षर ĕi, ŏi, ĕu, ŏu; āi, ēi, ōi, āu, ēu, ōu, (४) स्वनंत अनुनासिक व्यंजन, (५) और नाद सोष्म z का अभाव हो गया है।

वैदिक में (१) ĕ, ŏ के स्थान में ă अ, ə के स्थान में इ; (२) दीर्घ ē, ō के स्थान में आ; (३) संध्यक्षर ĕi, ŏi के स्थान में ē ए, ĕu, ŏu के स्थान में ō ओ; और ăz, ĕz, ŏz के स्थान में भी ē, ō ; (४) r̥̄ के स्थान में ईर, ऊर; l̥ के स्थान में r ऋ; (५) āi, ēi, ōi के स्थान में āi ऐ āu ēu, ōu के स्थान में āu औ; आता है। इसके अतिरिक्त जब ऋ के पीछे अनुनासिक आता है, ऋ का ऋ हो जाता है। अनेक कंठ्य वर्ण तालव्य हो गए हैं। भारोपीय काल का तालव्य स्पर्श वैदिक में सोष्म श के रूप में देख पड़ता है।

परिवर्तन

अर्जन—सात मूर्धन्य व्यंजन और एक मूर्धन्य ष ये आठ ध्वनियाँ वैदिक में नई संपत्ति है।

आजकल की भाषाशास्त्रीय दृष्टि से ५२ वैदिक ध्वनियों का वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है—

स्वर— (तेरह स्वर)

	पश्च	मध्य अथवा मिश्र	अग्र
संवृत (उच्च)	ऊ, उ		ई, इ
अर्ध-संवृत (उच्च-मध्य)	ओ	(अ)	ए
अर्ध-विवृत (नीच-मध्य)	....	....	....
विवृत (नीच)	आ, अ		
संयुक्त स्वर	औ		ऐ
आक्षरिक			ॠ, ऋ, ऌ

व्यंजन—

	काकल्य	कंठ्य	तालव्य	मूर्धन्य	वर्त्स्य	द्वयोष्ठ्य
स्पर्श		क, ग	च ज	ट ड	त द	प ब
समाण स्पर्श		ख घ	छ झ	ठ ढ	थ ध	फ भ
अनुनासिक		ङ	ञ	ण	न	म
घर्ष वर्ण	ह,ः (विस०)	ᳵ (जिह्वा०)	श	ष	स	ᳶ (उप०)
पार्श्विक				ळ ळ्ह	ल	
उत्क्षिप्त					र	
अर्द्धस्वर			इ॒ (य)			उ॒ (व)

इन सब ध्वनियों के उच्चारण के विषय में अच्छी छानबीन हो चुकी है। (१) सबसे बड़ा प्रमाण कोई तीन हज़ार वर्ष पूर्व से अविच्छिन्न चली आनेवाली वैदिकों और संस्कृतज्ञों की परंपरा है। उनका उच्चारण अधिक भिन्न नहीं हुआ है। (२) शिक्षा और प्रातिशाख्य आदि से भी उस काल के उच्चारण का अच्छा परिचय मिलता है। इसके अतिरिक्त दूसरी निम्नलिखित सामग्री भी बड़ी सहायता करती है। (३) भारतीय नामों और शब्दों का ग्रीक प्रत्यक्षरीकरण (चीनी लेखों से विशेष लाभ नहीं होता पर ईरानी, मोन, ख्मेर, स्यामी, तिब्बती, वर्मी, जावा और मलय, मंगोल और अरबी के प्रत्यक्षरीकरण कभी कभी मध्यकालीन उच्चारण के निश्चित करने में सहायता देते हैं।) (४) मध्यकालीन आर्य-भाषाओं (अर्थात् पाली, प्राकृत, अपभ्रंश आदि) और आधुनिक आर्य देश-भाषाओं (हिंदी, मराठी, बँगला आदि) के ध्वनि-विकास से भी प्रचुर प्रमाण मिलता है। (५) इसी प्रकार अवेस्ता, प्राचीन फारसी, ग्रीक, गाथिक, लैटिन आदि संस्कृत की सजातीय भारोपीय भाषाओं की तुलना से भी सहायता मिलती है। (६) और इन सबकी उचित खोज करने के लिये ध्वनि-शिक्षा के सिद्धांत और भाषा के सामान्य-ध्वनि विकास का भी विचार करना पड़ता है।

इस प्रकार विचार करने पर जो प्राचीन उच्चारण की विशेषताएँ ध्यान में आती हैं उनमें से कुछ मुख्य बातें जान लेनी चाहिएँ। (१) सबसे पहली बात यह है कि आज ह्रस्व 'अ' का उच्चारण संवृत होता है। उसका यही उच्चारण पाणिनि और प्रातिशाख्यों के समय में भी होता था पर वैदिक काल के प्रारंभ में अ विवृत उच्चरित होता था। वह विवृत आ का ह्रस्व रूप था। (२) इसी प्रकार ऋ और ऌ का उच्चारण भी आज से भिन्न होता था। आज ऋ का उच्चारण रि अथवा रु के समान किया जाता है पर प्राचीन काल में ऋ स्वर थी—आक्षरिक र थी। ऋक्प्रातिशाख्य में लिखा है कि ऋ के मध्य में र का अंश मिलता है (ऋ= $\frac{1}{8}$ अ + $\frac{1}{2}$ र + $\frac{1}{8}$ अ)। इस प्रकार वैदिक ऋ प्राचीन ईरानी (अर्थात् अवेस्ता) की (ərə) ध्वनि की बराबरी पर रखी जा सकती है। (३) ऌ का प्रयोग तो वेद में भी कम होता है और पीछे तो सर्वथा लुप्त ही हो गया। उसका उच्चारण बहुत कुछ अँगरेजी के little शब्द में उच्चरित आक्षरिक ल के समान होता था। (४) संध्यक्षर ए, ओ का उच्चारण जिस प्रकार आज दीर्घ समानाक्षरों के समान होता है वैसा ही संहिता-काल में भी होता था क्योंकि ए और ओ के परे अ का अभिनिधान हो जाता था। यदि ए, ओ संध्यक्षरवत् उच्चरित होते तो उनका संधि में अय और अव रूप ही होता। पर अति प्राचीन काल में वैदिक ए, ओ संध्यक्षर थे क्योंकि संधि में वे अ+इ और अ+उ से उत्पन्न होते हैं। श्रोतृ और श्रवः, ऐति और अयन जैसे प्रयोगों में भी यह संध्यक्षरत्व स्पष्ट देख पड़ता है। अतः वैदिक ए, ओ उच्चारण में तो भारोपीय मूलभाषा के समानाक्षर से प्रतीत होते हैं पर वास्तव में वे अइ, अउ संध्यक्षरों के विकसित रूप हैं। (५) दीर्घ संध्यक्षर ऐ, औ का प्राचीनतम उच्चारण तो आइ, आउ है पर प्रातिशाख्यों के वैदिक काल में ही उनका उच्चारण अइ, अउ होने लगा था और यही उच्चारण आज तक प्रचलित है। (६) अवेस्ता के समान वैदिक उच्चारण की एक विशेषता स्वर-भक्ति भी है। जब किसी व्यंजन का रेफ अथवा अनुनासिक से संयोग होता है तब प्रायः एक लघु स्वर दोनों व्यंजनों के बीच में सुन पड़ता है। इस स्वर को स्वरभक्ति कहते हैं। जैसे इंद्र का इंदर (Indara), ग्ना का गना। इस स्वर-भक्ति की मात्रा $\frac{1}{2}$, $\frac{1}{4}$ अथवा $\frac{1}{8}$ मानी गई है पर वह पूर्ण स्वर नहीं है। (७) इसके अतिरिक्त वैदिक उच्चारण में भी दो स्वरों के बीच में उसी प्रकार विवृत्ति पाई जाती थी जिस प्रकार पीछे प्राकृत में और आज देश-भाषाओं में मिलती है, परवर्त्ती लौकिक संस्कृत में विवृत्ति नहीं पाई जाती पर वैदिक

व्यंजन—

	काकल्य	कण्ठ्य	तालव्य	मूर्धन्य	वर्त्स्य	द्वयोष्ठ्य
स्पर्श		क, ग	च ज	ट ड	त द	प ब
सप्राण स्पर्श		ख घ	छ झ	ठ ढ	थ ध	फ भ
अनुनासिक		ङ	ञ	ण	न	म
घर्ष वर्ण	ह,: (विस०)	ᳵ (जिह्वा०)	श	ष	स	ᳶ (उप०)
पार्श्विक				ळ ळ्ह	ल	
उत्क्षिप्त					र	
अर्द्धस्वर			इ (य)			उ (व)

इन सब ध्वनियों के उच्चारण के विषय में अच्छी छानबीन हो चुकी है। (१) सबसे बड़ा प्रमाण कोई तीन हजार वर्ष पूर्व से अविच्छिन्न चली आनेवाली वैदिकों और संस्कृतज्ञों की परंपरा है। उनका उच्चारण अधिक भिन्न नहीं हुआ है। (२) शिक्षा और प्रातिशाख्य आदि से भी उस काल के उच्चारण का अच्छा परिचय मिलता है। इसके अतिरिक्त दूसरी निम्नलिखित सामग्री भी बड़ी सहायता करती है। (३) भारतीय नामों और शब्दों का ग्रीक प्रत्यक्षरीकरण (चीनी लेखों से विशेष लाभ नहीं होता पर ईरानी, मोन, ख्मेर, स्यामी, तिब्बती, बर्मी, जावा और मलय, मंगोल और अरबी के प्रत्यक्षरीकरण कभी कभी मध्यकालीन उच्चारण के निश्चित करने में सहायता देते हैं।) (४) मध्यकालीन आर्य भाषाओं (अर्थात् पाली, प्राकृत, अपभ्रंश आदि) और आधुनिक आर्य देश-भाषाओं (हिंदी, मराठी, बँगला आदि) के ध्वनि-विकास से भी प्रचुर प्रमाण मिलता है। (५) इसी प्रकार अवेस्ता, प्राचीन फारसी, ग्रीक, गाथिक, लैटिन आदि संस्कृत की सजातीय भारोपीय भाषाओं की तुलना से भी सहायता मिलती है। (६) और इन सबकी उचित खोज करने के लिये ध्वनि-शिक्षा के सिद्धांत और भाषा के सामान्य-ध्वनि विकास का भी विचार करना पड़ता है।

इस प्रकार विचार करने पर जो प्राचीन उच्चारण की विशेषताएँ ध्यान में आती हैं उनमें से कुछ मुख्य बातें जान लेनी चाहिएँ। (१) सबसे पहली बात यह है कि आज ह्रस्व 'अ' का उच्चारण संवृत होता है। उसका यही उच्चारण पाणिनि और प्रातिशाख्यों के समय में भी होता था पर वैदिक काल के प्रारंभ में अ विवृत उच्चरित होता था। वह विवृत आ का ह्रस्व रूप था। (२) इसी प्रकार ऋ और लृ का उच्चारण भी आज से भिन्न होता था। आज ऋ का उच्चारण रि अथवा रु के समान किया जाता है पर प्राचीन काल में ऋ स्वर थी—आक्षरिक र थी। ऋक्प्रातिशाख्य में लिखा है कि ऋ के मध्य में र का अंश मिलता है (ऋ=¼ अ+½ र+¼ अ)। इस प्रकार वैदिक ऋ प्राचीन ईरानी (*अर्थात् अवेस्ता*) की (*ərə*) ध्वनि की बराबरी पर रखी जा सकती है। (३) लृ का प्रयोग तो वेद में भी कम होता है और पीछे तो सर्वथा लुप्त ही हो गया। उसका उच्चारण बहुत कुछ अँगरेज़ी के little शब्द में उच्चरित आक्षरिक ल के समान होता था। (४) संध्यक्षर ए, ओ का उच्चारण जिस प्रकार आज दीर्घ समानाक्षरों के समान होता है वैसा ही संहिता-काल में भी होता था क्योंकि ए और ओ के परे अ का अभिनिधान हो जाता था। यदि ए, ओ संध्यक्षरवत् उच्चरित होते तो उनका संधि में अय और अव रूप ही होता। पर अति प्राचीन काल में वैदिक ए, ओ संध्यक्षर थे क्योंकि संधि में वे अ+इ और अ+उ से उत्पन्न होते हैं। श्रोतृ और श्रवः, ऐति और अयन जैसे प्रयोगों में भी यह संध्यक्षरत्व स्पष्ट देख पड़ता है। अतः वैदिक ए, ओ उच्चारण में तो भारोपीय मूलभाषा के समानाक्षर से प्रतीत होते हैं पर वास्तव में वे अइ, अउ संध्यक्षरों के विकसित रूप हैं। (५) दीर्घ संध्यक्षर ऐ, औ का प्राचीनतम उच्चारण तो आइ, आउ है पर प्रातिशाख्यों के वैदिक काल में ही उनका उच्चारण अइ, अउ होने लगा था और यही उच्चारण आज तक प्रचलित है। (६) अवेस्ता के समान वैदिक उच्चारण की एक विशेषता स्वर-भक्ति भी है। जब किसी व्यंजन का रेफ अथवा अनुनासिक से संयोग होता है तब प्रायः एक लघु स्वर दोनों व्यंजनों के बीच में सुन पड़ता है। इस स्वर को स्वरभक्ति कहते हैं। जैसे इंद्र का इंदर (Indara), ग्ना का गना। इस स्वर-भक्ति की मात्रा ¼, ½ अथवा ¾ मानी गई है पर वह पूर्ण स्वर नहीं है। (७) इसके अतिरिक्त वैदिक उच्चारण में भी दो स्वरों के बीच में उसी प्रकार विवृत्ति पाई जाती थी जिस प्रकार पीछे प्राकृत में और आज देश-भाषाओं में मिलती है, परवर्त्ती लौकिक संस्कृत में विवृत्ति नहीं पाई जाती पर वैदिक

में तितउ (चलनी) के समान शब्द तो थे ही; 'ज्येष्ठ' के समान शब्दों में भी ज्य+इष्ठ अ और इ का उच्चारण पृथक् पृथक् होता था।

व्यंजनों का उच्चारण आज की हिंदी में भी बहुत कुछ वैसा ही है। वैदिक तालव्य-स्पर्शों में सोष्मता कुछ कम थी पर पीछे सोष्म श्रुति इतनी बढ़ गई है कि तालव्य वर्ग को घर्ष-स्पर्श मानना ही उचित जान पड़ा। तालव्य श पहले तो कंठ और तालु के मध्य में उच्चरित होता था इसी से कभी क और कभी च के स्थान में आया करता था पर पीछे से तालु के अधिक आगे उच्चरित होने लगा, इसी से वैदिक में श और स एक दूसरे के स्थान में भी आने-जाने लगे थे।

मूर्धन्य वर्ण तालु के मूर्धा से अर्थात् सबसे ऊँचे स्थान से उच्चरित होते थे। इसी से मूर्धन्य ष का प्राचीन उच्चारण जिह्वामूलीय x के समान माना जाता है। इसी कारण मध्यकाल में ष के स्थान में 'ख' उच्चारण मिलता है। उस प्राचीन मूर्धन्य उच्चारण से मिलता-जुलता ख होने से वही मध्यकाल से लेकर आज तक ष का समीपी समझा जाता है। संस्कृत का स्नुषा, स्लाव्ह का स्नुखा (Snuxa), पश्तो और पख़्तो आदि की तुलना से भी ष के प्राचीन उच्चारण की यही कल्पना पुष्ट होती है। ळ, ळ्ह ऋग्वेद की किसी विभाषा में प्रयुक्त होते थे इसी से पाली से होते हुए अपभ्रंश और हिंदी मराठी आदि में तो आ गए पर वे साहित्यिक संस्कृत, प्राकृत आदि से बाहर ही रहे।

द्वयोष्ठ्य ध्वनियों की अर्थात् प, फ, ब आदि की कोई विशेषता उल्लेखनीय नहीं है पर उपध्मानीय फ् (F) के उच्चारण पर ध्यान देना चाहिए। दीपक बुझाने में मुख से दोनों होठों के बीच से जो धौंकनी की सी ध्वनि निकलती है वही उपध्मानीय ध्वनि है। यह उत्तर भारत की आधुनिक आर्य भाषाओं में साधारण ध्वनि हो गई है। प्राचीन वैदिक काल में प के पूर्व में जो अघोष ह रहता था वह उपध्मानीय ध्वनि इसी F (फ्) की प्रतिलिपि थी। जैसे—पुनः ⌣ पुनः। जिह्वामूलीय और उपध्मानीय दोनों को ही संस्कृत में ⌣ इस चिह्न से प्रकट करते हैं। और उपध्मानीय की भाँति जिह्वामूलीय भी विसर्जनीय का एक भेद है। जो विसर्ग 'क' के पूर्व में आवे वह जिह्वामूलीय है, जैसे—ततः किम् में विसर्ग जिह्वामूलीय है। इसका उच्चारण जर्मन भाषा के ach में ch के रूप में मिलता है।

अर्द्धस्वर इ्, उ् (य, व) वैदिक काल में स्वरवत् काम में आते थे पर पाणिनि के काल में आकर उ् सोष्म वकार हो गया। उसके दंतोष्ठ्य उच्चारण का वर्णन पाणिनीय व्याकरण में मिलता है पर व का

द्वयोष्ठ्य उच्चारण भी उसी काल में प्रचलित हो गया था और आज तक चला जा रहा है। इस प्रकार परवर्ती संस्कृतकाल में सोष्म व के दो उच्चारण प्रचलित थे पर प्राचीनतर वैदिककाल में उसमें स्वरत्व अधिक था। ड़ भी पीछे सोष्म ध्वनि हो गई जिससे 'य' के स्थान में Zh ज़ के समान ध्वनि वैदिक काल में ही सुन पड़ने लगी थी।

अनुस्वार का वैदिक उच्चारण भी कुछ भिन्न होता था। आज अनुस्वार का उच्चारण प्रायः म अथवा न के समान होता है पर प्राचीन वैदिक काल में अनुस्वार स्वर के पीछे सुन पड़नेवाली एक अनुनासिक श्रुति थी। इसका विचार वैदिक भाषा में अधिक होता था पर आजकल उसका विचार अनुनासिक व्यंजनों के अंतर्गत मान लिया गया है।

वैदिक के बाद मध्यकालीन भारतीय आर्य-भाषा के दो प्रारंभिक रूप हमारे सामने आते हैं। लौकिक संस्कृत और पाली। लौकिक संस्कृत उसी प्राचीन भाषा का ही साहित्यिक रूप था और पाली उस प्राचीन भाषा की एक विकसित बोली का साहित्यिक रूप। हम दोनों की ध्वनियों का दिग्दर्शन मात्र करावेंगे। पाणिनि के चौदह शिव-सूत्रों में बड़े सुंदर ढंग से परवर्ती साहित्यिक संस्कृत की ध्वनियों का वर्गीकरण किया गया है। उसका भाषा-वैज्ञानिक क्रम देखकर उसे घुणाक्षरन्यायेन बना कभी नहीं कहा जा सकता। उसमें भारतीय वैज्ञानिकों का तप निहित है। वे सूत्र ये हैं—

१—अइउण्	८—झभञ्
२—ऋलृक्	९—घढधष्
३—एओङ्	१०—जबगडदश्
४—ऐऔच्	११-खफछठथचटतव्
५—हयवरट्	१२-कपय्
६—लण्	१३-शषसर्
७—ञमङणनम्	१४-हल्

पहले चार सूत्रों में स्वरों का परिगणन हुआ है। उनमें से भी पहले तीन में समानाक्षर गिनाए गए हैं।

(१) अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, लृ, ए, ओ—ये ग्यारहों वैदिक काल के समानाक्षर हैं; परवर्ती काल में अ का उच्चारण संवृत ʌ होने लगा था और ॠ तथा लृ का प्रयोग कम और उच्चारण संदिग्ध हो चला था।

(२) चौथे सूत्र में दो संध्यक्षर आते हैं। ऐ, औ।

(३) पाँचवें और छठे सूत्रों में प्राण-ध्वनि ह और चार अंतःस्थ वर्णों का नामोद्देश मिलता है। अ, इ, उ, ऋ, लृ के क्रमशः बराबरी

वाले व्यंजन ह, य, व, र, ल हैं। स्वरों के समान ये पाँचों व्यंजन भी घोष होते हैं।

(४) सातवें सूत्र में पाँचों अनुनासिक व्यंजनों का वर्णन है। यहाँ एक बात ध्यान देने योग्य यह है कि स्वर और व्यंजनों के बीच में अंतस्थ और अनुनासिक व्यंजनों का आना सूचित करता है कि इतनी ध्वनि आक्षरिक भी हो सकती हैं।

(५) इसके बाद ८, ९, १०, ११ और १२ सूत्रों में २० स्पर्शव्यंजनों का परिगणन है। उनमें भी पहले ८, ९, १० सूत्रों में घोषव्यंजनों का वर्णन है; उन घोष-स्पर्शों में से भी पहले महाप्राण घ, झ, ढ, ध, भ आते हैं तब अल्पप्राण ज, ब, ग, ड, द आते हैं। फिर ११ और १२ सूत्रों में अघोष स्पर्शों का वर्णन महाप्राण और अल्पप्राण के क्रम से हुआ है—ख, फ, छ, ठ, थ और क, च, ट, त, प।

(६) १३ और १४ सूत्र में अघोष सोष्म वर्णों का उल्लेख है—श, ष, स और ह। संस्कृत में ये ही घर्ष-व्यंजन हैं। इन्हें ही ऊष्मा कहते हैं। अंतिम सूत्र हल् ध्यान देने योग्य है। बीच में पाँचवें सूत्र में प्राण-ध्वनि ह की गणना की जा चुकी है। यह अंत में एक नया सूत्र रखकर अघोष तीन सोष्म ध्वनियों की ओर संकेत किया गया है। विसर्जनीय, जिह्वामूलीय, उपध्मानीय ये तीन प्राण-ध्वनि ह के ही अघोष रूप हैं।

इस प्रकार इन सूत्रों में क्रम से चार प्रकार की ध्वनियाँ आती हैं—पहले स्वर; फिर ऐसे व्यंजन जो स्वनंत स्वरों के समानधर्मा (corresponding) व्यंजन हैं; तब स्पर्श-व्यंजन और अंत में घर्ष-व्यंजन। आजकल के भाषा-वैज्ञानिक भी इसी क्रम से वर्णों का वर्गीकरण करते हैं।

(१) अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, ऌ, ए, ओ, ऐ, औ।

(२) ह, य, व, र, ल, ङ्, ञ, ण, न, म।

(३) क, ख, ग, घ; च, छ, ज, झ इत्यादि बीसों स्पर्श।

(४) श, ष, स, ह।

पाली ध्वनि-समूह

पाली में दस स्वर अ आ इ ई उ ऊ ऐ ए ओ ओ पाए जाते हैं। ऋ, ॠ, ऌ, ऐ, औ का सर्वथा अभाव पाया जाता है।) ऋ के स्थान में अ, इ अथवा उ का प्रयोग होता है। ऐ औ के स्थान में पाली में ए ओ हो जाते हैं। संयुक्त व्यंजनों के पहले ह्रस्व ऐ ओ भी मिलते हैं। वैदिक संस्कृत की किसी किसी विभाषा में ह्रस्व ऐ ओ मिलते थे पर साहित्यिक वैदिक तथा परवर्ती संस्कृत में तो उनका सर्वथा अभाव ही

गया था (तेषां ह्रस्वाभावात्)। पाली के बाद ह्रस्व ऐ ओ प्राकृत और अपभ्रंश में से होते हुए हिंदी में भी आ पहुँचे हैं। इसी से कुछ लोगों की कल्पना है कि ह्रस्व ऐ ओ सदा बोले जाते थे पर जिस प्रकार पाली और प्राकृत तथा हिंदी की साहित्यिक भाषाओं के व्याकरणों में ह्रस्व ए ओ का वर्णन नहीं मिलता उसी प्रकार वैदिक और लौकिक संस्कृत के व्याकरणों में भी ऐ ओ का ह्रस्व रूप नहीं गृहीत हुआ, पर वह उच्चारण में सदा से चला आ रहा है।

व्यंजन

पाली में विसर्जनीय, जिह्वामूलीय तथा उपध्मानीय का प्रयोग नहीं होता। अंतिम विसर्ग के स्थान में ओ तथा जिह्वामूलीय और उपध्मानीय के स्थान में व्यंजन का प्रयोग पाया जाता है; जैसे—सावको, दुक्ख, पुनप्पुर्नम्।

अनुस्वार का अनुनासिक व्यंजनवत् उच्चारण होता था।

पाली में श, ष, स तीनों के स्थान में स का ही प्रयोग होता था। पर पश्चिमोत्तर के शिलालेखों में तीनों का प्रयोग मिलता है। परवर्त्ती काल की मध्यदेशीय प्राकृत में अर्थात् शौरसेनी में तो निश्चय से केवल स का प्रयोग होने लगा।

संस्कृत के अन्य सभी व्यंजन पाली में पाए जाते हैं। तालव्य और वर्त्स्य स्पर्शों का उच्चारण-स्थान थोड़ा और आगे बढ़ आया था। पाली के काल में ही वर्त्स्य वर्ण अंतर्दंत्य हो गए थे। तालव्य स्पर्श-वर्ण उस काल में तालु-वर्त्स्य घर्ष-स्पर्श वर्ण हो गए थे। तालव्य व्यंजनों का यह उच्चारण पाली में प्रारंभ हो गया था और मध्य प्राकृतों के काल में जाकर निश्चित हो गया। अंत में किसी किसी आधुनिक देश-भाषा के प्रारंभ-काल में वे ही तालव्य च, ज दंत्य घर्ष-स्पर्श ts, dz और दंत्य ऊष्म स, ज़ हो गए।

प्राकृत ध्वनि-समूह

पाली के पीछे की प्राकृतों का ध्वनि-समूह प्रायः समान ही पाया जाता है। उसमें भी वे ही स्वर और व्यंजन पाए जाते हैं। विशेषकर शौरसेनी प्राकृत तो पाली से सभी बातों में मिलती है। उसमें पाली के ड़, ढ़ भी मिलते हैं। पर न और य शौरसेनी में नहीं मिलते। उनके स्थान में ण और ज हो जाते हैं।

अपभ्रंश का ध्वनि-समूह

अपभ्रंश काल में आकर भी ध्वनि-समूह में कोई विशेष अंतर नहीं देख पड़ता। शौरसेन अपभ्रंश की ध्वनियाँ प्रायः निम्नलिखित थीं—

स्वर

	पश्च	अग्र
संवृत	ऊ, उ	ई, इ
ईषत्संवृत	ओ, ओ̆	ए, ए̆
ईषत्विवृत	अ	
विवृत	आ	

व्यंजन

	काकल्य	कंठ्य	मूर्धन्य	तालव्य	तालु वर्त्स्य	अंतदंत्य	दंत्योष्ठ्य
स्पर्श		क, ग	ट ड			त द	प ब
सप्राण स्पर्श		ख, घ	ठ ढ			थ ध	फ भ
स्पर्श घर्ष					च ज छ झ		
अनुनासिक		ङ	ण		ञ	न्ह, न	म्ह, म
पार्श्विक			ड़, ढ़		ल		
उत्क्षिप्त					र		
घर्ष अर्थात् सोष्म	ह					स	व, वँ
अर्ध स्वर				य			व

हिंदी ध्वनि-समूह

ये अपभ्रंश-काल की ध्वनियाँ (१० स्वर और ३७ व्यंजन) सभी पुरानी हिंदी में मिलती हैं। इनके अतिरिक्त ऐ (अए) और औ (अओ) इन दो संध्यक्षरों का विकास भी पुरानी हिंदी में मिलता है। विदेशी भाषाओं से जो व्यंजन आए थे वे सब तद्भव बन गए थे। अंत में

आधुनिक हिंदी का काल आता है। उसमें स्वर तो वे ही पुरानी हिंदी के १२ स्वर हैं, पर व्यंजनों में वृद्धि हुई है। क़, ग़, ख़, ज़, फ़ के अतिरिक्त ऑ तथा श आदि अनेक ध्वनियाँ तत्सम शब्दों में प्रयुक्त होने लगी हैं। केवल ऋ, ष, ञ् ऐसे व्यंजन हैं जो नागरी लिपि में हैं और संस्कृत तत्सम शब्दों में आते भी हैं पर वे हिंदी में शुद्ध उच्चरित नहीं होते; अतः उनका हिंदी में अभाव ही मानना चाहिए। इन हिंदी ध्वनियों का विवेचन पीछे हो चुका है।

हिंदी के ध्वनि-विकारों का ऐतिहासिक अध्ययन करने के लिये उसकी पूर्ववर्ती सभी आर्य भाषाओं का अध्ययन करना आवश्यक है। अभी जब तक इन सब भाषाओं का इस प्रकार का अध्ययन नहीं हुआ है तब तक यह किया जाता है कि संस्कृत की ध्वनियों से हिंदी की ध्वनियों की तुलना करके एक साधारण इतिहास बना लिया जाता है; क्योंकि संस्कृत प्राचीन काल की और हिंदी आधुनिक काल की प्रतिनिधि है। हिंदी-ध्वनियों का विचार तो तभी पूर्ण हो सकेगा जब मध्यकालीन भाषाओं का भी सुंदर अध्ययन हो जाय।*

रूप-विचार

जिस प्रकार हिंदी के ध्वनि-विचार का दिग्दर्शन मात्र यहाँ कराया गया है उसी प्रकार रूप-विचार का वर्णन भी हम संक्षेप में ही दे सकेंगे। हिंदी विभक्ति-प्रधान भाषा है अतः हिंदी का रूप-विचार विभक्तियों का विवेचन मात्र होगा। विभक्ति का विचार हिंदी की संज्ञा, सर्वनाम और क्रिया में ही मुख्यतः होता है अतः इन्हीं तीनों का हम आगे विचार करेंगे।

हिंदी के विद्वानों में विभक्तियों के संबंध में बहुत मतभेद है। कोई इन्हें प्रत्यय मानते हैं और इसी आधार पर इन्हें मूल शब्दों के साथ मिलाकर लिखते हैं; परंतु दूसरों का मत इसके विरुद्ध है। उनका कहना है कि विभक्तियाँ स्वतंत्र शब्दों से उत्पन्न हुई हैं। जिस रूप में वे इस समय वर्त्तमान हैं, वह उनका संक्षिप्त रूप है। कुछ भी हो, हम यहाँ पर यह दिखलावेंगे कि विभक्तियों की उत्पत्ति किस प्रकार हुई है।

विभक्तियाँ

---

* हिंदी के रूप-विकारों का थोड़ा और परिचय प्राप्त करने के लिये भाषा-रहस्य देखिए।

(१) कर्त्ता—कर्त्ता कारक की विभक्ति किसी आधुनिक आर्य भाषा में नहीं है। हिंदी में जब सकर्मक क्रिया भूतकाल में होती है, तब कर्त्ता के साथ 'ने' विभक्ति लगती है। यह 'ने' विभक्ति पश्चिमी हिंदी का एक विशेष चिह्न है। पूर्वी हिंदी में इसका पूर्ण अभाव है। यह 'ने' वास्तव में करण का चिह्न है, जो हिंदी में गृहीत कर्मवाच्य रूप के कारण आया है। इसका प्रयोग संस्कृत के करण कारक के समान साधन के अर्थ में नहीं होता; इसलिये हम 'ने' को करण कारक का चिह्न नहीं मानते। करण कारक का चिह्न हिंदी में 'से' है। (संस्कृत में करण कारक का 'इन' प्राकृत में 'एण' हो जाता है। इसी 'इन' का वर्ण-विपरीत हिंदी रूप 'ने' है।)

(२) कर्म और संप्रदान कारक—इन कारकों की विभक्ति हिंदी में 'को' है। इन दोनों कारकों के प्रयोग में स्पष्टता न होने के कारण प्रायः इनका परस्पर उलट-फेर हो जाता है। यह हिंदी के लिये नई बात नहीं है। करण, अपादान और अधिकरण कारकों में प्रायः उलट-फेर हिंदी की पूर्ववर्त्तीय भाषाओं में भी हो जाता है। संस्कृत में सात कारक हैं—कर्त्ता, कर्म, करण, संप्रदान, अपादान, संबंध और अधिकरण। पर संस्कृत वैयाकरण संबंध को कारक नहीं मानते। प्राकृतों में संप्रदान का प्रायः लोप हो गया है। साथ ही प्राकृतों में यह भी प्रवृत्ति देखी जाती है कि अन्य कारकों के स्थान में संबंध का प्रयोग होता है। इस प्रकार कारकों के केवल दो ही प्रत्यय अर्थात् कर्त्ता और संबंध के रह जाते हैं। अपभ्रंश में इस प्रकार एक कारक को कई का स्थानापन्न बनाने की प्रवृत्ति अधिक स्पष्ट देख पड़ती है। हेमचंद्र ने स्पष्ट लिखा है कि अपभ्रंश में संबंध कारक के प्रत्यय से ही अपादान और संबंध दोनों का बोध होता है। आधुनिक भाषाओं में शब्दों के दो रूप हो जाते हैं—एक कर्त्ता का अविकारी रूप और दूसरा अन्य कारकों में विकारी अर्थात् कारक-चिह्नग्राही रूप। इससे भिन्न भिन्न कारकों के प्रयोग में स्पष्टता हो जाती है; और इसे बनाए रखने के लिये आधुनिक भाषाओं में कारक-चिह्न-ग्राही रूपों में भिन्न भिन्न विभक्तियाँ लगाई जाती हैं। परंतु प्राकृतों तथा अपभ्रंशों में कारकों के लोप अथवा एक दूसरे में लीन हो जाने के कारण आधुनिक हिंदी में कर्म और संप्रदान तथा करण और अपादान कारकों की एक ही विभक्ति रह गई है।

बीम्स साहब का कथन है कि 'को' विभक्ति संस्कृत के 'कक्षे' शब्द से निकली है, जिसका विकार क्रमशः इस प्रकार हुआ है—कक्खं, कांख, काहँ, काहूँ, काहुँ, कहँ, कौं, कों और अंत में को। परंतु जिस अर्थ में

'को' विभक्ति आती है उसमें, 'कते' का प्रयोग संस्कृत साहित्य में कहीं नहीं मिलता। अतः आधुनिक रूप के आधार पर एक अप्रसिद्ध मूल की कल्पना करना उल्टी गंगा बहाना है। दूसरे लोग अम्हाकं, अम्हें, तुम्हाकं, तुम्हें, से हमको, हमें, तुमको, तुम्हें की उत्पत्ति मानकर इसी 'कं' या 'आकं' की ओर शब्दों में अतिव्याप्ति स्वीकार करते हैं।

संस्कृत की 'कृ' धातु से 'कृत' शब्द बनता है। इसका करण कारक का रूप 'कृतेन' और अधिकरण कारक का रूप 'कृते' होता है। ये दोनों कृतेन और कृते संप्रदान कारक का भाव प्रकट करते हैं; जैसे—देवदत्तस्य कृते = देवदत्त के लिये। हेमचंद्र अपने व्याकरण (४।४२५) में लिखते हैं कि अपभ्रंश में 'केहिं' निपात (अव्यय) तादर्थ्य (= के लिये) में प्रयुक्त होता है जो संप्रदान कारक का अर्थ प्रकट करता है। संस्कृत के कृत से अपभ्रंश का 'कअ' होता है, जिसका करण बहुवचन या अधिकरण एक वचन रूप 'कअहि' या 'कयहि' होता है। हेमचंद्र जिस 'केहि' का उल्लेख करते हैं, वह वास्तव में इसी 'कअहि' या 'कयहि' का विकृत रूप है। इसी 'केहि' से आधुनिक भाषाओं की संप्रदान कारक की विभक्तियाँ किहीं, कै, कू, कौ, को, काहु, किनु, गे, खे, कु, के, का आदि बनी हैं। हिंदी में इस 'को' विभक्ति के रूप व्रजभाषा और अवधी में 'कहँ', कौं, के कुँ, कूँ, कौं, कउँ और कें होते हैं। इन्हीं 'कहँ' 'कौं' आदि से आधुनिक हिंदी की 'को' विभक्ति बनी है; अतएव यह स्पष्ट हुआ कि (हिंदी की 'को' विभक्ति संस्कृत के कृते या कृतेन शब्द से अपभ्रंश में 'केहि' होती हुई हिंदी में 'को' हो गई है।) कुछ लोग अपभ्रंश के 'केहि' निपात को कर + हि के संयोग से बना हुआ मानते हैं, जो क्रमशः संबंध और संप्रदान कारक के प्रत्यय माने जाते हैं।

(३) करण और अपादान—हिंदी में इनकी विभक्ति 'से' है। दोनों कारकों की एक ही विभक्ति होने का ठीक कारण नहीं जान पड़ता। पाली में इन दोनों का बहुवचनांत रूप एक सा होता है। संभव है, इसी उपमान से इनमें अभेद कर लिया गया हो। अधिकांश विद्वान् इसकी व्युत्पत्ति प्राकृत की 'सुंतो' विभक्ति से बताते हैं। प्राचीन हिंदी में अपादान के लिये तें तथा सेंती और हुँत, हुँते आदि विभक्तियाँ भी आई हैं। यह 'सेंती' तो स्पष्ट सुंतो से निकली है और हुँत, हुँते प्राकृत की विभक्ति हिंतो से। से विभक्ति भी सुंतो से निकली हुई जान पड़ती है। चंद बरदाई के पृथ्वीराज रासो में कई स्थानों पर 'सम' शब्द 'से' के अर्थ में आया है; जैसे—

कहै कंति सम कंत। (१—११)

कहि सनिकादिक इंद्र सम। (२—११०)
बलि लग्गौ जुध इंद्र सम। (२—२१८)

यह 'सम' संस्कृत के सह का पर्याय है और इसी से आगे चलकर 'सन' बना है जिसका प्रयोग अवधी में प्रायः मिलता है। अतएव बहुतों का मत है कि सम से सन तथा सन से सौं, सें और अंत में 'से' हो गया है। पर रासो में 'सें', 'सम', 'हुँतो' आदि रूप का एक साथ मिलना यह सूचित करता है कि ये सब स्वतंत्र हैं; कोई किसी से निकला नहीं है।

(४) संबंध-कारक—इसकी विभक्ति 'का' है। वाक्य में जिस शब्द के साथ संबंध-कारक का संबंध होता है, उसे भेद्य कहते हैं; और भेद्य के संबंध से संबंध कारक को भेदक कहते हैं। जैसे—'राजा का घोड़ा' में 'राजा का' भेदक और 'घोड़ा' भेद्य है। हिंदी में भेद्य इस विभक्ति का अनुशासन करता है और उसी के लिंग तथा वचन के अनुसार इसके भी लिंग-वचन होते हैं। और सब विभक्तियाँ तो दोनों लिंगों तथा दोनों वचनों में एक सी रहती हैं, केवल संबंध-कारक की विभक्ति पुल्लिंग एकवचन में 'का', स्त्रीलिंग एकवचन में 'की', और स्त्रीलिंग तथा पुल्लिंग दोनों के बहुवचन में तथा पुल्लिंग भेद्य के कारक-चिह्न-ग्राही रूप के पूर्व प्रयुज्यमान भेदक की 'के' होती है। इसका कारण यह है कि भेदक एक प्रकार से विशेषण होता है और विशेषण का विशेष्यनिघ्न होना स्वाभाविक ही है। इसी विशेषता को ध्यान में रखकर इसकी व्युत्पत्ति का विवेचन करना उचित होगा। इस विभक्ति की व्युत्पत्ति के संबंध में भी विद्वानों में कई मत हैं, जो नीचे दिए जाते हैं।

(क) संस्कृत में संज्ञाओं में इक, ईन, ईय प्रत्यय लगने से तत्संबंधी विशेषण बनते हैं। जैसे, काय से कायिक, कुल से कुलीन, भारत से भारतीय। 'इक' से हिंदी में 'का', 'ईन' से गुजराती में 'नो' और 'ईय' से सिंधी में 'जो' तथा मराठी में 'चा' होता है।

(ख) प्रायः इसी तत्संबंधी अर्थ में संस्कृत में एक प्रत्यय "क" आता है; जैसे—मद्रक=मद्र देश का, रोमक=रोम देश का। प्राचीन हिंदी में 'का' के स्थान में 'क' पाया जाता है, जिससे यह जान पड़ता है कि हिंदी का 'का' संस्कृत के 'क' प्रत्यय से निकला है।

(ग) प्राकृत में 'इदं' (संबंध) अर्थ में 'केरओ' 'केरिअ' 'केरकं' 'केर' आदि प्रत्यय आते हैं, जो विशेषण के समान प्रयुक्त होते हैं और लिंग में विशेष्य के अनुसार बदलते हैं। जैसे—कस्स केरकं एदं पवहणं (किसकी यह बहल है)। इन्हीं प्रत्ययों से पृथ्वीराज रासो की प्राचीन हिंदी के केरा, केरो आदि प्रत्यय निकले हैं जिनसे हिंदी के 'का, के, की'

प्रत्यय बनते हैं। पर इन्हें प्रत्यय कहना उचित नहीं जान पड़ता। प्रत्यय जिस प्रकृति से लाया जाता है, वह निर्विभक्तिक होती है, उससे विभक्ति का लोप हो जाता है। परंतु यहाँ 'केरकं' के पहले 'कस्स' सविभक्तिक है। हेमचंद्र ने 'केर' प्रत्यय (२।१४७) और संबंधिवाचक 'केर' शब्द (४।४२२) दोनों का उल्लेख किया है। तुम्हकेरो, अम्हकेरो, तुज्झ वप्पकेरको (मृच्छक०) आदि में प्रयुक्त 'केर' को प्रत्यय और 'कस्स केरकं' के 'केर' को स्वतंत्र पद समझना चाहिए। हिंदी 'किसका' ठीक 'कस्स केरकं' से मिलता है। किस, 'कस्स' ही का विकार है। अतः 'किसका' में दुहरी विभक्ति की कल्पना करके चौंकना वृथा है।

(घ) प्राकृत इदमर्थ के क, इक्क, एच्चय आदि प्रत्ययों से ही रूपांतरित होकर आधुनिक हिंदी के 'का, के, की' प्रत्यय हुए हैं।

(ङ) सर्वनामों के 'रा, रे, री' प्रत्यय केरा, केरो आदि प्रत्ययों के आद्य 'क' का लोप हो जाने से बने हैं।

यही भिन्न भिन्न मत हैं। कुछ कुछ तथ्यांश प्रत्येक मत में जान पड़ता है, परंतु प्राकृत इदमर्थवाची केरओ, केरिअ, केरकं आदि से हिंदी की संबंध कारक की विभक्ति का निकलना [देखो ऊपर (ग)] अधिक युक्तिसंगत जान पड़ता है। इस कृत का बोलचाल की प्राकृत में, जिसका स्वाभाविक रूप भास के नाटकों में रक्षित है, 'केरओ' होता है। मृच्छकटिक की पंडिताऊ प्राकृत में यही 'केरकं' के रूप में मिलता है। हेमचंद्र में यही 'केर' के रूप में मिलता है (दे०—संबंधिनि केरतणो— हेमचंद्र) और उससे पहले धनपाल में यही 'केरा' 'केरी' के रूप में मिलता है। पृथ्वीराजरासो में भी यह 'केरो' 'केरी' है।

दौरे गज अंध चहुआन केरो। भिदी दृष्टि सें दृष्टि चहुआन केरी।

अक्षरों तथा भाषाओं के क्रमशः विकार और लोप होने से इससे अवधी के "केरा, केरी, केर, कै, क" रूप हुए—जैसे,

यह सब समुद बुंद जेहि केरा।—जायसी।

औ जमकात फिरै जम केरी।—जायसी।

हौं पंडितन केर पछलगा।—जायसी।

राम ते अधिक राम कर दासा।—तुलसी।

धनपति उहै जेहि क संसारा।—तुलसी।

पश्चिमी की 'का—के—की' विभक्तियाँ प्राकृत अपभ्रंशों से उतना मेल नहीं खातीं जितनी पूर्वी की देख पड़ती हैं। फिर भी 'केर' के 'र' के लोप हो जाने से 'के' का आविर्भाव सुगमता से हो जाता है, और

जिस प्रकार पूर्वी का 'क' निकलता है उसी प्रकार खड़ी बोली का 'का, के, की', व्रज का 'कौ' और कन्नौजिया का 'को' भी निकल सकता है। पूर्व और पश्चिम की उच्चारण-भिन्नता भी इस भेद का कारण हो सकती है। यह तो स्पष्ट ही है कि पश्चिमी ओकार प्रियता रासो के 'केरो' और पूर्वी आकार-प्रियता जायसी के 'केरा' के लिये उत्तरदायी है।

डाक्टर भंडारकर ने 'कीय' से 'केर' के निकालने में रूपबाधा मानी है इसलिये वे 'कार्य' से इन रूपों को निकालते हैं, पर यदि विचार किया जाय तो इस व्युत्पत्ति में भी बाधा है। संबंध भूत वस्तु है और कार्य भविष्य। संबंध हो चुका होता है और कार्य होनेवाला होता है। यदि 'कीय' से 'केर' की उत्पत्ति में रूप बाधा थी तो 'कार्य' में अर्थ-बाधा उपस्थित होती है। पर जैसा कि ऊपर कहा गया है 'कृत' को मूल मानने से कोई भी बाधा उपस्थित नहीं होती।

कुछ विद्वानों का यह भी मत है कि इस प्रकार का अर्थ विपर्यय संस्कृत में भी बहुधा हुआ है, अतएव यहाँ भी उसके मानने में आपत्ति नहीं होनी चाहिए। ये विद्वान् पूर्वी 'केरो, केर, कर, क' का 'कृत' से 'केरो, करो' होते हुए तथा पश्चिमी 'कै, को, का, के, कु' को 'कृत' से 'कौ, किओ, किरो' होते हुए मानते हैं। यह भी हो सकता है और वह भी हो सकता है। पर जैसा कि हम कह चुके हैं संगति 'कृत' से 'केरओ, केरिअ, केरक' आदि होते हुए इन रूपों को निकालने में ही बैठती है।

दूसरे विद्वानों का कहना है कि संबंध कारक की विभक्तियों में लिंग-वचन के अनुसार रूपांतर होने के कारण यह स्पष्ट है कि ये विभक्तियाँ वास्तव में विशेषण थीं और प्रारंभ में इनमें कारकों के कारण विकार होता था। अतएव 'का' विभक्ति का पूर्व रूप भी विशेषण का सा ही रहा होगा। संस्कृत कृ धातु के कृदंत रूप कृतः का अपभ्रंश में केरा, किरो, किओ, को और कयो होता है। इन अपभ्रंश रूपों को हम दो विभागों में विभक्त कर सकते हैं—

(१) को, किओ, किरो।

(२) केरो, करो।

प्रथम श्रेणी के रूप स्पष्टतः संस्कृत के कृतः से निकले हैं। इसी का शौरसेनी अपभ्रंश रूप 'किरो' है। द्वितीय श्रेणी में केरो का प्रयोग तो अपभ्रंश में मिलता है, पर करो का नहीं मिलता। आधुनिक भाषाओं में इसके मिलने से यह मानना पड़ता है कि या तो इस रूप का प्रयोग था, अथवा यह केरो से विकृत होकर बना है। बीम्स और हार्नली का मत है कि संस्कृत के कृतः से प्राकृत में करिओ हुआ जिससे केरो बना।

कोई कोई प्राकृत के 'करिओ' को संस्कृत के 'कार्यः' से निकला हुआ मानते हैं। संभवतः इसका पुराना रूप 'करिद' न कि 'करिअ' हो सकता है; पर 'करिद' से 'केर' नहीं निकल सकता। यदि हम इसे 'कार्यः' से निकालते हैं, तो इसके अर्थ में बाधा उपस्थित होती है। कृतः भूत कृदंत का रूप है और कार्यः भविष्य कृदंत का। भूत और भविष्य के भावों में बहुत भेद है; अतएव एक ही अर्थ के द्योतक शब्द को दोनों से निकला हुआ मानना ठीक नहीं। पर संस्कृत में भी इस प्रकार अर्थ का विपर्यय होता है। अतः केरो और करो को सं० कार्यः, प्रा० करिओ से निकला हुआ मानने में कोई अड़चन नहीं है। अतएव यह स्पष्ट है कि प्रथम श्रेणी के प्राकृत प्रत्ययों से कौ, को, का, के, कु निकले हैं और दूसरी श्रेणी के प्रत्ययों से केरो, केर, कर, क निकले हैं।

पर इन व्युत्पत्तियों का आधार अनुमान ही अनुमान है। अतः हम इनके परम मूल की गवेषणा छोड़कर केवल प्राकृत के 'केर' "क" प्रत्यय और अपभ्रंश के "केर" या 'केरक' शब्द से ही इनकी व्युत्पत्ति मानकर संतोष करें तो अच्छा है। जिस प्रकार 'बलीवर्द' के दो खंडों—बली और वर्द से क्रमशः बैल और बर्दा एवं 'द्वे' के दो खंडों द और वे से क्रमशः हिंदी 'दो' और गुजराती तथा पुरानी हिंदी 'बे' निकले हैं, वैसे ही 'केरक' से केर (पश्चिमी अवधी 'रामकेर', 'एर' (बँगला), 'क' (भोजपुरिया और पूर्वी अवधी) और 'का' का उत्पन्न होना कोई आश्चर्य नहीं।

(५) अधिकरण कारक—हिंदी में इसका चिह्न 'में' है। यह संस्कृत के 'मध्ये' से निकला है। प्राकृत और अपभ्रंश में इसके मज्झे, मज्झि, मज्झहिं रूप होते हैं। इन्हीं रूपों से आधुनिक भाषाओं की विभक्तियों के दो प्रकार के रूप बन गए हैं—एक वह जिसमें झ बना हुआ है, और दूसरा वह जिसमें झ के स्थान में ह हो गया है। इन्हीं रूपों से *मझि, माँझि, माहँ, माँहीं, माँही, माह, महँ, माँ, मों और में रूप बने हैं।* यह बीम्स तथा हार्नली का मत है।

वस्तुतः 'में' को पाली, प्राकृत के स्मि, म्हि, म्मि से ही उद्भूत मानना चाहिए। प्राकृत अथवा संस्कृत में जहाँ जहाँ 'मज्झहिं' या 'मध्ये' का प्रयोग हुआ है, वहाँ वहाँ उसके पूर्व में षष्ठी विभक्ति वर्तमान रहती है; अतः उसे मध्य शब्द का अर्थानुरोध से प्रयुक्त स्वतंत्र रूप ही समझना चाहिए, न कि अधिकरणता-बोधक विभक्ति। दूसरे 'पृथ्वीराज रासो' आदि प्राचीन हिंदी काव्यों में साथ ही साथ 'माझ' आदि तथा 'में' का प्रयोग देखकर यह कोई नहीं कह सकता कि 'मध्य' से घिस घिसाकर 'में' उत्पन्न हुआ है। अतः 'म्मि' से ही 'में' निकला है, इसमें

संशय नहीं। इसी 'म्मि' का केवल 'इ' अपभ्रंश में आता है। इसका सार यह निकला कि माझ, महँ आदि 'मध्य' और 'में', म्मि से व्युत्पन्न हुए हैं।

इस प्रकार हिंदी विभक्तियों की उत्पत्ति संस्कृत तथा प्राकृत के शब्दों, विभक्तियों और प्रत्ययों से हुई है। यहाँ पर हम एक बात पर पुनः ध्यान दिलाना चाहते हैं। हम पहले यह बात लिख चुके हैं कि भारतवर्ष की आधुनिक आर्यभाषाओं के दो मुख्य समुदाय हैं—एक बहिरंग और दूसरा अंतरंग; और एक तीसरा समुदाय दोनों का मध्यवर्ती है। बहिरंग और अंतरंग समुदाय की भाषाओं में यह बड़ा भेद है कि पहली संयोगावस्था में है और दूसरी वियोगावस्था में, अर्थात् पहली के कारक रूप प्रायः प्रत्यय लगाकर बनते हैं और दूसरी के कारक रूपों के लिये सहायक शब्दों की आवश्यकता होती है। जैसे—हिंदी में कारक रूप बनाने के लिये 'घोड़ा' संज्ञा के साथ विभक्ति लगाकर घोड़े का, घोड़े को आदि बनाते हैं। हम यह भी दिखला चुके हैं कि ये 'का, को' आदि स्वतंत्र शब्द थे; पर क्रमशः अपनी स्वतंत्रता खोकर अब सहायक मात्र रह गए हैं। इसके विपरीत बँगला भाषा को लीजिए, जिसमें 'घोड़े का' के स्थान में 'घोड़ार' और 'घोड़े को' के स्थान में 'घोड़ारे' होता है। यहाँ र और रे प्रत्यय लगाकर कारक के रूप बनाए गए हैं। कहने का तात्पर्य यही है कि एक अवस्था में स्वतंत्र शब्द सहायक बन जाने पर भी अपनी अलग स्थिति रखते हैं; और दूसरी अवस्था में वे प्रत्यय बनकर शब्दों के साथ मिलकर उसके अंग बन गए हैं।

प्रायः भाषाएँ अपने विकास की अवस्था में पहले वियोगात्मक होती हैं और क्रमशः विकसित होते होते संयोगात्मक हो जाती हैं। बहिरंग भाषाएँ भी आरंभ में वियोगात्मक अवस्था में थीं; पर क्रमशः विकसित होती हुई ये संयोगात्मक हो गईं। अर्थात् प्रथम अवस्था में शब्द अलग अलग रहते हैं; और दूसरी अवस्था में वे विकृत शब्दों के साथ मिलकर उनके अंग बन जाते हैं तथा भिन्न भिन्न संबंधों को सूचित करते हैं। कहने का तात्पर्य यही है कि जो पहले केवल संग लगे रहते थे, वे अब अंग हो गए हैं। हम यह बात एक उदाहरण देकर स्पष्ट करते हैं। परंतु ऐसा करने के पहले हम प्राकृत और अपभ्रंश के एक मुख्य नियम पर ध्यान दिला देना चाहते हैं। प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं में कुछ व्यंजन, जिनमें क और त सम्मिलित हैं, जब किसी शब्द के बीच में दो स्वरों के मध्य में आते हैं, तब उनका लोप हो जाता है। परंतु यदि वे किसी शब्द के आरंभ में आते हैं, तो उनका लोप नहीं होता, चाहे उनके पूर्ववर्ती शब्द के अंत में स्वर हो और उनके पीछे भी

स्वर हो; जैसे चलति का चलइ होता है। इस शब्द के स्वरों और व्यंजनों को अलग करने से ऐसा रूप होता है—च्+अ+ल्+अ+त्+इ। अब त् अक्षर अ और इ के बीच में आया है, इसलिये उसका लोप हो गया है। एक दूसरा उदाहरण लीजिए—कामस्स तत्त (=कामस्य तत्व)। इसमें तत्त के प्रथम त का लोप नहीं हुआ, यद्यपि कामस्स का अंतिम स अकारांत है और 'त' स्वयं भी अकारांत है। यहाँ इसका लोप इसलिये नहीं हुआ कि यह शब्द के आरंभ में आया है। अतएव यह स्पष्ट हुआ कि 'क' या 'त' का लोप तभी होता है, जब वह शब्द के बीच में आता है। शब्द के आरंभ में उसका लोप नहीं होता। अब हम किअअ, कर, करौ और तनौ इन तीन प्राचीन शब्दों को लेते हैं जो संबंध कारक के प्रत्यय बन गए हैं। हिंदी 'घोड़े का' 'घोड़हि कअअ' से बना है। यहाँ इस कअअ के क का लोप नहीं हुआ और वह आधुनिक 'का' रूप में 'क' सहित वर्तमान है। अतएव यह 'का' का 'क' एक स्वतंत्र शब्द का आरंभिक अक्षर है, जो घोड़े के साथ मिलकर एक नहीं हो गया है। इसलिये यह कारक चिह्न के रूप में वर्तमान है और व्याकरण के नियमानुसार प्रत्यय नहीं बन गया है। अब बँगला का 'घोड़ार' लीजिए जिसका अपभ्रंश रूप 'घोड़अ-कर' है। इसमें 'कर' का केवल 'अर' रह गया है। यहाँ आरंभिक 'क' का लोप हो गया है। यह 'क' मध्यस्थ होकर लुप्त हुआ है; इसलिये यह स्वतंत्र न रहकर घोड़ा शब्द में लीन हो गया है। यहाँ यह कारकचिह्न न रहकर प्रत्यय बन गया है। बहिरंग भाषाओं में इस प्रकार के और भी उदाहरण मिलते हैं; पर विस्तार करने की आवश्यकता नहीं है। जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, बहिरंग भाषाएँ संयोगावस्था में हैं; अतः उनके कारकों के सूचक सहायक शब्द उनके अंग बनकर उनसे संयुक्त हो गए हैं; और अंतरंग भाषाओं में, उनकी वियोगावस्था में रहने के कारण, वे वियुक्त रहे हैं। इस अवस्था में हिंदी के संज्ञा-कारकों की विभक्तियों को शब्दों से अलग रखना उनके इतिहास से सर्वथा अनुमोदित होता है। इस संबंध में जानने की दूसरी बात यह है कि अंतरंग भाषाओं में कारक चिह्न या विभक्ति लगने के पूर्व शब्दों में वचन आदि के कारण विकार हो जाता है; पर बहिरंग भाषाओं में प्रत्यय लग जाने पर इन्हीं कारणों से विकार नहीं होता। यहाँ एक अपनी स्वतंत्र स्थिति बनाए रखता है और दूसरा अपना अस्तित्व सर्वथा खो देता है।

यह उपर्युक्त विचार हमने ग्रियर्सन प्रभृति विद्वानों के मतानुसार किया है। जिस प्रकार अंतरंग-बहिरंग भेद के प्रयोजक अन्य कारणों

का दौर्बल्य हम पहले दिखा चुके हैं, उसी प्रकार संयोगावस्था के प्रत्ययों और वियोगावस्था के स्वतंत्र शब्दों के भेद की कल्पना भी दुर्बल ही है अंतरंग मानी गई पश्चिमी हिंदी तथा अन्य सभी आधुनिक भाषाओं में संयोगावस्थापन्न रूपों का आभास मिलता है। यह दूसरी बात है कि किसी में कोई रूप सुरक्षित है, किसी में कोई। पश्चिमी हिंदी और अन्य आधुनिक आर्य भाषाओं की रूपावली में स्पष्टतः हम यही भेद पाते हैं कि उसमें कारक चिह्नों के पूर्व विकारी रूप ही प्रयोग में आते हैं; जैसे—'घोड़े का' में 'घोड़े'। यह 'घोड़े' घोड़हि (=घोटस्य अथवा घोटक+तृतीया बहुवचन विभक्ति 'हि'=भिः) से निकला है। यह विकारी रूप संयोगावस्थापन्न होकर भी अंतरंग मानी गई भाषा का है। इसके विपरीत बहिरंग मानी गई बँगला का 'घोड़ार' और बिहारी का "घोराक" रूप संयोगावस्थापन्न नहीं किंतु घोटक+कर और घोटक+क,—क से घिस घिसाकर बना हुआ संमिश्रण है। पुनश्च अंतरंग मानी गई जिस पश्चिमी हिंदी में वियोगावस्थापन्न रूप ही मिलने चाहिए, कारकों का बोध स्वतंत्र सहायक शब्दों ही के द्वारा होना चाहिए, उसी में प्रायः सभी कारकों में ऐसे रूप पाए जाते हैं जो नितांत संयोगावस्थापन्न हैं; अतएव वे बिना किसी सहायक शब्द के प्रयुक्त होते हैं। उदाहरण लीजिए—

कर्त्ता एकवचन—घोड़ो (व्रज०) घोड़ा (खड़ी बोली) घरु (व्रज० नपुंसक लिंग)।

कर्त्ता बहुवचन—घोड़े (∠घोड़ेइ ∠घोड़हि=तृतीया बहुवचन, 'मैं' के समान प्रथमा में प्रयुज्यमान)।

करण—आँखों (∠अक्खिहिं, खुसुरू वाको आँखों दीठा—अमीर खुसरो) कानों (∠कएणहि)।

करण (-कर्त्ता)—मैं (ढोला मइं तुहुँ वारिआ; मैं सुन्यौ साहि बिन अंपि कीन्न—पृथ्वी०) तैं, मैंने, तैंने (दुहरी विभक्ति)।

अधिकरण एकवचन—घरे, आगे, हिंडोरे (बिहारीलाल), माथे (सूरदास)।

अपादान एकवचन—भुक्खा (=भूख से, बाँगड़ू) भूखन, भूखों (व्रज०, कन्नौजी)।

दूसरे बहिरंग मानी गई पश्चिमी पंजाबी में भी पश्चिमी हिंदी के समान सहायक शब्दों का प्रयोग होता है—घोड़े दा (=घोड़े का), घोड़े ने, घोड़े नूँ इत्यादि। इससे यह निष्कर्ष निकला कि बँगला आदि में

पश्चिमी हिंदी से बढ़कर कुछ संयोगावस्थापन्न रूपावली नहीं मिलती; अतः उसके कारण दोनों में भेद मानना अयुक्त है।

अब हम हिंदी के सर्वनामों की व्युत्पत्ति पर विचार करेंगे। इनमें विशेषता यह है कि इनमें से कुछ तो संयोगावस्था में हैं और कुछ वियोगावस्था में। एक एक सर्वनाम को लेकर हम इस संबंध में विवेचन करेंगे।

सर्वनाम

(१) मैं, हम—संस्कृत के अस्मद् शब्द का करण कारक का रूप संस्कृत में 'मया', प्राकृत में 'मइ' और अपभ्रंश में 'मइँ' होता है, जिससे हिंदी का 'मैं' शब्द बना है। संस्कृत के अस्मद्-शब्द के कर्ता कारक का रूप संस्कृत में अहं, प्राकृत में 'अम्हि' और अपभ्रंश में 'हउँ' होता है, जिससे हिंदी का 'हौं' शब्द बना है। अतएव यह स्पष्ट है कि कविता का हौं (=मैं) प्रथमा का परंपरागत रूप है और आधुनिक 'मैं' तृतीया से बना है। बहुवचन में संस्कृत के 'वयं' का रूप लुप्त हो गया है, यद्यपि प्राकृत में वयं का वश्रं और पाली में मयं रूप मिलता है। पर अपभ्रंश में यह रूप नहीं देख पड़ता। बहुवचन में प्राकृत में, अम्हे, अम्हो और अपभ्रंश में अम्हइँ, अम्हेइँ आदि रूप मिलते हैं। अ का लोप होकर और म—ह में विपर्यय होकर 'हम' रूप बन गया है। मार्कंडेय ने अपने प्राकृतसर्वस्व के १७ वें पाद के ४८ वें सूत्र में अस्मद् के स्थान में 'हमु' आदेश का उल्लेख किया है। परंतु उन्होंने यह रूप एकवचन में स्वीकार किया है। अपभ्रंश के लिये इस प्रकार का वचन-व्यत्यय कोई नई बात नहीं। कारकग्राही या विकारी रूपों में हिंदी में दो प्रकार के रूप मिलते हैं। एक में हिंदी की विभक्ति लगती है और दूसरे में नहीं लगती। जैसे—कर्म कारक में मुझे और मुझको, हमें और हमको दोनों रूप होते हैं, पर अन्य कारकों में 'मुझ' के साथ विभक्ति अवश्य लगती है। मुज्झ और मुज्झे प्राकृत और अपभ्रंश दोनों में मिलते हैं, जिनसे हिंदी का मुझ रूप बना है। संबंध कारक में कृतः के केरो, करो रूपों के आरंभिक क के लुप्त हो जाने से रो या रा अंश बच रहा है, जो कई भाषाओं में अब तक षष्ठी विभक्ति का काम देता है। इस 'रा' प्रत्यय के 'मे' में लगाने से 'मेरा' रूप बनता है और इसके अनुकरण पर बहुवचन का रूप बनता है। सारांश यह है कि अस्मद् से प्राकृत तथा अपभ्रंश द्वारा होते हुए ये सब रूप बने हैं। परंतु यह ध्यान रखना चाहिए कि कारकग्राही रूपों में मुज्झ रूप स्वयं कारक-प्रत्यय सहित है; पर हिंदी में इस बात को भूलकर उसमें पुनः विभक्तियाँ लगाई गई हैं।

(२) तू, तुम, आप—इनमें से तू और तुम रूप युष्मद् से बने हैं। (संस्कृत के युष्मद् शब्द का कर्ता एकवचन रूप प्राकृत में तुं, तुमं, और अपभ्रंश में तुह होता है, जिससे तू या तूँ और तुम बने हैं।) इसी प्रकार कारकग्राही रूप भी प्राकृत और अपभ्रंश के तुज्झ के रूप से बने हैं। ('आप' रूप संस्कृत के आत्मन् शब्द से निकला है, जिसका प्राकृत अप्पा और अपभ्रंश रूप अप्पण होता है; और जो इसी अथवा अप्पन, अपन आदि रूपों में राजपूताने तथा मध्य प्रदेश आदि में अब तक प्रचलित है। शेष सब बातें मैं और हम के समान ही हैं।

(३) यह—संस्कृत के एतद् शब्द के कर्ता का एकवचन एषः होता है, जिसका प्राकृत में एसो और अपभ्रंश में एहो होता है। इसी से 'यह' के भिन्न भिन्न रूप जैसे—ई, यू, ए, एह आदि बने हैं। इस 'यह' का बहुवचन ये होता है, जो इस एतद् शब्द के अपभ्रंश रूप 'एइ' से बना है। कुछ लोग इसे संस्कृत 'इदम्' से भी निकालते हैं, जिसका प्राकृत रूप अयं और अपभ्रंश 'आअ' होता है। इसका कारक-चिह्न-ग्राही रूप एतद् के प्राकृत रूप ऐसो, एस, एअस्स और अपभ्रंश 'एइसु' अथवा 'इदम्' के प्राकृत रूप अस्स और अपभ्रंश 'अयसु' से निकला है। संबंध कारक का रूप भी इसी कारक-चिह्न-ग्राही रूप के अनुसार होता है; केवल विभक्ति ऊपर से लगती है। सर्वनामों में यह विचित्रता है कि उनका संबंध कारक का रूप संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश के षष्ठ्यंत रूप से बनता है। पर इसमें कारक प्रत्यय का समावेश शब्द में हो जाता है और पुनः विभक्ति लगती है।

(४) वह, वे—ये संस्कृत के अदस् शब्द से निकले हैं जिनका प्राकृत रूप 'अह' 'अमू' और अपभ्रंश रूप 'ओइ' (बहुवचन) होता है जिससे श्र, वै, ओ, वो, वह, उह आदि रूप बने हैं। कारक-चिह्न-ग्राही तथा संबंध कारक का रूप प्राकृत 'अमुस्स' से निकला है।

(५) सो, ते—ये संस्कृत सः, प्राकृत सो, अपभ्रंश सो से निकले हैं। बहुवचन संस्कृत का 'ते' है ही। कारक-चिह्न-ग्राही तथा संबंध कारक का रूप संस्कृत तस्य, प्राकृत तस्स, तास, अपभ्रंश तासु, तसु से बना है।

(६) जो—संस्कृत यः, प्राकृत जो, अपभ्रंश जु। 'जो' प्राकृत से सीधा आया है। संबंध का विकारी रूप यस्य, जस्स—जासु, जासु जसु—से निकला है।

(७) कौन—संस्कृत कः, प्राकृत को, अपभ्रंश कवणु से बना है; और किस—संस्कृत कस्य, प्राकृत कस्स, कास, अपभ्रंश कासु से निकला है।

(८) क्या—संस्कृत किम्, अपभ्रंश काइँ और काहि प्राकृत के अपादान कारक रूप 'काहे' से सीधा आया है।

(९) कोई—संस्कृत कोऽपि, प्राकृत कोवि, अपभ्रंश कोवि अथवा को+हि के 'ह' के लोप हो जाने से बना है; और किसी-कस्य, कस्स, कासु+ही (सं० हि) से व्युत्पन्न है।

इन सब सर्वनामों में, जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, यह विशेषता है कि इन सबका विकारी रूप षष्ठी या कहीं कहीं सप्तमी के रूप से बना है और उनके आदि कारक प्रत्यय उनके साथ में लगे हुए रहकर भी आधुनिक भाषाओं में आकर अपने व्यापार से च्युत हो गए हैं; इसलिये नई विभक्तियाँ लगाकर उन्हें कार्यकारी बनाया गया है। सबके बहुवचन एक ही प्रकार से 'न' या 'न्ह' से बने हैं। ये सब रूप एक ही ढँग से बने हैं। इनका कोई अपना स्वतंत्र इतिहास नहीं है; सब एक ही साँचे में ढले हैं।

क्रियाएँ

आधुनिक हिंदी में वास्तविक तिङंत (साध्यावस्थापन्न) क्रियाओं का बहुत कुछ लोप हो गया है। व्रजभाषा और अवधी में तो इनके रूप मिलते हैं, पर खड़ी बोली में यह बात नहीं रह रह गई है। हाँ, आज्ञा या विधि की क्रियाएँ अवश्य इसमें भी शुद्ध साध्यावस्थापन्न हैं जिनमें लिंग-भेद नहीं होता। अब हिंदी में अधिकांश क्रियाएँ दो प्रकार से बनती हैं—एक तो 'है' की सहायता से और दूसरे भूतकालिक कृदंत के रूपों से। 'है' पहले वास्तविक क्रिया थी और अब भी 'रहना' के अर्थ में उसका प्रयोग होता है; जैसे—'वह है'। पर इसका अधिकतर कार्य दूसरी क्रियाओं की सहायता करके उनके भिन्न भिन्न रूप बनाना तथा कालों की व्यवस्था करना है। जैसे—'वह जाता है', 'मैं गया था' इत्यादि। नीचे व्रजभाषा और अवधी के उदाहरण देकर हम यह दिखलाते हैं कि कैसे उन दोनों भाषाओं में पहले स्वतंत्र क्रियाएँ थीं और अब उनका लोप हो जाने पर उनका स्थान कृदंत क्रियाओं ने ग्रहण कर लिया है और उनका कार्य सहायक क्रिया 'है' के द्वारा संपादित होता है।

पुरुष	संस्कृत	प्राकृत	अपभ्रंश	व्रज-भाषा	अवधी	खड़ी बोली
एकवचन						
उ० पु०	चलामि	चलामि	चलउँ	चलौं	चलौं	चलता हूँ
म० पु०	चलसि	चलसि	चलहि चलइ	चलै	चलै	चलता है
अ० पु०	चलति	चलइ	चलहि, चलइ	चलै	चलै	चलता है
बहुवचन						
उ० पु०	चलामः	चलमो	चलहुँ, चलिहुँ	चलै	चलै	चलते हैं
म० पु०	चलथ	चलह	चलहुँ	चलौ	चलहु	चलते हैं
अ० पु०	चलति	चलति	चलहि चलइ	चलै	चलै	चलते हैं

इन उदाहरणों में वर्त्तमान काल के 'चलता', 'चलती' आदि क्रियांश वर्त्तमानकालिक धातुज विशेषण हैं। सं० चलन् (चलंत) चलंती आदि से इनकी उत्पत्ति हुई है। इनको देखने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि पहले 'है' का भाव क्रियाओं में ही सम्मिलित था, पर पीछे से खड़ी बोली में ये क्रियाएँ कृदंत रूप में आ गईं और भिन्न भिन्न पुरुषों, वचनों, कालों, प्रयोगों आदि का रूप सूचित करने के लिये 'है' के रूप साथ में लगाए जाने लगे। यही व्यवस्था भविष्यत् काल की भी है। हाँ, उसमें भेद यह है कि व्रजभाषा में उसके दोनों रूप मिलते हैं, पर अवधी तथा खड़ी बोली में एक ही रूप मिलता है। यह बात भी नीचे दिए हुए कोष्ठक से स्पष्ट हो जाती है।

पुरुष	संस्कृत	प्राकृत	अपभ्रंश	ब्रजभाषा	अवधी	खड़ी बोली
एक०						
उ०पु०	चलिष्यामि	चलिस्सामि, चलिहिमि	चलिस्सउँ, चलिहिउँ	चलिहउँ चलूँगो	चलिहउँ	चलूँगा
म० पु०	चलिष्यसि	चलिस्ससि, चलिहिसि	चलिस्सहि, चलिसइ चलिहिहि चलिहइ	चलिहै, चलैगो	चलिहहि	चलेगा
अ०पु०	चलिष्यति	चलिसइ चलिहिइ	चलिस्सहि, चलिसइ चलिहिहि, चलिहइ	चलिहै, चलैगो	चलिहहि	चलेगा
बहु०						
उ०पु०	चलिष्यामः	चलिस्सामो चलिहिमो	चलिस्सहुँ चलिहिउँ	चलिहैं, चलैंगे	चलिहहिं	चलेंगे
म० पु०	चलिष्यथ	चलिस्सह, चलिहिह	चलिस्सहु, चलिहिहु	चलिहौ, चलैगे	चलिहौ	चलोगे
अ०पु०	चलिष्यंति	चलिस्संति, चलिहिंति	चलिस्सहिं चलिहहिं	चलिहैं, चलैंगे	चलिहहिं	चलेंगे

में ठा या था रूप हो जाता है। हमारी हिंदी में भी 'स्थान' का 'थान' रूप बनता है। दूसरे लोग कहते हैं कि यह अस् धातु के 'स्थ' रूप से बना है। हमें पहला मत ठीक जान पड़ता है। 'स्था' धातु का सामान्य भूत (लुङ्) में "अस्थात्" रूप होता है। उससे उसी काल का 'था' रूप बड़ी सुगमता से व्युत्पन्न हो सकता है। दूसरा मत इसलिये ठीक नहीं है कि "स्थ" वर्त्तमान काल के मध्यम पुरुष का बहुवचन है। उससे भूतकालिक एकवचन 'था' की उत्पत्ति मानना द्रविड़ प्राणायाम करना है।

(३) गा—संस्कृत के गम् धातु का कृदंत रूप गतः होता है। इसका प्राकृत गओ या गअ होता है। इसी ग+अ=गा से भविष्यत् काल का चिह्न 'गा' बनता है। 'चलेगा' में 'गा' की क्या करतूत है, सो देखिए। 'चलिष्यति' चलिस्सदि > चलिस्सइ > चलिसइ > चलिहइ > चलिहि > चलिइ > चली (भोजपुरिया) रूप भी बनता है और चलि > चले भी बनता है। यह पिछला 'चले' यद्यपि स्वयं भविष्यत् काल का बोधक है, तथापि इतना घिस गया है कि पहचाना तक नहीं जाता। अतः उसमें 'गा' जोड़कर उसे और व्यक्त बनाते हैं। इस अवस्था में इसका अक्षरार्थ यही हो सकता है कि 'चलने के निमित्त गया।'

अर्थ-विचार

यदि हिंदी शब्दों के अर्थों का इतिहास देखा जाय तो बड़ी मनोरंजक कहानी प्रस्तुत हो सकती है। आज भी न जाने कितने शब्द भारोपीय तथा अति प्राचीन वैदिक काल का स्मरण करा देते हैं, पर अब उनके अर्थों में बड़ा अंतर आ गया है। एक धर्म शब्द ही लिया जाय तो वह वेद से लेकर आज तक अनेक अर्थों में प्रयुक्त हो चुका है और वर्तमान हिंदी में उसका अर्थ रह गया है मजहब, रिलीजन (religion) अथवा संप्रदाय।

यदि समास और वाक्य-रचना आदि का विकास देखा जाय तो संस्कृत के काल से लेकर आज तक बड़े परिवर्तन हुए हैं। हिंदी के शब्द-भांडार पर ही नहीं समास-रचना, वाक्य-रचना, आदि पर भी विदेशी प्रभाव पड़ा है। अतः यहाँ हम हिंदी अर्थ-विचार का उचित विवेचन न कर सकने पर भी विद्यार्थी का ध्यान उस अंग की ओर खींचना आवश्यक समझते हैं क्योंकि भाषा का वैज्ञानिक अध्ययन पूर्ण और सांग बनाने के लिये अर्थ-विचार भी आवश्यक होता है।

जैसा हम आरंभ में कह चुके हैं, हमारे इस अध्याय के तीन भाग हो सकते हैं। पहले भाग में हमने ध्वनि-शिक्षा के आधार पर ध्वनियों

का इतिहास प्रस्तुत किया है। दूसरे भाग में व्याकरण में दिए हुए रूपों के आधार पर रूपों का विचार हुआ है। अब इस तीसरे भाग में शब्द-कोश के आधार पर शब्दों के अर्थों का वर्गीकरण तथा विवेचन होगा। इस प्रकार पहले हम ध्वनियों का विचार करते हैं, फिर वे ध्वनियाँ जिन रूपों में प्रयुक्त होती हैं उन पर हम विचार करते हैं और अंत में उन निष्पन्न और प्रयुक्त शब्दों में भरे हुए अर्थों का विचार किया जाता है। ध्वनियों की गणना होती है, रूपों का भी व्याकरण में प्रायः परिगणन हो जाता है पर शब्द-भांडार तो बड़ा विशाल और वास्तव में गणनातीत होता है। भांडार न कहकर उसे तो सागर कहना चाहिए। और यदि शब्दसागर के सभी शब्दों का वर्गीकरण, विवेचन और व्युत्पत्ति देने लगें तब तो न जाने कितने हजार पृष्ठ लिखे जाने पर भी प्रकरण पूरा न होगा। हिंदी भाषा का इस प्रकार का अर्थ-विचार अपेक्षित है। तथापि अभी यहाँ पर तो हम इने गिने उदाहरण लेकर अपना काम चलावेंगे।

शब्द के तीन भेद

अर्थ के विचार से शब्दों के तीन प्रकार होते हैं—वाचक, लक्षक तथा व्यंजक। मुख्य और प्रसिद्ध अर्थ को सीधे सीधे कहनेवाला वाचक कहलाता है। लक्षण अथवा लाक्षणिक शब्द बात को लखा भर देता है, अभिप्रेत अर्थ को लक्षित मात्र करता है; और व्यंजक शब्द (मुख्य अथवा लक्ष्य अर्थ के अतिरिक्त) एक तीसरी बात की व्यंजना करता है; उससे प्रकरण, देश, काल आदि के अनुसार एक अनोखी ध्वनि निकलती है। उदाहरणार्थ यह मेरा घर है—इस वाक्य में घर शब्द वाचक है, अपने प्रसिद्ध अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, पर सारा घर खेल देखने गया है—इस वाक्य में 'घर' उसमें रहनेवालों का लक्षक है अर्थात् यहाँ घर शब्द लाक्षणिक है। और यदि कोई अपने आफिसर मित्र से बात करते करते कह उठता है, 'यह घर है, खुलकर बातें करो' तब 'घर' कहने से यह ध्वनि निकलती है कि यह ऑफिस नहीं है। यहाँ घर शब्द व्यंजक है।

शक्ति

इन सभी प्रकार के शब्दों का अपने अपने अर्थ से एक संबंध रहता है। उसी संबंध के बल से प्रत्येक शब्द अपने अपने अर्थ का बोध कराता है। बिना संबंध का शब्द अर्थहीन होता है—उसमें किसी भी अर्थ के बोध कराने की शक्ति नहीं रहती। संबंध उसे अर्थवान् बनाता है, उसमें शक्ति का संचार करता है। संबंध की शक्ति से ही शब्द इस अर्थ-मय जगत् का शासन करता है, लोकेच्छा का संकेत पाकर चाहे जिस अर्थ को अपना

लेता है, चाहे जिस अर्थ को छोड़ देता है। इसी संबंध-शक्ति के घटने-बढ़ने से उसके अर्थ की ह्रास वृद्धि होती है। इसी संबंध के भाव अथवा अभाव से उसका जन्म अथवा मरण होता है। अर्थात् संबंध ही शब्द की शक्ति है, संबंध ही शब्द का प्राण है। इसी से शब्द तत्त्व के जानकारों ने कहा है 'शब्दार्थसंबंधः शक्तिः'—शब्द और अर्थ के संबंध का नाम शक्ति है।

शक्ति और अर्थ

जिस प्रकार शब्द तीन प्रकार के होते हैं उसी प्रकार शक्ति और अर्थ के भी तीन तीन भेद होते हैं। (१) वाचक शब्द की शक्ति अभिधा कहलाती है और उसके अर्थ को अभिधेयार्थ, सामान्य अर्थ, वाच्य अर्थ अथवा मुख्य अर्थ कहते हैं। (२) लक्षक शब्द की शक्ति लक्षणा कहलाती है और उसके अर्थ को लक्ष्यार्थ, औपचारिक अथवा आलंकारिक अर्थ कहते हैं। (३) व्यंजक शब्द की शक्ति व्यंजना कहलाती है और उसके अर्थ को व्यंग्य अथवा ध्वनि कहते हैं।

इस प्रकार शब्द, शब्दशक्ति और शब्दार्थ को समझ लेने पर एक बात पहले ध्यान में रखकर तब आगे बढ़ना चाहिए। वह यह है कि साहित्यिकों और भाषा-वैज्ञानिकों की अध्ययन-प्रणाली में थोड़ा अंतर होता है। साहित्यिक लक्ष्य और व्यंग्य अर्थों की ओर विशेष ध्यान देता है और भाषा-वैज्ञानिक अभिधा की ओर। भाषा-वैज्ञानिक प्रयोग की व्याख्या नहीं करता और न उसके रस की मीमांसा करता है। वह तो कोष में गृहीत अर्थों को लेकर अपना ऐतिहासिक विवेचन शुरू कर देता है। आगे चलकर जब आवश्यकता पड़ती है तब वह रुक जाता है और इस पर विचार करता है कि अमुक शब्द का अमुक अर्थ पहले किन (लक्षणा व्यंजना आदि) शक्तियों की कृपा से विकसित हुआ है। इस प्रकार उसे प्रारंभ में और अपने नित्य के अध्ययन में कोष के अभिधेयार्थ से ही काम पड़ता है। यद्यपि कोष में लाक्षणिक और व्यंग्य अर्थ भी दिए रहते हैं पर शास्त्र और व्यवहार दोनों के विचार से लक्षणा और व्यंजना का प्रभाव तो प्रयोग में ही स्पष्ट होता है, कोष में नहीं। सच पूछा जाय तो जो अर्थ कोष में लिख जाता है उसमें केवल अभिधा शक्ति ही रह जाती है। यह बात विचार करने पर सहज ही समझ में आ जाती है। अतः हम लक्षणा, व्यंजना की अधिक चर्चा यहाँ न करके अभिधा से ही प्रारंभ करते हैं।

कुछ लोग अभिधा को ही शब्द की वास्तविक शक्ति समझते हैं। इस अभिधा शक्ति के तीन सामान्य भेद होते हैं। रूढ़ि, योग और योग-रूढ़ि। इसी शक्ति-भेद के अनुसार शब्द और अर्थ भी रूढ़, यौगिक अथवा

योगरूढ़ होते हैं। मणि, नूपुर, गौ, हरिण आदि शब्द, जिनकी व्युत्पत्ति नहीं हो सकती रूढ़ कहलाते हैं। इन शब्दों में रूढ़ि की शक्ति व्यापार करती है, और जिन शब्दों की शास्त्रीय प्रक्रिया द्वारा व्युत्पत्ति की जा सकती है वे यौगिक कहलाते हैं। जैसे याचक, सेवक आदि शब्द यौगिक हैं, क्योंकि उनकी व्युत्पत्ति हो सकती है। कुछ शब्द ऐसे होते हैं जिनकी व्युत्पत्ति तो की जाती है पर व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ शब्द के मुख्य अर्थ से मेल नहीं खाता। ऐसे शब्द योगरूढ़ कहे जाते हैं। पंकज का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है पंक से उत्पन्न होनेवाला, पर अब वह शब्द एक विशेष अर्थ में रूढ़ हो गया है।

अभिधा के तीन भेद

भाषा-विज्ञान की दृष्टि से विचार करें तो केवल धातुएँ ही रूढ़ कही जा सकती हैं। चंद्रालोक के कर्ता जयदेव ने भी धातुओं को ही निर्योग माना है। धातु के अतिरिक्त अन्य शब्दों को रूढ़ मानना अज्ञान की स्वीकृति मात्र है। सभी शब्दों की उत्पत्ति धातु और प्रत्यय के योग से होती है। जिन शब्दों की उत्पत्ति अज्ञात रहती है उन्हें व्यवहारानुरोध से रूढ़ मान लिया जाता है। वास्तव में वे 'अव्यक्त योग' मात्र हैं, उनके योगार्थ का हमें ज्ञान नहीं है। अतः धातु में हम शब्द की निर्योग और रूढ़ अवस्था का दर्शन करते हैं। दूसरी अवस्था में धातु से प्रत्यय का योग होता है और यौगिक शब्द सामने आता है।

रूढ़ि, योग तथा योगरूढ़ि पर भाषा-वैज्ञानिक विचार

संस्कृत व्याकरण की वृत्तियाँ इस अवस्था का सुंदर निदर्शन कराती हैं। पहले धातु से कृत् प्रत्यय लगता है, जैसे पच् धातु से पाचक बनता है। फिर धातुज शब्द से तद्धित प्रत्यय लगता है तो पाचकता आदि शब्द बन जाते हैं। इन दोनों प्रकार के यौगिक शब्दों से समास बनते हैं। एक यौगिक शब्द दूसरे यौगिक शब्द, से मिलकर एक समस्त (यौगिक) शब्द को जन्म देता है। कभी कभी दो शब्द इतने अधिक मिल जाते हैं कि उनमें से एक अपना अस्तित्व ही खो बैठता है। शब्द की इस वृत्ति को एकशेष कहते हैं। जैसे माता और पिता का योग होकर एक यौगिक शब्द बनता है 'पितरौ'। इन चार वृत्तियों से नाम शब्द ही बनते हैं पर कभी कभी नाम के योग से धातुएँ भी बनती हैं, जैसे पाचक से पाचकायते बनता है। ऐसी योगज धातुएँ नामधातु कहलाती हैं और उनकी वृत्ति 'धातुवृत्ति' कहलाती है।

विचारपूर्वक देखा जाय तो भाषा के सभी यौगिक शब्द इन पाँच वृत्तियों के अंतर्गत आ जाते हैं। कृदंत, तद्धितांत, समास, एकशेष, और नामधातुओं को निकाल लेने पर भाषा में केवल दो ही प्रकार के

शब्द रह जाते हैं—धातु और प्रातिपदिक (अव्युत्पन्न रूढ़ शब्द)। इस प्रकार भाषा रूढ़ और यौगिक—इन्हीं दो प्रकार के शब्दों से बनती है। पर अर्थातिशय की दृष्टि से एक प्रकार के शब्द ऐसे होते हैं जो यौगिक होते हुए भी रूढ़ हो जाते हैं। ऐसे शब्द योगरूढ़ कहे जाते हैं। यह शब्द की तीसरी अवस्था है। जैसे धवल गृह का अर्थ होता है 'सफेदी किया हुआ घर', पर धीरे धीरे धवल गृह का प्रयोगातिशय से 'महल' अर्थ होने लगा। इस अवस्था में धवलगृह योगरूढ़ शब्द है। धवलः गृहः और धवल गृह का अब पर्याय जैसा व्यवहार नहीं हो सकता। यही योगरूढ़ि संस्कृत के नित्य समासों का मूल कारण है।

कृष्णसर्पः है तो यौगिक शब्द, पर धीरे धीरे उसका संकेत एक सर्प-विशेष में रूढ़ हो गया है। अतः वह समस्तावस्था में ही उस विशेष अर्थ का बोध करा सकता है अर्थात् कृष्ण सर्प में नित्य समास है। कुछ विद्वानों ने तो सभी समासों को योगरूढ़ माना है। विग्रह वाक्य की अपेक्षा समास में सदा अर्थ-वैशिष्ट्य रहता है इसी से नैयायिकों के अनुसार समास* में एक विशेष शक्ति आ जाती है। सच पूछा जाय तो प्रयोगातिशय से समृद्ध भाषा के अधिक शब्दों में योगरूढ़ि ही पाई जाती है। आर्थातिशय के विद्यार्थी के लिये योगरूढ़ि का अध्ययन बड़ा लाभकर होता है।

हिंदी के समास

साहित्यिक खड़ी बोली में आजकल संस्कृत के ही समास अधिक चलते हैं पर डाकघर, रामदाना, लोहूलुहान, मनचाही, मनमानी, मनचली, पियराकाटी, लाठीमार, गिरहकट, बदरफट, रातोंरात, दुधमुँहा, ललमुँहा, पँचमेल, बारहमजा, रेशमकटरा, बाँस-फाटक, दूधभात, पूड़ी-साग, घर-बार, तन-मन आदि के समान तद्भव और ठेठ भाषा के समासों की भी कमी नहीं है। इन्हीं चलते शब्दों का विचार भी आवश्यक है। अब यदि इन समस्त शब्दों के स्थान पर हम विग्रहवाक्यों का प्रयोग करें तो क्या कभी अच्छा लगेगा ? कभी नहीं। डाक का घर, फटे बादलवाला (ग्राम) आदि विग्रह वाक्यों से डाकघर और बदरफट का पूरा अर्थ कभी नहीं निकल सकता।

दूसरा वर्गीकरण

अभिधाशक्तिवाले शब्दों का एक वर्गीकरण हम देख चुके—१ रूढ़, २ यौगिक और ३ योगरूढ़। यह विकास और व्युत्पत्ति की दृष्टि से किया जाता है। दूसरा वर्गीकरण देशी विदेशी के भेद और प्रत्यक्ष व्यवहार के आधार पर किया

* समासे खलु भिन्नैव शक्तिः। (शब्दशक्तिप्रकाशिका)

जाता है। इस दूसरे वर्गीकरण के अनुसार मुख्य तीन भेद होते हैं—तत्सम, तद्भव और देशी। इनका विवेचन वास्तव में भाषा के विकास का सच्चा रूप सामने ला देता है। यदि पहले वर्गीकरण का आधार ऐतिहासिक व्याकरण है तो दूसरे का आधार तुलना और इतिहास दोनों हैं। इस वर्गीकरण के महत्त्व का विचार करके ही हमने इसके लिये एक अध्याय अलग रखा है। उसका नाम है 'विदेशी प्रभाव'। प्रारंभिक इतिहास के विचार से उसका स्थान पहले रखा गया है पर हिंदी के अर्थ-विकास के विचार से विदेशी प्रभाववाला अध्याय इसी अध्याय में आ जाना चाहिए।

इस दूसरे वर्गीकरण को आधार बनाकर बड़ा सुंदर विवेचन तैयार हो सकता है। जैसे कुछ शब्द तत्सम रूप में आज भी विद्यमान हैं पर उनके अर्थ सर्वथा भिन्न हो गए हैं। उदाहरण के लिये प्राचीन काल में धर्म का अर्थ होता था अपना कर्त्तव्य और आज की हिंदी में उसका अर्थ है मजहब अथवा संप्रदाय। प्राचीन काल के आर्य (श्रेष्ठ के अर्थ में), मृग (पशु मात्र के अर्थ में), व्यथा (काँपने के अर्थ में) आदि शब्द आज भी तत्सम रूप में प्रयुक्त होते हैं पर उनके अर्थ बिलकुल उलट गए हैं। सहयोग और असहयोग शब्द भी पुराने हैं पर अब उनमें राजनीतिक अर्थ भर गया है। इसी प्रकार तद्भव शब्दों में भी अर्थ-विकार देख पड़ता है। 'बाई' शब्द संस्कृत के 'वती*' और 'माता' से अलग अलग बना है पर अब वह मा, बहिन, स्त्री, भद्र स्त्री, अध्यापिका, गणिका आदि अनेक अर्थों में आता है।

अंत में देशी और विदेशी शब्दों का तो यहाँ उल्लेख मात्र पर्याप्त है। देशी शब्दों की खोज से बड़े बड़े रहस्यों का पता लग सकता है और विदेशी प्रभाव की चर्चा तो हम अभी अभी कर चुके हैं। तो भी किस प्रकार विदेशी भाव और अर्थ हिंदी पर प्रभाव डाल रहे हैं, इसका एक मनोरंजक उदाहरण हम अवश्य देंगे। संस्कृत में होता है अभाव-निवृत्ति=अभाव को दूर करना और अँगरेजी में चलता है उस अभाव की पूर्त्ति करना। संस्कृत के अर्थानुसार देखा जाय तो अभावपूर्त्ति का अर्थ होगा अभाव को और भी बढ़ाना पर हिंदीवालों ने अँगरेजी भाव लेकर संस्कृत के तत्सम शब्द में भर दिया है। इस प्रकार के विदेशी अर्थवाले संस्कृत शब्द आजकल की छायावादी कविता में बहुत अधिक

---

* दो शब्दों के तद्भव रूप हिंदी में एक से मिलते हैं। यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है। जैसे कर्म्म=काम और कामः=काम।

हैं। गद्य में भी उनकी कमी नहीं है। समाचारपत्रवाले नित्य ही संस्कृत की खाल ओढ़ाकर अँगरेजी शब्दों की प्राणप्रतिष्ठा किया करते हैं।

भाषा का मर्म और सच्चा विकास देखने के लिये इन सभी बातों का विचार करना पड़ता है। और इस समझने की पद्धति का नाम है व्युत्पत्ति। व्युत्पत्ति करने के लिये ध्वनिविचार, रूपविचार और अर्थ-विचार—तीनों का ही ज्ञान होना चाहिए। इस सबका तात्पर्य यह है कि यह पूरा अध्याय व्युत्पत्ति का ही अध्याय है।

सच पूछा जाय तो हमारा पूरा विवेचन ही दिग्दर्शन मात्र है। हमारा लक्ष्य केवल इतना है कि विद्यार्थी इस इतिहास को देखकर हिंदी भाषा का वैज्ञानिक इतिहास पढ़ने और खोजने में प्रवृत्त हों। नहीं तो इतना लिख चुकने पर भी हमें यह प्रकरण अधूरा और अपूर्ण लग रहा है; क्योंकि हिंदी के लिंग, वचन, संख्यावाचक विशेषण, संयुक्त क्रिया, शब्द शक्ति आदि महत्त्वपूर्ण विषयों पर हम कुछ भी नहीं लिख पाए हैं। अतः हमारी अध्यापकों और विद्यार्थियों से प्रार्थना है कि वे इस प्रकरण को यथासंभव पूर्ण बनाकर पढ़ें। भारतवर्ष की भाषाओं के इतिहास की अभी बहुत कम खोज हुई है; पर इसके लिये सामग्री इतनी अधिक उपस्थित है कि एक नहीं सैकड़ों विद्वानों का वर्षों तक सब समय इसके रहस्यों के उद्घाटन में लग सकता है। जिस प्रकार भारतीय आर्य जाति प्राचीनता के भव्य भाव से गौरवपूर्ण हो रही है और उसका अभी तक कोई शृंखलाबद्ध पूर्ण इतिहास नहीं उपस्थित हो सका है, उसी प्रकार उसकी भिन्न भिन्न भाषाओं की आदि से लेकर अब तक की सब ऐतिहासिक शृंखलाओं का भी पता नहीं लगा है। आशा है, हिंदी भाषा के मुख्य मुख्य तथ्यों का यह परिचय इस खोज में प्रोत्साहन देने और इसकी खोज का भावी मार्ग सुगम बनाने में सहायक होगा। भारतीय विद्वान् ही अपनी भाषाओं के तथ्यों और रहस्यों को भली भाँति समझ सकते हैं; अतएव उन्हीं को इस काम में दत्तचित्त होकर अपने गौरव की रक्षा करना और अपनी भाषाओं का इतिहास स्वयं उपस्थित करना चाहिए।

उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचम् उत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम्।
उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे जायेव पत्य उशती सुवासा॥

अन्य जन वाणी को देखते हुए भी नहीं देखता, सुनते हुए भी नहीं सुनता। पर वाणी के मर्मज्ञ वैयाकरण को वाणी सुवसना नव-वधू की भाँति अपने अंग प्रत्यंग दिखला देती है।

हिंदी साहित्य

पहला अध्याय

विषय-प्रवेश

मनुष्य मात्र की यह स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है कि वह अपने भावों तथा विचारों को दूसरों पर प्रकट करे और स्वयं बड़ी उत्सुकता से दूसरे के भावों और विचारों को सुने और समझे। वह अपनी कल्पना की सहायता से ईश्वर, जीव तथा जगत् के विविध विषयों के संबंध में कितनी ही बातें सोचता है तथा वाणी के द्वारा उन्हें व्यक्त करने की चेष्टा करता है। वाणी का वरदान उसे चिर काल से प्राप्त है और उसका उपयोग भी वह चिरकाल से करता आ रहा है। प्रेम, दया, करुणा, द्वेष, घृणा तथा क्रोध आदि मानसिक वृत्तियों का अभिव्यंजन तो मानव समाज अत्यंत प्राचीन काल से करता ही है, साथ ही प्रकृति के नाना रूपों से उद्भूत अपने मनोविकारों तथा जीवन की अन्यान्य परिस्थितियों के संबंध में अपने अनुभवों को व्यक्त करने में भी उसे एक प्रकार का संतोष, तृप्ति अथवा आनंद प्राप्त होता है। यह सत्य है कि सब मनुष्यों में न तो अभिव्यंजन की शक्ति एक-सी होती है और न सब मनुष्यों के अनुभवों की मात्रा तथा विचारों की गंभीरता ही एक-सी होती है, परंतु साधारणतः यह प्रवृत्ति प्रत्येक मनुष्य में पाई जाती है। मनुष्य की इसी प्रवृत्ति की प्रेरणा से ज्ञान और शक्ति के उस भांडार का सृजन, संचय और संवर्द्धन होता है जिसे हम साहित्य कहते हैं।

साहित्य की मूल मनोवृत्तियाँ

साहित्य के मूल में स्थित इन मनोवृत्तियों के अतिरिक्त एक दूसरी प्रवृत्ति भी है जो सभ्य मानव-समाज में सर्वत्र पाई जाती है और जिससे साहित्य में एक अलौकिक चमत्कार तथा मनोहारिता आ जाती है। इसे हम सौंदर्य-प्रियता की भावना कह सकते हैं। सौंदर्य-प्रियता की ही सहायता से मनुष्य अपने उद्गारों में "रस" भर देता है जिससे एक प्रकार के अलौकिक और अनिर्वचनीय आनंद की उपलब्धि होती है और जिसे साहित्यकारों ने "ब्रह्मानंद-सहोदर" की उपाधि दी है। सौंदर्य-प्रियता की भावना ही शुद्ध साहित्य को एक ओर तो जटिल और नीरस दार्शनिक तत्त्वों से अलग करती तथा दूसरी ओर उसे मानव मात्र के

लिये आकर्षक बना देती है। जैसे सब मनुष्यों में मनोवृत्तियों की मात्रा एक सी नहीं होती वैसे ही सौंदर्य-प्रियता की भावना उनमें समान रूप से विकसित नहीं होती; सभ्यता तथा संस्कृति के अनुसार भिन्न भिन्न मनुष्यों में उसके भिन्न भिन्न स्वरूप हो जाते हैं। परंतु इसका यह आशय नहीं कि हम प्रयत्न करके किसी देश अथवा काल के साहित्य में उपर्युक्त भावना की न्यूनता अथवा अधिकता का पता नहीं लगा सकते या उसके विभिन्न स्वरूपों को समझ नहीं सकते।

भावपक्ष तथा कलापक्ष

इस प्रकार एक ओर तो हम अपने भावों, विचारों, आकांक्षाओं तथा कल्पनाओं का अभिव्यंजन करते हैं और दूसरी ओर अपने सौंदर्य-ज्ञान के सहारे उन्हें सुंदरतम बनाते तथा उनमें एक अद्भुत आकर्षण का आविर्भाव करते हैं। इन्हीं दो मूल तत्त्वों के आधार पर साहित्य के दो पक्ष हो जाते हैं जिन्हें हम भावपक्ष तथा कलापक्ष कहते हैं। यद्यपि साहित्य के इन दोनों पक्षों में बड़ा घनिष्ठ संबंध है और दोनों के समुचित संयोग और सामंजस्य से ही साहित्य को स्थायित्व मिलता तथा उसका सच्चा स्वरूप उपस्थित होता है, तथापि साधारण विवेचन के लिये ये दोनों पक्ष अलग अलग माने जा सकते हैं और इन पर भिन्न भिन्न दृष्टियों से विचार किया जा सकता है। साहित्य के विकास के साथ उसके दोनों पक्षों का विकास भी होता जाता है, पर उनमें समन्वय नहीं बना रहता। तात्पर्य यह कि दोनों पक्षों का समान रूप से विकास होना आवश्यक नहीं है। किसी युग में भावपक्ष की प्रधानता और कलापक्ष की न्यूनता तथा किसी दूसरे युग में इसके विपरीत परिस्थिति हो जाती है। इसलिये साहित्य के इन दोनों अंगों का अलग अलग विवेचन करना केवल आवश्यक ही नहीं, वरन् कभी कभी अनिवार्य भी हो जाता है।

साहित्य के इन दोनों अंगों में से उसके भावात्मक अंग की अपेक्षाकृत प्रधानता मानी जाती है और कलापक्ष को गौण स्थान दिया जाता है। सच तो यह है कि साहित्य में भावपक्ष ही सब कुछ है, कलापक्ष उसका सहायक तथा उत्कर्षवर्धक मात्र है। साथ ही भावपक्ष पर विचार करना भी अपेक्षाकृत जटिल तथा दुरूह है; क्योंकि मनुष्य की मनोवृत्तियाँ जटिल तथा दुरूह हुआ करती हैं, उनमें शृंखला तथा नियम ढूँढ़ निकालना सरल काम नहीं होता। मनुष्य के भाव और विचार तथा उसकी कल्पनाएँ भी बड़ी विचित्र तथा अनोखी हुआ करती हैं।

भावपक्ष

साहित्य मनुष्य के इन्हीं विचित्र और अनोखे भावों, विचारों तथा कल्पनाओं आदि का व्यक्त स्वरूप है, अतः उसमें भी मानव-स्वभाव-सुलभ सभी विशेषताएँ होती हैं। साहित्य में जो विचित्रता तथा अनेकरूपता दिखाई देती है उसके मूल में मानव-स्वभाव की विचित्रता तथा अनेकरूपता है। हम स्वयं देखते हैं कि हमारी प्रवृत्ति सदा एक सी नहीं रहती। कभी तो हम अनेक अनोखी कल्पनाएँ किया करते हैं और कभी बहुत से साधारण विचार हमारे मन में उठते हैं; कभी हम बातचीत करते हैं और कभी कथा-कहानी कहते हैं; कभी हम जीवन के जटिल तथा गंभीर प्रश्नों पर विचार करते हैं और कभी उसके सरल मनोरंजक स्वरूप की व्याख्या करते हैं; कभी हम आत्मचिंतन में लीन रहते हैं और कभी हमारी दृष्टि समाज अथवा बाह्य जगत् पर आ जमती है। सारांश यह कि हमारी प्रवृत्ति सदा एक सी नहीं रहती। प्रवृत्तियों की इसी अनेकरूपता के कारण साहित्य में भी अनेकरूपता दिखाई देती है। कविता, नाटक, उपन्यास, आख्यायिका, निबंध आदि जो साहित्य के विभिन्न अंग हैं और इन मुख्य मुख्य अंगों के भी जो अनेक उपांग हैं, उसका कारण यही है कि मनुष्य की मनोवृत्तियों के भी अनेक अंग और उपांग होते हैं तथा उनकी भी विभिन्न श्रेणियाँ होती हैं। इन अंगों, उपांगों एवं श्रेणियों के होते हुए भी मानव-स्वभाव के मूल में भावात्मक साम्य होता है, अतएव साहित्य में भी अनेकरूपता के होते हुए भी भावना-मूलक समता दिखाई देती है और इसी समता पर लक्ष्य रखते हुए हम साहित्य के इस पक्ष का विवेचन करते हैं।

कलापक्ष

जिस प्रकार मनुष्यों में अपने भावों तथा विचारों को व्यक्त करने की स्वाभाविक इच्छा होती है उसी प्रकार उन भावों तथा विचारों को सुंदरतम शृंखलाबद्ध तथा चमत्कार-पूर्ण बनाने की अभिलाषा भी उनमें होती है। यही अभिलाषा साहित्य-कला के मूल में रहती है और इसी की प्रेरणा से स्थूल नीरस तथा विशृंखल विचारों को सूक्ष्म, सरस और शृंखलाबद्ध साहित्यिक स्वरूप प्राप्त होता है। भावों के अभिव्यंजन का साधन भाषा है और भाषा के आधार शब्द हैं जो वाक्यों में पिरोए जाने पर अपनी सार्थकता प्रदर्शित करते हैं। अतः शब्दों तथा वाक्यों का निरंतर संस्कार करते रहने एवं उपयुक्त रीति से उनका प्रयोग करने से ही अधिक से अधिक प्रभावोत्पादकता आ सकती है। इसके अतिरिक्त प्रचलित लोकोक्तियों का समुचित प्रयोग तथा भाव-व्यंजन की अनेक आलंकारिक प्रणालियों का उपयोग भी साहित्य-ग्रंथों की एक विशेषता है। कविता में भावों के उपयुक्त

मनोहर छंदों का प्रयोग तो चिरकाल से होता आ रहा है और नित्य नवीन छंदों का निर्माण भी साहित्य के कलापक्ष की पुष्टि करता है। भाषा की गति या प्रवाह, वाक्यों का समीकरण, शब्दों की लाक्षणिक तथा व्यंजनामूलक शक्तियों का अधिकाधिक प्रयोग ही साहित्य के कलापक्ष के विकास की सीढ़ियाँ हैं, इस विषय का विस्तृत विवरण रीति-ग्रंथों में मिलता है। संकुचित अर्थ में इसको साहित्य-शास्त्र कहा गया है।

इस प्रकार साहित्य के भाव और कलापक्षों का विवेचन करके हम उसके तथ्य को समझ सकते हैं और यह जान सकते हैं कि साहित्य मनुष्य मात्र के लिये स्वाभाविक है और अपने इस स्वरूप में वह देश और काल की सीमा से बद्ध नहीं है। यदि हम चाहें तो व्यापक दृष्टि से विश्व भर के साहित्य की परस्पर तुलना कर सकते हैं और स्थूल रूप से संसार के प्रसिद्ध प्रसिद्ध कवियों अथवा साहित्य-निर्माताओं की विभिन्न श्रेणियाँ भी निरूपित कर सकते हैं। उदाहरणार्थ हम यूनान के प्रसिद्ध कवि होमर की तुलना संस्कृत के आदि कवि वाल्मीकि से कर सकते हैं और कालिदास तथा शेक्सपियर को उत्कृष्ट नाटककारों की श्रेणी में रख सकते हैं। वर्ण्य विषयों के आधार पर जायसी तथा उमर खैयाम आदि प्रेमप्रधान कवियों की एक श्रेणी हो सकती है; और देव, विहारी, मतिराम आदि हिंदी के शृंगारी कवि संस्कृत के अमरुक प्रभृति कवियों की कोटि में रखे जा सकते हैं। भावपक्ष की इस समता के साथ कविता के कलापक्ष की तुलना भी व्यापक दृष्टि से की जा सकती है। उदाहरणार्थ केशवदास जैसे कला-प्रधान कवि की तुलना अँगरेज कवि पोप अथवा ड्राइडेन से की जा सकती है; और कबीर जैसे दार्शनिक किंतु अव्यवस्थित भाषा तथा छंदों का प्रयोग करनेवाले कवि की समता ब्राउनिंग आदि से हो सकती है।

विश्व-साहित्य

इसमें संदेह नहीं कि संसार के भिन्न भिन्न देशों के कवियों और साहित्य-निर्माताओं की यह तुलनात्मक आलोचना बड़ी ही विशद और उपादेय होती है। इससे यह जाना जा सकता है कि मनुष्य-मात्र में जातीय और स्थानीय विशेषताओं के होते हुए भी एक सार्वजनीन एकता है और सभी श्रेष्ठ कवियों तथा लेखकों की रचनाओं में भावनामूलक साम्य भी है। निश्चय ही वह भावना मनुष्यमात्र के लिये कल्याण-कारिणी तथा अत्यंत उदार होती है। उत्कृष्ट कोटि के कवियों की कल्पनाएँ एक दूसरे से बहुत अंशों में मिलती-जुलती होती हैं तथा उनकी काव्य-रचना की प्रणाली भी बहुत कुछ समता लिए होती है।

संसार के भिन्न भिन्न राष्ट्रों में सद्भाव उत्पन्न करने में उस तात्त्विक एकता का उद्घाटन तथा प्रदर्शन करना अत्यंत उपयोगी सिद्ध हो सकता है जो उन राष्ट्रों के साहित्य के मूल में है। साथ ही इस तुलनात्मक समीक्षा के द्वारा हम अनेक देशों और समयों के कवियों की व्यक्तिगत विशेषताएँ, उनकी प्रतिभा की दिशा तथा सामयिक स्थिति का भी परिचय प्राप्त कर सकते हैं। उक्त परिचय से हमें अपने समय के साहित्य की त्रुटियों की ओर ध्यान देने और उन्हें यथाशक्ति सुधारने की चेष्टा करने की भी प्रेरणा हो सकती है। अवश्य ही यह साहित्य का सार्वभौम अध्ययन और आलोचन एक कठिन कार्य है तथा विशेष सूक्ष्म दृष्टि तथा तत्पर अनुशीलन की आवश्यकता रखता है। साथ ही इस कार्य को करनेवाले व्यक्ति में राष्ट्रीय या जातीय पक्षपात लेश-मात्र भी न होना चाहिए; अन्यथा उसका कार्य विफल तथा हानिकारक भी हो सकता है। खेद है कि कतिपय पाश्चात्य विद्वानों ने इस संबंध के जो ग्रंथ लिखे हैं उनमें पाश्चात्य साहित्य को अन्यायपूर्ण प्रधानता दी गई है। इसका प्रधान कारण राष्ट्रीय पक्षपात ही प्रतीत होता है। इस प्रणाली का अनुसरण करने से किसी उच्च उद्देश्य की सिद्धि नहीं हो सकती वरन् अज्ञान तथा कटुता की ही वृद्धि होगी।

जातीय साहित्य

भौगोलिक कारणों से अथवा जलवायु के फल-स्वरूप या अन्य किसी कारण से, प्रत्येक देश अथवा जाति के साहित्य में कुछ न कुछ विशेषता होती है। जब हम यूनानी साहित्य, अँगरेजी साहित्य अथवा भारतीय साहित्य का नाम लेते हैं और उनके संबंध में विचार करते हैं तो उनमें स्पष्ट रीति से कुछ ऐसी विशेषताएँ दिखाई देती हैं जिनके कारण उनके रूप कुछ भिन्न जान पड़ते हैं तथा जिनके फल-स्वरूप उनके स्वतंत्र अस्तित्व की सार्थकता भी समझ में आ जाती है। यह संभव है कि कोई विशेष कलाकार किसी विशेष समय और कुछ विशेष परिस्थितियों से प्रभावान्वित होकर विदेशीय या विजातीय कला का अनुकरण करे तथा उनके विचारों की आँख मूँदकर नकल करना आरंभ कर दे परंतु साहित्य के साधारण विकास में जातीय भावों तथा विचारों की छाप किसी न किसी रूप में अवश्य रहती है; और इसका एक कारण है।

प्रत्येक सभ्य तथा स्वतंत्र देश का अपना स्वतंत्र साहित्य तथा अपनी स्वतंत्र कला होती है। भारतवर्ष में भी साहित्य तथा अन्यान्य कलाओं का स्वतंत्र विकास हुआ और उनकी अपनी विशेषताएँ भी हुई। भारतीय साहित्य तथा कला की विशेषताओं पर

साधारण दृष्टि से विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि उन पर भारतीय आध्यात्मिक तथा लौकिक विचारों की गहरी छाप है। हम लोग प्राचीन काल से आदर्शवादी रहे हैं, हमें वर्त्तमान स्थिति की इतनी चिंता कभी नहीं हुई जितनी भविष्य की चिंता रही है। यही कारण हैं कि हमारे साहित्य तथा अन्य ललित कलाओं में आदर्शवादिता की प्रचुरता देख पड़ती है। यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है; क्योंकि साहित्य और कलाएँ हमारे भावों तथा विचारों का प्रतिबिंब मात्र हैं। सारांश यह कि जहाँ संसार की उन्नत जातियों की कुछ अपनी विशेषताएँ होती हैं, वहाँ उनके साहित्य आदि पर भी उन विशेषताओं का प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष प्रभाव पड़े बिना नहीं रह सकता। इन्हीं साहित्यिक विशेषताओं के कारण "जातीय साहित्य" का व्यक्तित्व निर्धारित होता है।

यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि क्या जातिगत विशेषताएँ सदा सर्वदा पुरातन आधारों पर ही स्थित रहती हैं अथवा समय और स्थिति के अनुसार आदर्शों में परिवर्तन के साथ उनमें भी परिवर्तन हो जाता है। इसमें कोई संदेह नहीं कि समय, संसर्ग और स्थिति के प्रभाव से जातीय आदर्शों में परिवर्तन हो जाता है, पर उनके पुरातन आधारों का सर्वथा लोप नहीं होता। इन्हीं पुरातन आदर्शों की नींव पर नए आदर्शों की उद्भावना होती है। जहाँ कारणविशेष से ऐसा नहीं होने पाता वहाँ के नए आदर्शों के स्थायित्व में बहुत कुछ कमी हो जाती है। जातीयता के स्थायित्व के लिये आदर्शों की धारा का अक्षुण्ण रहना आवश्यक है। हाँ, समय समय पर उस धारा की अंगपुष्टि के लिये नए आदर्शरूपी स्रोतों का उसमें मिलना आवश्यक और हितकर होता है। ठीक यही स्थिति साहित्यरूपी सरिता की भी होती है। जिस प्रकार किसी जाति के परंपरागत विचार तथा स्थिर दार्शनिक सिद्धांत सहसा लुप्त नहीं हो सकते उसी प्रकार जातीय साहित्य तथा कलाएँ भी अपनी जातीयता का लोप नहीं कर सकतीं। जातीयता का लोप कलाओं के विकास में बाधाएँ उपस्थित करता है। अतः उसका परित्याग अथवा उसकी अवहेलना किसी अवस्था में उचित नहीं। प्रसिद्ध भारतीय चित्रकार फैजी रूमीन ने, अभी थोड़े दिन हुए, कहा है—

"भारतीय कला तो अब नष्ट हो गई है। न तो उसको ठीक ठीक समझनेवाले हैं और न उसका यथोचित सम्मान करनेवाले हैं। हमारे कलाकार ऐसी रचनाएँ करते हैं जिनमें मौलिकता होती ही नहीं। इसका कारण यह है कि ये कलाकार सच्चे भारतीय भावों को भूलकर

विदेशियों का अनुसरण कर रहे हैं। मेरी सम्मति में ये पश्चिमीय कलाकारों की समता कर ही नहीं सकते—विशेष कर ऐसी अवस्था में जब कि ये उनकी त्यक्त पुरानी शैलियों का उपयोग करते हैं। इसी बीच में वे अपनी स्वतंत्र शैलियों को भूले जा रहे हैं।

"आजकल भारतीय विद्यालयों में जो कला की शिक्षा दी जाती है, वह बहुत भद्दी है, वह अधःपतित तथा निम्न श्रेणी की होती है। हम छात्रवृत्तियाँ देकर भारतीय विद्यार्थियों को कला की शिक्षा के लिये यूरोप भेजने का प्रबंध करते हैं। मेरी सम्मति में यह हमारी भूल है। मेरे विचार में उन्हें भारतीय कला की शिक्षा दी जानी चाहिए और उन्हें भारतीय शैली से परिचित होना चाहिए। पश्चिमीय कलाकारों की समता करने का प्रयास कभी सफल नहीं हो सकता।"

अस्तु, उस अधिक व्यापक विषय को यहीं छोड़कर हमें अपने मुख्य विषय पर आना चाहिए। हमें हिंदी साहित्य के विकास का इतिहास उपस्थित करना है। हम यह जानते हैं कि हिंदी साहित्य का वंशगत संबंध प्राचीन भारतीय साहित्यों से है; क्योंकि संस्कृत तथा प्राकृत आदि की विकसित परंपरा ही हिंदी कहलाई है। जिस प्रकार पुत्री अपनी माता के रूप की ही नहीं, गुण को भी उत्तराधिकारिणी होती है, उसी प्रकार हिंदी ने भी संस्कृत, पाली तथा प्राकृत आदि साहित्यों में अभिव्यंजित आर्यजाति की स्थायी चित्तवृत्तियों और उसके विचारों की परंपरागत संपत्ति प्राप्त की है। इस दृष्टि से हिंदी साहित्य में जातीय साहित्य कहलाने की पूरी योग्यता है। अतएव हम पहले भारतवर्ष के जातीय साहित्य की मुख्य मुख्य विशेषताओं का विचार करेंगे और तब हिंदी साहित्य के स्वरूप का चित्र उपस्थित करने का उद्योग करेंगे।

हिंदी में जातीय साहित्य की योग्यता

समस्त भारतीय साहित्य की सबसे बड़ी विशेषता उसके मूल में स्थित समन्वय की भावना है। उसकी यह विशेषता इतनी प्रमुख तथा मार्मिक है कि केवल इसी के बल पर संसार के अन्य साहित्यों के सामने वह अपनी मौलिकता की पताका फहरा सकती है और अपने स्वतंत्र अस्तित्व की सार्थकता प्रमाणित कर सकती है। जिस प्रकार धार्मिक क्षेत्र में भारत के ज्ञान, भक्ति तथा कर्म के समन्वय की प्रसिद्धि है तथा जिस प्रकार वर्ण एवं आश्रम चतुष्टय के निरूपण द्वारा इस देश में सामाजिक समन्वय का सफल प्रयास हुआ है, ठीक उसी प्रकार साहित्य तथा अन्यान्य कलाओं में भी भारतीय प्रवृत्ति समन्वय की

हिंदी की विशेषताएँ

ओर रही है। साहित्यिक समन्वय से हमारा तात्पर्य साहित्य में प्रदर्शित सुख-दुःख, उत्थान-पतन, हर्ष-विषाद आदि विरोधी तथा विपरीत भावों के समीकरण तथा एक अलौकिक आनंद में उनके विलीन होने से है। साहित्य के किसी अंग को लेकर देखिए, सर्वत्र यही समन्वय दिखाई देगा। भारतीय नाटकों में सुख और दुःख के प्रबल घात-प्रतिघात दिखाए गए हैं पर सबका अवसान आनंद में ही किया गया है। इसका प्रधान कारण यह है कि भारतीयों का ध्येय सदा से जीवन का आदर्श स्वरूप उपस्थित करके उसका उत्कर्ष बढ़ाने और उसे उन्नत बनाने का रहा है। वर्तमान स्थिति से उसका इतना संबंध नहीं है जितना भविष्य की संभाव्य उन्नति से है। हमारे यहाँ युरोपीय ढंग के दुःखांत नाटक इसी लिये नहीं देख पड़ते। यदि आजकल दो-चार ऐसे नाटक देख भी पड़ने लगे हैं तो वे भारतीय आदर्श से दूर और युरोपीय आदर्श के अनुकरण मात्र हैं। कविता के क्षेत्र में ही देखिए। यद्यपि विदेशीय शासन से पीड़ित तथा अनेक क्लेशों से संतप्त देश निराशा की चरम सीमा तक पहुँच चुका था और उसके सभी अवलंबों की इतिश्री हो चुकी थी, पर फिर भी भारतीयता के सच्चे प्रतिनिधि तत्कालीन महाकवि गोस्वामी तुलसीदास अपने विकार-रहित हृदय से समस्त जाति को आश्वासन देते हैं—

> भरे भाग अनुराग लोग कहै राम अवध चितवन चितई है।
> विनती सुनि सानंद हेरि हँसि करुनावारि भूमि भिजई है॥
> राम राज भयो काज सगुन सुभ राजाराम जगत विजई है।
> समरथ बड़ो सुजान सुसाहब सुकृत-सेन हारत जितई है॥

आनंद की कितनी महान् भावना है। चित्त किसी अननुभूत ऐश्वर्य की कल्पना में मानो नाच उठता है। हिंदी साहित्य के विकास का समस्त युग विदेशीय तथा विजातीय शासन का युग था। इस कारण भारतीय जनता के लिये वह निराशा तथा संताप का युग था, परंतु फिर भी साहित्यिक समन्वय का कभी अनादर नहीं हुआ। आधुनिक युग के हिंदी कवियों में यद्यपि पश्चिमीय आदर्शों की छाप पड़ने लगी है और लक्षणों के देखते हुए इस छाप के अधिकाधिक गहरी हो जाने की संभावना हो रही है परंतु जातीय साहित्य की धारा अक्षुण्ण रखनेवाले कुछ कवि अब भी वर्तमान हैं।

यदि हम थोड़ा सा विचार करें तो उपर्युक्त साहित्यिक समन्वय का रहस्य हमारी समझ में आ सकता है। जब हम थोड़ी देर के लिये साहित्य को छोड़कर भारतीय कलाओं का विश्लेषण करते हैं तब उनमें

भी साहित्य की ही भाँति समन्वय की छाप दिखाई पड़ती है। सारनाथ की बुद्ध भगवान् की मूर्ति में ही समन्वय की यह भावना निहित है। बुद्ध की वह मूर्ति उस समय की है जब वे छः महीने की कठिन साधना के उपरांत अस्थिपंजर मात्र हो रहे होंगे; परंतु मूर्ति में कहीं कृशता का पता नहीं, उसके चारों ओर एक स्वर्गीय आभा नृत्य कर रही है।

इस प्रकार साहित्य तथा कलाओं में भी एक प्रकार का आदर्शात्मक साम्य देखकर उसका रहस्य जानने की इच्छा और भी प्रबल हो जाती है। हमारे दर्शन-शास्त्र हमारी इस जिज्ञासा का समाधान कर देते हैं। भारतीय दर्शनों के अनुसार परमात्मा तथा जीवात्मा में कुछ भी अंतर नहीं, दोनों एक ही हैं, दोनों सत्य हैं, चेतन हैं तथा आनंद-स्वरूप हैं। बंधन मायाजन्य है। माया अज्ञान है, भेद उत्पन्न करनेवाली वस्तु है। जीवात्मा मायाजन्य अज्ञान को दूर कर अपना सच्चा स्वरूप पहचानता है और आनंदमय परमात्मा में लीन हो जाता है। आनंद में विलीन हो जाना ही मानव जीवन का चरम उद्देश्य है। जब हम इस दार्शनिक सिद्धांत का ध्यान रखते हुए उपर्युक्त समन्वय पर विचार करते हैं, तब उसका रहस्य हमारी समझ में आ जाता है तथा उस विषय में और कुछ कहने सुनने की आवश्यकता नहीं रह जाती।

भारतीय साहित्य की दूसरी बड़ी विशेषता उसमें धार्मिक भावों की प्रचुरता है। हमारे यहाँ धर्म की बड़ी व्यापक व्याख्या की गई है और जीवन के अनेक क्षेत्रों में उसको स्थान दिया गया है। धर्म में धारण करने की शक्ति है अतः केवल अध्यात्म पक्ष में ही नहीं, लौकिक आचारों-विचारों तथा राजनीति तक में उसका नियंत्रण स्वीकार किया गया है। मनुष्य के वैयक्तिक तथा सामाजिक जीवन को ध्यान में रखते हुए अनेक सामान्य तथा विशेष धर्मों का निरूपण किया गया है। वेदों के एकेश्वरवाद, उपनिषदों के ब्रह्मवाद तथा पुराणों के अवतारवाद और बहुदेववाद की प्रतिष्ठा जन-समाज में हुई है और तदनुसार हमारा धार्मिक दृष्टिकोण भी अधिकाधिक विस्तृत तथा व्यापक होता गया है। हमारे साहित्य पर धर्म की इस अतिशयता का प्रभाव दो प्रधान रूपों में पड़ा। आध्यात्मिकता की अधिकता होने के कारण हमारे साहित्य में एक ओर तो पवित्र भावनाओं और जीवन संबंधी गहन तथा गंभीर विचारों की प्रचुरता हुई और दूसरी ओर साधारण लौकिक भावों तथा विचारों का विस्तार नहीं हुआ। प्राचीन वैदिक साहित्य से लेकर हिंदी के वैष्णव साहित्य तक में हम यही बात पाते हैं। सामवेद की

मनोहारिणी तथा मृदु-गंभीर ऋचाओं से लेकर सूर तथा मीरा आदि की सरस रचनाओं तक में सर्वत्र परोक्ष भावों की अधिकता तथा लौकिक विचारों की न्यूनता देखने में आती है।

उपर्युक्त मनोवृत्ति का परिणाम यह हुआ कि साहित्य में उच्च विचार तथा पवित्र भावनाएँ तो प्रचुरता से भरी गईं, परंतु उसमें लौकिक जीवन की अनेकरूपता का प्रदर्शन न हो सका। हमारी कल्पना अध्यात्म पक्ष में तो निस्सीम तक पहुँच गई परंतु ऐहिक जीवन का चित्र उपस्थित करने में वह कुछ कुंठित सी हो गई। हिंदी की चरम उन्नति का काल भक्तिकाव्य का काल है, जिसमें उसके साहित्य के साथ हमारे जातीय साहित्य के लक्षणों का सामंजस्य स्थापित हो जाता है।

धार्मिकता के भाव से प्रेरित होकर जिस सरस तथा सुंदर साहित्य का सृजन हुआ, वह वास्तव में हमारे गौरव की वस्तु है; परंतु समाज में जिस प्रकार धर्म के नाम पर अनेक ढोंग रचे जाते हैं तथा गुरुडम की प्रथा चल पड़ती है, उसी प्रकार साहित्य में भी धर्म के नाम पर पर्याप्त अनर्थ होता है। हिंदी साहित्य के क्षेत्र में हम यह अनर्थ दो मुख्य रूपों में देखते हैं। एक तो सांप्रदायिक कविता तथा नीरस उपदेशों के रूप में और दूसरा "कृष्ण" का आधार लेकर की हुई हिंदी के शृंगारी कवियों की कविता के रूप में। हिंदी में सांप्रदायिक कविता का एक युग ही हो गया है और "नीति के दोहों" की तो अब तक भरमार है। अन्य दृष्टियों से नहीं तो कम से कम शुद्ध साहित्यिक समीक्षा की दृष्टि से ही सही, सांप्रदायिक तथा उपदेशात्मक साहित्य का अत्यंत निम्न स्थान है; क्योंकि नीरस पदावली में कोरे उपदेशों में कवित्व की मात्रा बहुत थोड़ी होती है। राधाकृष्ण को आलंबन मानकर हमारे शृंगारी कवियों ने अपने कलुषित तथा वासनामय उद्‌गारों को व्यक्त करने का जो ढंग निकाला वह समाज के लिये हितकर सिद्ध न हुआ। यद्यपि आदर्श की कल्पना करनेवाले कुछ साहित्य-समीक्षक इस शृंगारिक कविता में भी उच्च आदर्शों की उद्भावना कर लेते हैं, पर फिर भी हम वस्तुस्थिति की किसी प्रकार अवहेलना नहीं कर सकते। सब प्रकार की शृंगारिक कविता ऐसी नहीं है कि उसमें शुद्ध प्रेम का अभाव तथा कलुषित वासनाओं का ही अस्तित्व हो; पर यह स्पष्ट है कि पवित्र भक्ति का उच्च आदर्श, समय पाकर, लौकिक शरीरजन्य तथा वासनामूलक प्रेम में परिणत हो गया था।

यद्यपि भारतीय साहित्य की कितनी ही अन्य जातिगत विशेषताएँ हैं, परंतु हम उसकी दो प्रधान विशेषताओं के उपर्युक्त विवेचन से

ही संतोष करके, उसकी दो एक देशगत विशेषताओं का वर्णन करके यह प्रसंग समाप्त करेंगे। प्रत्येक देश के जलवायु अथवा भौगोलिक स्थिति का प्रभाव उस देश के साहित्य पर अवश्य पड़ता है और यह प्रभाव बहुत कुछ स्थायी भी होता है। संसार के सब देश एक ही प्रकार के नहीं होते। जलवायु तथा गर्मी सर्दी के साधारण विभेदों के अतिरिक्त उनके प्राकृतिक दृश्यों तथा उर्वरता आदि में भी अंतर होता है। यदि पृथ्वी पर अरब तथा सहारा जैसी दीर्घकाय मरुभूमियाँ हैं तो साइबीरिया तथा रूस के विस्तृत मैदान भी हैं। यदि यहाँ इँगलैंड तथा आयर्लैंड जैसे जलावृत द्वीप हैं तो चीन जैसा भूखंड भी है। इन विभिन्न भौगोलिक स्थितियों का उन देशों के साहित्यों से संबंध होता है, इसी को हम साहित्य की देशगत विशेषता कहते हैं।

साहित्य की देशगत विशेषताएँ

भारत की सस्यश्यामला भूमि में जो निसर्गसिद्ध सुषमा है, उससे भारतीय कवियों का चिरकाल से अनुराग रहा है। यों तो प्रकृति की साधारण वस्तुएँ भी मनुष्यमात्र के लिये आकर्षक होती हैं, परंतु उसकी सुंदरतम विभूतियों में मानव वृत्तियाँ विशेष प्रकार से रमती हैं। अरब के कवि मरुस्थल में बहते हुए किसी साधारण से झरने अथवा ताड़ के लंबे लंबे पेड़ों में ही सौंदर्य का अनुभव कर लेते हैं तथा ऊँटों की चाल में ही सुंदरता की कल्पना कर लेते हैं; परंतु जिन्होंने भारत की हिमाच्छादित शैलमाला पर संध्या की सुनहली किरणों की सुषमा देखी है, अथवा जिन्हें घनी अमराइयों की छाया में कल कल ध्वनि से बहती निर्झरिणी तथा उसकी समीपवर्तिनी लताओं की वसंतश्री देखने का अवसर मिला है, साथ ही जो यहाँ के विशालकाय हाथियों की मतवाली चाल देख चुके हैं उन्हें अरब की उपर्युक्त वस्तुओं में सौंदर्य तो क्या, हाँ उलटे नीरसता, शुष्कता और भद्दापन ही मिलेगा। भारतीय कवियों को प्रकृति की सुरम्य गोद में क्रीड़ा करने का सौभाग्य प्राप्त है; वे हरे भरे उपवनों में तथा सुंदर जलाशयों के तटों पर विचरण करते एवं प्रकृति के नाना मनोहारी रूपों से परिचित होते हैं। यही कारण है कि भारतीय कवि प्रकृति के संश्लिष्ट तथा सजीव चित्र जितनी मार्मिकता, उत्तमता तथा अधिकता से अंकित कर सकते हैं एवं उपमा-उत्प्रेक्षाओं के लिये जैसी सुंदर वस्तुओं का उपयोग कर सकते हैं, वैसा रूखे-सूखे देशों के निवासी कवि नहीं कर सकते। यह भारतभूमि की ही विशेषता है कि यहाँ के कवियों का प्रकृति-वर्णन तथा तत्संभव सौंदर्यज्ञान उच्च कोटि का होता है।

हिंदी की देशगत विशेषताएँ

प्रकृति के रम्य रूपों से तल्लीनता की जो अनुभूति होती है, उसका उपयोग कविगण कभी कभी रहस्यमयी भावनाओं के संचार में भी करते हैं। यह अखंड भूमंडल तथा असंख्य ग्रह-उपग्रह, रवि-शशि अथवा जल-वायु, अग्नि, आकाश कितने रहस्यमय तथा अज्ञेय हैं। इनकी सृष्टि, संचालन आदि के संबंध में दार्शनिकों अथवा वैज्ञानिकों ने जिन तत्त्वों का निरूपण किया है वे ज्ञानगम्य अथवा बुद्धिगम्य होने के कारण शुष्क तथा नीरस हैं। काव्यजगत् में इतनी शुष्कता तथा नीरसता से काम नहीं चल सकता, अतः कविगण बुद्धिवाद के चक्कर में न पड़कर व्यक्त प्रकृति के नाना रूपों में एक अव्यक्त किंतु सजीव सत्ता का साक्षात्कार करते तथा उससे भावमग्न होते हैं। इसे हम प्रकृतिसंबंधी रहस्यवाद कह सकते हैं, और व्यापक रहस्यवाद का एक अंग मान सकते हैं। प्रकृति के विविध रूपों में विविध भावनाओं के उद्रेक की क्षमता होती है; परंतु रहस्यवादी कवियों को अधिकतर उसके मधुर स्वरूप से प्रयोजन होता है, क्योंकि भावावेश के लिये प्रकृति के मनोहर रूपों की जितनी उपयोगिता होती है, उतनी दूसरे रूपों की नहीं होती। यद्यपि इस देश की उत्तरकालीन विचारधारा के कारण हिंदी में बहुत थोड़े रहस्यवादी कवि हुए हैं परंतु कुछ प्रेम-प्रधान कवियों ने भारतीय मनोरम दृश्यों की सहायता से अपनी रहस्यमयी उक्तियों को अत्यधिक सरस तथा हृदयग्राही बना दिया है। यह भी हमारे साहित्य की एक देशगत विशेषता है।

ये जातिगत तथा देशगत विशेषताएँ तो हमारे साहित्य के भावपक्ष की हैं। इनके अतिरिक्त उसके कलापक्ष में भी कुछ स्थायी जातीय मनोवृत्तियों का प्रतिबिंब अवश्य दिखाई देता है। (कलापक्ष से हमारा अभिप्राय केवल शब्दसंघटन अथवा छंदो-रचना तथा विविध आलंकारिक प्रयोगों से ही नहीं है, प्रत्युत उसमें भावों को व्यक्त करने की शैली भी सम्मिलित है।) यद्यपि प्रत्येक कविता के मूल में कवि का व्यक्तित्व अंतर-निहित रहता है और आवश्यकता पड़ने पर उस कविता के विश्लेषण द्वारा हम कवि के आदर्शों तथा उसके व्यक्तित्व से परिचित हो सकते हैं, परंतु साधारणतः हम यह देखते हैं कि कुछ कवियों में प्रथम पुरुष एकवचन के प्रयोग की प्रवृत्ति अधिक होती है तथा कुछ कवि अन्य पुरुष में अपने भाव प्रकट करते हैं। अँगरेजी में इसी विभिन्नता के आधार पर कविता के व्यक्तिगत (Subjective) तथा वस्तुगत (objective) नामक विभेद हुए हैं परंतु ये विभेद वास्तव में

हिंदी के कलापक्ष की विशेषताएँ

कविता के नहीं हैं, उसकी शैली के हैं। दोनों प्रकार की कविताओं में कवि के आदर्शों का अभिव्यंजन होता है, केवल इस अभिव्यंजन के ढंग में अंतर रहता है। एक में वे आदर्श, आत्मकथन अथवा आत्मनिवेदन के रूप में व्यक्त किए जाते हैं तथा दूसरे में उन्हें व्यंजित करने के लिये वर्णनात्मक प्रणाली का आधार ग्रहण किया जाता है। भारतीय कवियों में दूसरी (वर्णनात्मक) शैली की अधिकता तथा पहली की न्यूनता पाई जाती है। यही कारण है कि यहाँ वर्णनात्मक काव्य अधिक हैं तथा कुछ भक्त कवियों की रचनाओं के अतिरिक्त उस प्रकार की कविता का अभाव है, जिसे गीति काव्य कहते हैं और जो विशेषकर पदों के रूप में लिखी जाती है*।

साहित्य के कलापक्ष की अन्य महत्त्व-पूर्ण जातीय विशेषताओं से परिचित होने के लिये हमें उसके शब्द-समुदाय पर ध्यान देना पड़ेगा, साथ ही भारतीय संगीतशास्त्र की कुछ साधारण बातें भी जान लेनी होंगी। वाक्यरचना के विविध भेदों, शब्दगत तथा अर्थगत अलंकारों और अक्षर मात्रिक अथवा लघु गुरु मात्रिक आदि छंदसमुदायों का विवेचन भी उपयोगी हो सकता है। परंतु एक तो ये विषय इतने विस्तृत हैं कि इन पर यहाँ विचार करना संभव नहीं और दूसरे इनका संबंध साहित्य के इतिहास से उतना पृथक् नहीं है जितना व्याकरण, अलंकार और पिंगल से है। तीसरी बात यह भी है कि इनमें जातीय विशेषताओं की कोई स्पष्ट छाप भी नहीं देख पड़ती, क्योंकि ये सब बातें थोड़े बहुत अंतर से प्रत्येक देश के साहित्य में पाई जाती हैं।

हिंदी का शब्द-समूह

यद्यपि हमारे शब्द-समुदाय के संबंध में यह बात अनेक बार कही जा चुकी है कि यह अत्यधिक काव्योपयोगी है, परंतु साथ ही यह भी स्वीकार करना पड़ता है कि इसमें क्रियाओं के सूक्ष्म विभेदों तथा अनेक वस्तुओं के आकार-प्रकार तथा रूपरंग-संबंधी छोटे छोटे अंतरों को व्यंजित करने की क्षमता अपेक्षाकृत कम है। सूर्य, चंद्रमा, वायु, मेघ तथा कमल आदि कवि-हृदयों को स्पर्श करनेवाली वस्तुओं के अनेक पर्यायवाची शब्द हैं, जिससे उनके समयोचित उपयोग में बड़ी सुगमता होती है और जिससे काव्य में विशेष चमत्कार आ जाता है। परंतु हरीतिमा के अनेक भेदों अथवा पक्षियों के उड़ने के अनेक स्वरूपों के व्यंजक शब्द हिंदी में उतने नहीं मिलते। खड़ी बोली में तो क्रियापदों का अभाव इतना खटकता

---

* आजकल हिंदी में अँगरेजी के ढंग की Lyric कविताएँ भी लिखी जाने लगी हैं परंतु ऐसी रचनाओं का अभी प्रारंभ ही हुआ है।

है कि हम प्रचलित व्याकरण के कुछ नियमों को शिथिल कर नवीन क्रियाएँ गढ़ लेने तक का विचार करने लगे हैं और "सरसाना", "विकसाना" आदि ब्रजभाषा के रूपों को भी खड़ी बोली में लेने लगे हैं। हिंदी में भावों के अनुरूप भाषा लिखने का तो पर्याप्त सुभीता है, परंतु प्रत्येक शब्द में भावानुरूपता ढूँढ़ना मेरे विचार में भाषा-शास्त्र के नियमों के प्रतिकूल होगा। संस्कृत के स्त्रीलिंग "देवता" को हिंदी में पुल्लिंग बनाकर शब्द की भावात्मकता की रक्षा अवश्य हुई है; पर यह तो केवल एक उदाहरण है। इसके विपरीत संस्कृत के "कर्म" तथा "कार्य" को हिंदी में "काम" या "काज" बनाकर कर्म की स्वाभाविकता, कठोरता तथा कार्य की सच्ची गुरुता भुला दी गई है। कभी कभी तो हम अपने स्वभाव-वैषम्य के कारण शब्दों की सार्थकता का व्यर्थ विरोध करते हैं। प्रात.कालीन सुषमा की सच्ची द्योतकता "उषा" शब्द में है। हमारे प्राचीन ऋषियों ने उस सुषमा पर मुग्ध होकर उसे देवीत्व तक प्रदान किया था और वह "सरस्वती" के समकक्ष समझी गई थी। उषा के उपरांत जब सुषुप्त संसार जागकर कर्मक्षेत्र में प्रवेश करता है और वे जब समस्त स्थावर-जंगम पदार्थ चैतन्य तथा कर्मण्य हो उठते हैं, उस समय के द्योतक 'प्रभात' शब्द की कल्पना स्त्रीलिंग में करना हमारी अपनी दुर्बलता कहलाएगी, "प्रभात" के पुरुषत्व में उससे कुछ भी अंतर न पड़ेगा। हमारे यह सब कहने का तात्पर्य यही है कि यद्यपि हिंदी का शब्द-कोश बहुत कुछ काव्योपयोगी है, तथापि उसमें कुछ त्रुटियाँ भी हैं। कभी कभी उसकी त्रुटियाँ बहुत कुछ बढ़ा-चढ़ाकर कही जाती हैं और भाषा के विकासक्रम की अवहेलना कर उसकी जाँच अपने वैयक्तिक विचारों के आधार पर होती है। यदि ऐसा न हुआ करे तो हिंदी के शब्दों में भावानुरूपता की योग्यता संतोषजनक परिमाण में प्रतिष्ठित हो सकती है।

हिंदी में भारतीय संगीत

भारतीय संगीत की सबसे प्रधान विशेषता यह है कि उसमें स्वरों तथा लय का सामंजस्य स्थापित किया गया है। यूरोपीय संगीत में लय पर अधिक ध्यान दिया गया है और स्वरों के सामंजस्य या राग की बहुत कुछ अवहेलना की गई है। इस देश में अत्यंत प्राचीन काल से संगीत की उन्नति होती आई है और अनेक संगीतशास्त्रीय ग्रंथों का निर्माण भी होता आया है। यहाँ का प्राचीन संगीत यद्यपि अपने शुद्ध रूप में अब तक मिलता है, परंतु विदेशीय प्रभावों तथा अनेक देशभेदों के फल-स्वरूप उसकी 'देशी' नामक एक विभिन्न शाखा भी हो गई जिसका विकास निरंतर होता रहा। हिंदी साहित्य के विकास-काल में "देशी" संगीत प्रचलित हो

चुका था, अतः उसमें 'देशी' संगीत का बहुत कुछ पुट पाया जाता है। इसके अतिरिक्त रागों और रागिनियों के अनेक भेदों का ठीक ठीक अभिव्यंजन करने की क्षमता जितनी हिंदी ने दिखलाई, साथ ही जितने सुचारु रूप से संगीत के अन्य अवयवों का विकास उसमें हुआ है उतना अन्य किसी प्रांतीय भाषा में नहीं हुआ।

हमारे साहित्य पर उपर्युक्त जातिगत तथा देशगत प्रवृत्तियों का प्रभाव बहुत कुछ स्थायी है। इनके अतिरिक्त दो-एक अन्य प्रासंगिक बातें हैं जिनका हिंदी साहित्य के विकास से घनिष्ठ संबंध रहा है तथा जिनकी छाप हिंदी साहित्य पर स्थायी नहीं तो चिरकालिक अवश्य है। पहली बात यह है कि हिंदी साहित्य के प्रारंभिक युग के पहले ही संस्कृत साहित्य उन्नति की चरम सीमा तक पहुँचकर अधःपतित होने लगा था। जीवित साहित्यों में नवीन नवीन रचना-प्रणालियों के आविर्भाव तथा अन्य अभिनव उद्भावनाओं की जो प्रकृति होती है, उसका संस्कृत में अभाव हो चला था। अनेक रीति ग्रंथों का निर्माण हो जाने के कारण साहित्य में गतिशीलता रह ही नहीं गई थी। नियमों का साम्राज्य उसमें विराज रहा था, उनका उल्लंघन करना तत्कालीन साहित्यकारों के लिये असंभव सा था। वे नियम भी ऐसे वैसे न थे, वे बहुत ही कठोर तथा कहीं कहीं बहुत ही अस्वाभाविक थे। इन्हीं के फेर में पड़कर साहित्य की स्वाभाविक प्रगति रुक सी गई थी और तत्कालीन संस्कृत में जीवन की गति तथा उल्लास नाम मात्र को भी नहीं रह गया था। संस्कृत कविता अलंकारों से लदी हुई जीवन-हीन कामिनी की भाँति निष्प्रभ तथा निस्सार हो चुकी थी। हिंदी के स्वतंत्र विकास में संस्कृत के इस स्वरूप ने बड़ी बड़ी रुकावटें डालीं। एक तो इसके परिणाम-स्वरूप हिंदी काव्य का क्षेत्र बहुत कुछ परिमित हो गया; और दूसरे हिंदी भाषा भी स्वाभाविक रूप से विकसित न होकर बहुत दिनों तक अव्यवस्थित बनी रही। यदि हिंदी के भक्त कवियों ने अपनी प्रतिभा के बल से उपर्युक्त दुष्परिणामों का निवारण करने की सफल चेष्टा न की होती तो हिंदी की आज कैसी स्थिति होती, यह ठीक ठीक नहीं कहा जा सकता। खेद है कि भक्त कवियों की परंपरा के समाप्त होते ही हिंदी के कवि फिर संस्कृत साहित्य के पिछले स्वरूप से प्रभावान्वित होकर उसका अनुसरण करने लगे, जिसके फल-स्वरूप भाषा में तो सरलता तथा प्रौढ़ता आ गई, परंतु भावों की नवीनता तथा मौलिकता बहुत कुछ जाती रही।

हिंदी की दो अन्य महत्त्वपूर्ण विशेषताएँ

ध्यान देने की दूसरी बात यह है कि हिंदी साहित्य का संपूर्ण युग अशांति, निराशा तथा पराधीनता का युग रहा है। हिंदी के प्रारंभिक काल में देश स्वतंत्र अवश्य था परंतु उस समय तक उसकी स्वतंत्रता में बाधाएँ पड़ने लग गई थीं और उसके सम्मुख आत्मरक्षा का कठिन प्रश्न उपस्थित हो चुका था। देश के लिये वह हलचल तथा अशांति का युग था। उसके उपरांत वह युग भी आया जिसमें देश की स्वतंत्रता नष्ट हो गई और उसके अधिकांश भाग में विदेशीय तथा विजातीय शासन की प्रतिष्ठा हो गई। तब से अब तक थोड़े बहुत अंतर से वैसी ही परिस्थिति बनी है। हमारे संपूर्ण साहित्य में करुणा की जो एक हलकी सी अंतर्धारा व्याप्त मिलती है वह इसी के परिणाम-स्वरूप है। पुरानी हिंदी के समस्त साहित्य में नाटकों, उपन्यासों तथा अन्य मनोरंजक साहित्यांगों का जो अभाव दिखाई देता है, वह भी बहुत कुछ इसी कारण से है। केवल कविता में ही जनता की स्थायी भावनाओं की अभिव्यक्ति हुई और वही उनका इतिहास हुआ। सामाजिक मनोरंजन के एक प्रमुख साधन नाटक-रचना का विधान भी न किया जा सका। देश की परतंत्रता सर्वतोमुखी साहित्यिक उन्नति में बाधक ही सिद्ध हुई।

प्रगतिशील साहित्य

अब तक जो कुछ कहा गया है उससे हिंदी साहित्य का स्वरूप समझने में थोड़ी बहुत सहायता मिल सकती है; अथवा अधिक नहीं तो उसकी कुछ स्थायी विशेषताओं का ही ज्ञान हो सकता है, परंतु केवल कुछ विशेषताओं के प्रदर्शन से, साहित्य की आंशिक झलक दिखा देने से ही, साहित्य का इतिहास पूरा नहीं हो सकता। उपर्युक्त बातें तो केवल एक सीमा तक उसके उद्देश की पूर्ति करती हैं। किसी साहित्य के इतिहास का ठीक ठीक ज्ञान प्राप्त करने के लिये केवल उस साहित्य की जातिगत या देशगत प्रवृत्तियों को ही जानना आवश्यक नहीं होता, वरन् विभिन्न कालों में उसकी कैसी अवस्था रही, देश के सामाजिक, धार्मिक तथा कला-कौशल संबंधी आंदोलनों के उस पर कैसे कैसे प्रभाव पड़े, किन किन व्यक्तियों की प्रतिभा ने उसकी कितनी और कैसी उन्नति की, ऐसी अनेक बातों का जानना भी अनिवार्य होता है। ऊपर के विवेचन में साहित्य के जिस अंग पर प्रकाश डालने की चेष्टा की गई है, वह प्रायः उसका स्थिर अंग है, परंतु उसका प्रगतिशील अंग भी होता है और यह प्रगतिशील अंग ही विशेष महत्त्वपूर्ण होता है। समय परिवर्तनशील है और समय के साथ देश तथा जाति की स्थिति भी बदलती रहती है।

जनता के इसी स्थिति-परिवर्तन के साथ उसकी चित्तवृत्तियाँ भी और की ओर हो जाती हैं; साथ ही साहित्य भी अपना स्वरूप बदलता चलता है। हिंदी साहित्य की भी बहुत कुछ ऐसी ही अवस्था रही है। देश के महत्त्वपूर्ण सामाजिक, राजनीतिक, सांप्रदायिक आदि आंदोलनों से उसके स्वरूप में बड़े बड़े परिवर्तन उपस्थित हुए हैं और कभी कभी तो उसकी अवस्था बिलकुल और की और हो गई है।

हिंदी साहित्य का कालविभाग

यदि हम विगत नौ सौ वर्षों की हिंदी साहित्य की प्रगति का सिंहावलोकन करें तो कालक्रमानुसार उसके अनेक विभाग दिखाई देंगे। उसके प्रारंभिक काल में वीर गाथाओं तथा अन्य प्रकार की वीरोल्लासिनी कविताओं की प्रधानता दिखाई देती है, यद्यपि उस काल की कविता में शृंगार अथवा प्रेम की भी झलक पाई जाती है, तथापि वे वीरता की पुष्टि के लिये आए हैं, स्वतंत्र रूप में नहीं। जब जब वीरों को वीरता अथवा साहस का प्रदर्शन करना होता था, तब तब कविगण शृंगार की किसी मूर्तिमती रमणी की भी आयोजना कर लेते थे और उसके स्वयंवर आदि की कल्पना द्वारा अपनी वीरगाथाओं में अधिक रोचकता का समावेश करने का प्रयत्न करते थे। यही उस काल की विशेषता थी। इसके उपरांत हिंदी साहित्य अपने भक्तियुग में प्रवेश करता है और उसमें वैष्णव तथा सूफी काव्य की प्रचुरता देख पड़ती है। रामभक्त तथा कृष्णभक्त कवियों का यह युग हिंदी साहित्य का स्वर्णयुग समझा जाता है। इसमें हिंदी कविता भावों और भाषा दोनों की दृष्टि से उन्नति की चरम सीमा तक पहुँच गई। हिंदी कविता की इस अभूतपूर्व उन्नति के विधायक कबीर, जायसी, तुलसी तथा सूर आदि महाकवि हो गए हैं जिनकी यशोगाथा हिंदी साहित्य के इतिहास में अमर हो गई है। इस युग के समाप्त होने पर हिंदी में शृंगारी कविता की अधिकता हुई और रीति-ग्रंथों की परंपरा चली। हमारे साहित्य पर मुगल-साम्राज्य की तत्कालीन सुख-समृद्धि तथा तत्संभव विलासिता की प्रत्यक्ष छाप दिखाई देती है। कला-कौशल की अभिवृद्धि के साथ साथ हिंदी कविता में भी कलापक्ष की प्रधानता हो गई और फारसी-साहित्य तथा संस्कृत-साहित्य के पिछले स्वरूप के परिणाम में हिंदी में मुक्तक काव्य की अतिशयता देख पड़ने लगी। यद्यपि इस युग में शुद्ध प्रेम का चित्रण करनेवाले रसखान, घनानंद तथा ठाकुर आदि कवि भी हुए और साथ ही भूषण आदि वीर कवियों का भी यही युग था, तथापि इसके प्रति-

निधि कवि देव, बिहारी तथा पद्माकर आदि ही कहलाएँगे। इनकी परंपरा बहुत दिनों तक चलती रही। अंत में भारतेंदु हरिश्चंद्र के साहित्याकाश में उदित होते ही हिंदी में एक नवीन प्रकाश फैला। यद्यपि इसकी सर्व-प्रधान विशेषता गद्य-साहित्य का विकास मानी जा सकती है पर यह नवीन प्रकाश सर्वतोमुखी था। इस युग के साहित्य में पश्चिमीय प्रणालियों तथा आदर्शों की बहुत कुछ छाप पड़ी है और हिंदी एक नवीन रूप में ढल गई सी जान पड़ती है। हिंदी ही क्यों, अन्य भारतीय भाषाएँ भी बहुत कुछ पाश्चात्य भावों के योग से प्रगतिशील हो रही हैं। इसे हम नवीन विकास का युग मान सकते हैं। अतएव हम हिंदी साहित्य का कालविभाग संक्षेप में इस प्रकार कर सकते हैं—

आदि युग (वीरगाथा का युग—संवत् १०५० से १४०० तक)
पूर्व मध्य युग (भक्ति का युग—संवत् १४०० से १७०० तक)
उत्तर मध्य युग (रीति-ग्रंथों का युग—संवत् १७०० से १६०० तक)
आधुनिक युग (नवीन विकास का युग—संवत् १६०० से अब तक)।

परंतु उपर्युक्त कालविभाग तथा प्रत्येक काल की विशेषताओं के प्रदर्शन से हमारा यह आशय नहीं है कि एक काल के समाप्त होते ही काव्य-धारा दूसरे दिन से ही दूसरी दिशा में बहने लगी और न यही अभिप्राय है कि उन विभिन्न कालों में अन्य प्रकार की रचनाएँ हुईं ही नहीं। ऐसा समझना तो मानों साहित्य को गणितशास्त्र की श्रेणी में मान लेना होगा; और साथ ही कवियों के उस व्यक्तित्व का अपमान करना होगा जो देश तथा काल के परे है। साहित्य पर काल का प्रभाव पड़ता अवश्य है, परंतु विभिन्न कालों का परिवर्तन बहुधा आकस्मिक हुआ करता है। राजनीतिक तथा सामाजिक स्थितियाँ धीरे धीरे बदलती हैं, एक ही दिन में वे परिवर्तित नहीं हो जातीं। इसी प्रकार काव्यधारा भी धीरे धीरे अपना पुराना स्वरूप बदलती तथा नवीन रूप धारण करती है, वह कभी एक दम से नया मार्ग नहीं ग्रहण करती। दूसरी बात यह है कि साहित्य कोई यांत्रिक क्रिया नहीं है कि सामाजिक आदि स्थितियों के बदलते ही तुरंत बदल जाय। कभी कभी तो साहित्य ही आगे बढ़कर समाज का नियंत्रण करता है और उसे नए मार्ग पर लाता है, साथ ही यह भी सत्य है कि किसी किसी काल में सामाजिक अथवा राजनीतिक आदि स्थितियों के सुधर जाने पर भी साहित्य पिछड़ा ही रहता है और बड़ी कठिनता से समाज के साहचर्य में आता है, उसके अनुकूल होता है। कहने का तात्पर्य यही है कि यद्यपि साहित्य का समाज की विभिन्न स्थितियों से

कालविभाग की त्रुटियाँ

बड़ा घनिष्ठ संबंध होता है परंतु यह संबंध ऐसा यांत्रिक तथा कठोर नहीं होता कि साहित्य उन स्थितियों की अवहेलना न कर सके और स्वतंत्र रीति से उसका विकास न हो सके।

साहित्य के इतिहास में कालविभाग कर लेने से उसकी विभिन्न कालों की स्थिति समझने में सुगमता तो अवश्य होती है, परंतु साथ ही यह बात भी न भूल जानी चाहिए कि साहित्य एक वैयक्तिक कला है; और प्रत्येक बड़े साहित्यकार की अपनी वैयक्तिक विशेषताएँ होती हैं। यद्यपि ये विशेषताएँ देश और काल से बहुत कुछ निरूपित होती हैं, तथापि इनमें साहित्यकार के व्यक्तित्व की भी छाप होती है। प्रतिभाशाली तथा विचक्षण कवि अथवा लेखक कभी कभी स्वतंत्र रीति से वाणी के विलास में प्रवृत्त होते हैं और समाज की साधारण स्थितियों का उन पर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता। अधिकतर यही देखा जाता है कि जो कवि जितना ही अधिक स्वतंत्र तथा मौलिक विचारवाला होता है, वह समाज की लकीर पर चलना उतना ही अधिक अस्वीकार करता है और उतना ही अधिक वह साहित्य के साधारण प्रवाह से दूर पहुँच जाता है। हिंदी के प्रमुख वीर कविताकार "भूषण" ने देश भर में विस्तृत रूप में व्याप्त शृंगार-परंपरा के युग में जिस स्वतंत्र पथ का अवलंबन किया उससे हमारे इस कथन का प्रत्यक्ष रीति से समर्थन होता है। ऐसे अन्य उदाहरण भी उपस्थित किए जा सकते हैं परंतु ऐसा करने की कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। साहित्य-कला की यही विशेषता देखकर साहित्य के कुछ इतिहासलेखक उसका कालविभाग न करके उसके मुख्य मुख्य कवियों तथा लेखकों को ही कालनायक मान लेते तथा उन्हीं के संबंध में अपने विचार प्रकट करते हैं।

त्रुटियों का प्रतिकार

परंतु मेरे विचार से मध्यम पथ का ग्रहण श्रेयस्कर होगा। यह पथ ग्रहण करने से एक ओर तो हम साहित्य पर काल की अनेक स्थितियों का प्रभाव दिखला सकेंगे और दूसरी ओर साहित्यकारों की वैयक्तिक विशेषताओं का प्रदर्शन भी कर सकेंगे। वास्तव में साहित्य के इतिहास का सच्चा ज्ञान तभी हो सकता है जब विभिन्न कालों की सामाजिक, राजनीतिक तथा धार्मिक आदि स्थितियों से उसके संबंध का निरूपण होता जाय; साथ ही उसकी वे विशेषताएँ भी स्पष्ट होती जायँ जो प्रतिभाशाली तथा विचक्षण कवियों और लेखकों से उसे प्राप्त होती हैं। इस पुस्तक में इसी शैली के अनुकरण का प्रयत्न किया जायगा।

दूसरा अध्याय

भिन्न भिन्न परिस्थितियाँ

हम पहले अध्याय में यह कह चुके हैं कि देश और काल से साहित्य का अविच्छिन्न संबंध है, और प्रत्येक देश के विभिन्न कालों की सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक आदि स्थितियों का प्रभाव उस देश के साहित्य पर पड़ता है। जिस प्रकार साहित्य कला में देशगत और कालगत भेद होते हैं, उसी प्रकार अन्य ललित कलाएँ भी देश और काल के अनुसार अपना रूप बदला करती हैं। साहित्य का विकास ठीक ठीक तभी हृदयंगम हो सकता है जब अन्य ललित कलाओं के विकास का इतिहास भी जान लिया जाय और उनके विकास का स्वरूप समझने का प्रयास किया जाय। अत. हिंदी साहित्य के विकास का इतिहास लिखने से पहले उत्तर भारत की उन राजनीतिक और सामाजिक आदि प्रगतियों का ज्ञान लेना भी आवश्यक है जिनसे प्रभावान्वित होकर हिंदी साहित्य पुष्पित और पल्लवित हुआ है, और जो उसके विकास में सहायक हुई हैं। इसी प्रकार वास्तुकला, मूर्तिकला, चित्रकला, संगीतकला आदि विभिन्न ललित कलाओं की प्रगति भी समझ लेनी चाहिए, क्योंकि साहित्यकला भी इन्हीं में से है और उनमें सबसे ऊँचे स्थान की अधिकारिणी है। अतएव इस अध्याय में हम उत्तर भारत की राजनीतिक सामाजिक सांप्रदायिक तथा धार्मिक आदि अवस्थाओं का और अगले अध्याय में उस काल की ललित कलाओं का संक्षेप में दिग्दर्शन।करावेंगे। हिंदी साहित्य के विकास से ठीक ठीक परिचित होने के लिये उपर्युक्त दोनों बातों का ज्ञान लेना बहुत आवश्यक है।

पूर्वाभास

उत्तर भारत में हर्षवर्द्धन अंतिम हिंदू सम्राट् हुआ जिसने अपने प्रभाव, बल और शौर्य से समस्त उत्तरापथ में अपना एकाधिपत्य स्थापित किया और जो अपनी धर्मबुद्धि तथा शासननीति के कारण प्रजा को सुख-समृद्धि-पूर्ण करके देश के महान् शासकों की श्रेणी में प्रतिष्ठित हुआ। उसके शासनकाल में भारत ने वह शांति और सुव्यवस्था पाई थी जो उसे विशाल मौर्य तथा गुप्त साम्राज्यों में ही मिली थी। उस काल के चीनी यात्री हुएन्सांग के वर्णनों में तत्कालीन सामाजिक स्थिति का जो दिव्य चित्र दिखाई

पड़ता है, उसकी समता इस देश के इतिहास में कठिनता से मिल सकती है। धार्मिक अवस्था भी बहुत ही संतोषजनक थी। यद्यपि बौद्ध धर्म अपनी चरम उन्नति के उपरांत शिथिल पड़ता जा रहा था और वैदिक ब्राह्मण धर्म की फिर से प्रतिष्ठा होने लगी थी; पर यह कार्य बड़ी ही शांति के साथ, विप्लव-विद्रोह-रहित रूप में हो रहा था। हर्षवर्द्धन स्वयं धर्मप्राण नृपति था; पर उसमें वह धार्मिक कट्टरपन नाम को भी नहीं था जिससे क्रांति और हिंसा को प्रश्रय मिला करता है। तर्क और बुद्धि की महत्ता से अपने अपने धर्म का प्रचार करने का अधिकार सबको था; और राज्य की ओर से भी समय समय पर ऐसी धार्मिक सभाएँ हुआ करती थीं, पर उनमें पक्षपात या विक्षेप का भाव नहीं रहता था। इस प्रकार की धार्मिक उदारता हर्षवर्द्धन की उन्नति का मुख्य कारण थी। प्रजा भी उसकी उदार नीति और सुचारु शासन से प्रसन्न होकर राजभक्त बनी थी। सारांश यह कि क्या राजनीतिक, क्या सामाजिक और क्या धार्मिक सभी दृष्टियों से हर्षवर्द्धन का शासनकाल देश के लिये बहुत ही कल्याणकर हुआ और उसमें भारत के बल-वैभव की भी विशेष वृद्धि हुई।

आदि काल

हर्षवर्द्धन की मृत्यु विक्रम संवत् ७०४ में हुई। उसके पीछे का भारतवर्ष का इतिहास आपस के लड़ाई झगड़ों का इतिहास है। हर्ष की मृत्यु के साथ ही हिंदुओं के अंतिम साम्राज्य का अंत हो गया और देश खंड खंड होकर विभिन्न अधिपतियों के हाथों में चला गया। हर्ष के साम्राज्य के भिन्न भिन्न अंशों पर अनेक खंड राज्य स्थापित हुए जो आधिपत्य के लिये आपस में लड़ते रहे। इनमें मुख्य तोमर, राठौर, चौहान, चालुक्य और चंदेल थे। इनकी राजधानियाँ दिल्ली, कन्नौज, अजमेर, धार और कालिंजर में थीं। हमारे हिंदी साहित्य का इतिहास उस समय से आरंभ होता है जब ये राज्य स्थापित हो चुके थे।

सांस्कृतिक स्थिति

यद्यपि मुसलमानों का भारतवर्ष में पहले पहल आगमन खलीफा उमर के समय में संवत् ६६३ में हुआ था और इसके अनंतर सिंध पर निरंतर उनके आक्रमण होते रहे थे, पर ये आक्रमण लूट-पाट के उद्देश से होते थे, राज्य स्थापन की कामना से नहीं होते थे। पीछे से ये लोग यहाँ बसने और जीते हुए प्रदेश पर अपना शासनाधिकार जमाने के अभिलाषी हुए। कुछ राजवंश मुलतान, मनसूरा आदि में स्थापित

हुए और सैयदों ने सिंधु-तटों के प्रदेश पर अपना अधिकार जमाया। इस प्रदेश पर मुसलमानों के इन आक्रमणों का कोई स्थायी प्रभाव नहीं पड़ा। उन्होंने अपने शासन के जो कुछ चिह्न छोड़े, वे बड़ी बड़ी इमारतों के भग्नावशेष मात्र हैं, जो आक्रमणकारियों की क्रूरता और अत्याचार के स्मारक स्वरूप अब तक वर्तमान हैं। उन मुसलमानों का भारतीयों की संस्कृति पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा, पर यहाँ की संस्कृति के प्रभाव से वे अछूते नहीं रह सके। इस संबंध में डाक्टर ईश्वरीप्रसाद अपने मध्य-कालीन भारत के इतिहास में लिखते हैं—

"यह निस्संकोच होकर स्वीकार करना पड़ेगा कि सिंध पर अरबों की विजय इस्लाम के इतिहास में कोई विशेष महत्त्वपूर्ण राज-नीतिक घटना नहीं है, परंतु इस विजय का मुसलमानों की संस्कृति पर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा। जब अरबवासी भारतवर्ष में आए तब वे इस देश की उच्च सभ्यता देखकर चकित हो गए। हिंदुओं के उच्च दार्शनिक सिद्धांत तथा उनकी बुद्धि की तीव्रता और पांडित्य आदि देखकर उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ। मुसलमानों का सर्वश्रेष्ठ धार्मिक सिद्धांत एक ईश्वर की कल्पना है, पर यह तो हिंदू महात्माओं और दार्शनिकों को बहुत पहले से मालूम था। उच्च कलाओं में हिंदू बहुत बढ़े चढ़े थे। भारतीय संगीतज्ञ, वास्तुकलाकार तथा चित्रकार भी अरबों की दृष्टि में उतने ही आदरणीय थे जितने भारतीय दर्शनशास्त्री और पंडित थे। राज्यशासन-नीति आदि व्यावहारिक विषयों में अरबों ने हिंदुओं से बहुत कुछ सीखा। वे उच्च पदों पर ब्राह्मणों को ही नियुक्त करते थे। इसका कारण यही था कि वे ज्ञान में, अनुभव में और कार्य-कुशलता में अधिक दक्ष थे। अरब संस्कृति के अनेक अवयव, जिन्हें युरोप ने प्रचुरता से ग्रहण किया था, भारत से ही प्राप्त हुए थे। उस समय भारतवर्ष बुद्धि के ऊँचे धरातल पर स्थित था और अनेक यवन विद्वान् भारत के बौद्ध तथा ब्राह्मण पंडितों से दर्शन, ज्योतिष, गणित, आयुर्वेद तथा रसायन आदि विद्याएँ सीखते थे। बगदाद के तत्का-लीन दरबार में भारतीय पंडितों का सम्मान होता था और खलीफा मंसूर (संवत् ८१०-३१) के समय में भारत से कुछ अरब विद्वान् ब्रह्म-गुप्त-रचित ब्रह्मसिद्धांत और खंड-खाद्यक नामक ग्रंथ ले गए थे। इन्हीं पुस्तकों से पहले पहल अरबों ने ज्योतिष शास्त्र के प्राथमिक सिद्धांतों को समझा था। खलीफा हारूँ (८४३-८६५) के वजीरों से, जो बरमक-वंशीय थे, हिंदुओं की विद्या को बड़ा प्रोत्साहन मिला। यद्यपि बरमक-परिवार ने इस्लाम धर्म स्वीकार कर लिया था, फिर भी वे उसमें विशेष

अनुरक्त नहीं थे। हिंदू धर्म की ओर प्रवृत्ति होने के कारण उन्होंने अरब के अनेक विद्वानों को आयुर्वेद, ज्योतिष, कृषि तथा अन्य विद्याओं की शिक्षा प्राप्त करने के लिये भारत में भेजा था। परंतु यह अवश्य स्वीकार किया जाना चाहिए कि मुसलमानों ने भारत से प्राप्त ज्ञान को लौकिक आवरण देकर युरोप के सामने एक नवीन रूप में रखा। युरोपीय विचारों के लिये यह उपयुक्त भी सिद्ध हुआ। हैवेल साहब के इस विचार का समर्थन करने को अनेक प्रमाण हैं कि इस्लाम की किशोरावस्था में उसे भारत ने ही शिक्षा दी थी, यूनान ने नहीं। भारत ने ही उसके दर्शन-तत्त्व निरूपित किए थे और प्रेम-विशिष्ट धार्मिक आदर्शों को स्थिर किया था। भारत की ही प्रेरणा से मुसलमानों के साहित्य, कला और शिल्प आदि को सुचारु स्वरूप मिले थे।"

परंतु संस्कृति की दृष्टि से हिंदुओं पर विजय न पा सकने पर भी धीरे धीरे मुसलमानों का आतंक बढ़ता गया और उनके आक्रमण बहुत कुछ दृढ़ और नियमित हो गए। हिंदू बिलकुल निर्बल नहीं थे, उनकी सेनाएँ बलवती थीं, पर दार्शनिक वाद-विवाद और अहिंसा आदि पर विश्वास करनेवाली जाति बहुत दिनों तक अपनी रक्षा नहीं कर सकी। यद्यपि उस समय हिंदुओं के वर्णभेद के कारण आजकल का सा जातीय कट्टरपन नहीं आ सका था, परंतु संघटित होकर यवन-शक्ति का विरोध करने में हिंदुओं की समस्त शक्ति एकत्र नहीं हो सकी। ब्राह्मणों में शैव शाक्त आदि विभेद भी हो चले थे और क्षत्रियों में तो आपस की छीना-झपटी लगी ही थी। इस प्रकार जातीय शक्ति विशृंखल होकर पराधीनता की बेड़ी पहनने को तैयार हो गई थी।

राजनीतिक अवस्था

इसी समय गजनी के सुलतान महमूद के प्रसिद्ध आक्रमण प्रारंभ हुए। देश का अनंत धन-जन छीना गया। मंदिर तोड़े गए, कला के सुंदरतम निदर्शन नष्ट कर दिए गए। फिर भी राजपूत राजाओं की नींद न खुली, उनका आपस का विद्वेष बना ही रहा। अंत में जब गजनी साम्राज्य के उखड़ जाने पर गोर प्रदेश के अधिपति ने यवन-शक्ति का नवीन संघटन किया तब मुसलमानों की नीति में बिलकुल परिवर्तन हो गया। इसके पहले उनके आक्रमणों का मुख्य उद्देश लूट-मारकर काफिरों को तंग करना और इस देश की अतुल धन संपत्ति को विदेश ले जाना तथा यहाँ के निवासियों को गुलाम बनाना था, पर अब वे भारत पर राजनीतिक आधिपत्य जमाने का प्रयत्न करने लगे। मुहम्मद गोरी ने पहले तो पंजाब प्रदेश का एक विस्तृत भूभाग हस्तगत किया और फिर उत्तर

भारत के प्रसिद्ध राजपूत राज्यों पर चढ़ाई करने का आयोजन किया। हिंदू शक्ति दिल्ली के प्रसिद्ध चौहान अधिपति पृथ्वीराज की अध्यक्षता में एक बार जागी और गोरी को अनेक बार हारकर भागना और कैद होना पड़ा, पर बंधुभाव-समन्वित यवन सेना के सामने हिंदू बहुत समय तक नहीं ठहर सके। पारस्परिक झगड़ों में ही उनका बहुत कुछ ह्रास हो गया था। फलतः मुहम्मद गोरी ने संवत् १२४६ में प्रसिद्ध तराई की लड़ाई में हिंदुओं को पराजित कर दिया। यवन घुड़सवारों का वह पराक्रम हिंदुओं को हताश करने में सहायक हुआ। इसके उपरांत क्रमशः कन्नौज आदि के विस्तृत हिंदू राज्य भी मुसलमानों से पादाक्रांत हुए और थोड़े समय में ही पंजाब से लेकर बंगाल तक यवन झंडा फहराने लगा। कन्नौज के तत्कालीन नरेश जयचंद ने मुहम्मद गोरी से मिलकर पृथ्वीराज को हराने का षड्यंत्र रचा था, अतः इतिहास में उसका नाम राष्ट्र के साथ विश्वासघात करनेवालों की श्रेणी में लिखा गया है। पर वास्तव में सारी जाति को ही भारत का स्वातंत्र्य खोने का अपराधी मानना उचित होगा। जयचंद की प्रवृत्ति उस समय के समस्त खंडाधिपतियों की प्रवृत्ति हो रही थी, नहीं तो एक जयचंद के विश्वासघात से समस्त देश का पराजित होना कभी संभव नहीं था।

यद्यपि देश ने अपनी स्वतंत्रता खोकर उन समस्त संकटों का सामना किया जो एक परतंत्र देश को करने पड़ते हैं, पर मुसलमानों के शासन से कुछ लाभ भी हुए। यह ठीक है कि हिंदू आत्मसम्मान खो बैठे, उनके गौरव का ह्रास हो गया और विजातीय तथा विधर्मी शासन के प्रतिष्ठित होने के कारण यहाँ की धार्मिक तथा सामाजिक व्यवस्था को बड़ा धक्का लगा, परंतु जो जाति क्षुद्र स्वार्थों के वशीभूत होकर अपनी राष्ट्रीयता का अनुभव नहीं कर सकती, उसे ऐसा ही फल मिलता है। इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं। मुसलमानों के राज्य स्थापन के उपरांत उनकी भाषा और उनके धर्म का प्रचार भी हुआ, और कुछ निरंकुश शासकों ने तलवार के बल से धर्म का प्रचार किया और यहाँ की समाजनीति को उलट-पुलट डालने में पाशविक बल की सहायता ली। समाजनीति के सुव्यवस्थित संचालन के लिये जिस अनुकूल राजशक्ति तथा अन्य वातावरण की आवश्यकता होती है वह हिंदुओं को बहुत कम प्राप्त हुई, फलतः उनके सामाजिक बंधन बहुत कुछ शिथिल और अनियमित हो गए। परंतु साथ ही हमको यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि यवन शासन के स्थापित हो जाने पर एक सीमा तक उस सुख और समृद्धि का काल आया जो विशाल साम्राज्यों

में ही प्राप्त हो सकता है, टूटे फूटे और संघर्षपूर्ण खंड राज्यों में नहीं मिल सकता। इसके अतिरिक्त नवीन यवनशक्ति में जो सजीवता और उत्साह था, उससे यहाँ के वायुमंडल को एक अभिनव चेतना मिली और अनेक क्षेत्रों में नवीन प्रगति का आरंभ हुआ। मुसलिम कला के संयोग से भारतीय कला एक नए साँचे में ढली और मुसलमानों की बाहरी "तहज़ीब" (शिष्टता) का भी हम पर बहुत कुछ प्रभाव पड़ा। साहित्य के क्षेत्र में भी परिवर्तन हुए। अरबी भाषा का एक अच्छा साहित्य था, जिसे यहाँ के निवासियों ने थोड़ा बहुत ग्रहण किया। आज हम साधारण बोल-चाल में जिस भाषा का प्रयोग करते हैं, उसमें मुसलमानों की अरबी और फारसी भाषाओं के शब्दों का भी कम मेल नहीं रहता।

सामाजिक अवस्था

जिस समय राजनीतिक क्षेत्र में मुसलमानों का प्रभाव बढ़ रहा था और उनके आक्रमण तथा राज्य-स्थापन के कार्य शीघ्रता से चल रहे थे, उस समय भारत की धार्मिक परिस्थिति तथा सामाजिक अवस्था में भी परिवर्तन हो रहा था। हम पहले ही कह चुके हैं कि हर्षवर्द्धन के समय से ही बौद्ध धर्म का ह्रास होने लगा था। उस ह्रास के कई कारण बतलाए जाते हैं; परंतु उसकी अवनति का प्रधान कारण बुद्ध के उपदेशों का लोक-धर्म के रूप में प्रतिष्ठित न हो सकना ही था। वे उपदेश केवल वैयक्तिक साधना के उपयुक्त थे और उन्हें समाज ग्रहण नहीं कर सका। बौद्ध धर्म जिन उच्च आदर्शों पर अधिष्ठित है, उनका पालन साधारण जनता न कर सकी। तत्कालीन संघों में अनाचार बढ़ने लगा और स्थविर भी विलासी और धनलोलुप हो गए। यह बुद्ध के उपदेशों के सर्वथा विपरीत था। बुद्ध ने जिस सरल और त्यागपूर्ण जीवन का आदर्श स्थापित किया था, वह उनके अनुयायियों में प्रतिष्ठित न हो सका। उसी अवसर पर क्षत्रिय नृपतियों की उग्र मनोवृत्तियों के सामने बौद्ध अहिंसावाद ठहर न सका और उसके अनुयायी कम होने लगे। ऐसी परिस्थिति में महात्मा शंकर का आविर्भाव हुआ, जिनकी तीव्र विवेचन-शक्ति और अद्भुत ज्ञान का सहारा पाकर हिंदू धर्म नव जीवन प्राप्त करके जाग उठा। शंकर स्वामी के प्रसिद्ध दिग्विजय के फल-स्वरूप बौद्ध धर्म का समस्त उत्तर भारत से उन्मूलन हो गया और उसे बिहार के कुछ विहारों में ही शरण लेनी पड़ी। विक्रम की तेरहवीं शताब्दी के मध्य में जब मुसलमानों का आक्रमण बिहार पर हुआ तब रहे सहे बौद्ध भी लुप्त हो गए और इस प्रकार इस देश में उस धर्म का

अस्तित्व ही प्रायः मिट सा गया जो किसी समय देशव्यापी हो रहा था। वैदिक हिंदू धर्म की पुनःप्रतिष्ठा हो जाने पर शैव, शाक्त, वैष्णव आदि अनेक संप्रदाय भी चल निकले, जिनमें पारस्परिक स्पर्द्धा रहती थी। तत्कालीन राजपूतों की मनोवृत्ति की सहायता से शैव तथा शाक्त संप्रदायों की ही विशेष अभिवृद्धि हुई थी।

तत्कालीन समाज में क्षत्रियों का प्राबल्य था, ब्राह्मण पूज्य अवश्य समझे जाते थे, पर उनकी श्रेष्ठता कम हो चली थी। यह राजपूतों का उत्थान काल था। राजपूत सरल प्रकृति के परंतु शक्तिसंपन्न और वीर योद्धा थे। उनकी उदारता भी कम प्रसिद्ध न थी। वे अपनी स्त्रियों का विशेष सम्मान करते थे और उनकी वीर रमणियाँ भी अपने पूज्य पतियों के लिये प्राणों तक का मोह नहीं करती थीं। जौहर की प्रथा तब तक प्रचलित थी जिससे तत्कालीन राजपूत वीरांगनाओं के पति परायणा होने का उज्ज्वल परिचय मिलता है। परंतु राजपूतों में बहुत से अवगुण भी थे जिनके कारण उनकी शक्ति क्षीण हो गई। वे क्रोधी थे, और छोटी छोटी बातों में उबल पड़ते थे। वैयक्तिक स्पर्द्धा से अंधे होकर जाति और राष्ट्र के लाभों को वे विस्मृत कर देते थे, संघटित होकर विपक्षियों का सामना करने के लिये वे प्रवृत्त न होते थे। यह ठीक है कि बीसलदेव, पृथ्वीराज, हम्मीरदेव तथा राणा साँगा जैसे वीर राजपूत भी हुए जिन्हें देश के गौरव का विशेष ध्यान था, पर अधिकांश राजपूत राजाओं में राष्ट्रीय चेतना का अभाव था। प्रजा भी तत्कालीन राजनीतिक उलट-फेर में पड़कर अपना ध्येय निरूपित न कर सकी। फलतः उसमें भी कलह और विद्वेष का विष व्याप्त हो गया। जातीय पतन का यह बहुत ही भीषण काल था।

उस समय के प्रसिद्ध मुसलमान इतिहासलेखक अलबैरूनी के अनुसार भारतवर्ष में काश्मीर, दिल्ली, सिंध, मालवा तथा कन्नौज आदि प्रसिद्ध राज्य स्थापित थे। समाज में गोत्र, प्रवर आदि के अनुसार जाति पाँति के झगड़े बढ़ रहे थे। चार वर्णों के स्थान पर अनेक उपजातियाँ हो गई थीं जो परस्पर खान पान और विवाह आदि का संबंध नहीं रखती थीं। बाल-विवाह की प्रथा थी, पर विधवा-विवाह का निषेध था। ब्राह्मण मद्यप नहीं थे। अंत्यज आठ प्रकार के होते थे जिनमें पारस्परिक विवाहसंबंध होता था। उच्च वर्ण इन्हें घृणा की दृष्टि से देखते थे, पर इस्लाम धर्म के साथ साथ समानता के सिद्धांत का प्रचार हुआ और अंत्यजों के प्रति उच्च वर्णों के व्यवहार में भी परिवर्त्तन हुए।

पूर्व मध्य काल

मुहम्मद गोरी के उपरांत दिल्ली का शासनाधिकार क्रमशः गुलाम, खिलजी तथा तुगलक राजघरानों के हाथ में रहा। यद्यपि इन राजवंशों ने कई सौ वर्षों तक भारत के विस्तृत भूभाग पर शासन किया; पर इस समय कोई सुव्यवस्थित शासननीति आविर्भूत न हो सकी। विभिन्न अधिपति अपनी अपनी चित्तवृत्ति के अनुसार राज्य करते थे और प्रजा को उनकी नीति स्वीकार करनी पड़ती थी। उस काल में यद्यपि मुसलमानों के पैर इस देश में अच्छी तरह जम गए थे और उन्हें यहाँ से निकाल बाहर करने की शक्ति हिंदुओं में नहीं रह गई थी, पर फिर भी हिंदुओं ने उस समय तक विदेशीय शासन को एकदम अंगीकार नहीं कर लिया था। मुसलमान शासक भी अब तक किसी बड़े साम्राज्य स्थापन का कार्य नहीं कर सके थे और राजपूत राजाओं से कर लेकर ही वे संतोष कर लेते थे। इस काल में यद्यपि अलाउद्दीन खिलजी, मुहम्मद तुगलक और फीरोज शाह जैसे बड़े नृपति भी हुए, पर ये उस केंद्रीय शासन की प्रतिष्ठा करने में समर्थ नहीं हुए जिसका सम्यक् आविर्भाव मुगल काल में हुआ। अनेक मुसलमान राजवंश बहुत कुछ स्वतंत्र होकर जौनपुर आदि में स्थापित हुए जो दिल्ली के मुख्य शासन से प्रायः असंपर्कित थे। इब्न बतूता नामक तत्कालीन इतिहासलेखक के अनुसार यह मानना पड़ता है कि इस काल के शासकों में देश की हितचिंता भी अवश्य थी और औषधालयों, यात्रागृहों आदि की स्थापना करके वे प्रजा का पर्याप्त हित साधन भी करते थे; परंतु उनकी अनियमित शासननीति के कारण देश में वह शांति और समृद्धि नहीं आ सकी थी जो पीछे से अकबर आदि के शासनकाल में आई। मुसलमानों के शासन का यह आदि काल था; अतः इसमें विशेष प्रौढ़ता और स्थिरता की आशा नहीं की जा सकती थी।

राजनीतिक अवस्था

इन मुसलमान शासकों के समय में विलासिता की वृद्धि हुई और मुसलमान तथा हिंदू दोनों ही नैतिक दृष्टि से अधःपतित होने लगे। मदिरा का प्रचार व्यापक रूप में हो रहा था और बड़ी बड़ी बुराइयाँ शीघ्रता से फैल रही थीं। यद्यपि बलबन तथा अलाउद्दीन आदि कुछ शासकों ने सुधार की चेष्टा की थी, परंतु वैभव की वृद्धि के कारण एक ओर तो मुसलमानों को उस ओर ध्यान देने का अवसर ही नहीं मिला और दूसरी ओर उस वृद्धि के साथ ही धार्मिक शिथिलता भी आई तथा समाज में अनेक प्रकार के अंध-

सामाजिक अवस्था

विश्वास घुस गए। अज्ञान का साम्राज्य था। हिंदू तो पराधीन होकर पहले ही गौरवहीन हो गए थे, अब विलास में फँसकर उन्हें पूरी पूरी आत्मविस्मृति हो गई। शास्त्रज्ञ पंडित तो मुसलमानों के संसर्ग में बहुत कम आए और उन्हें 'म्लेच्छ' कहकर बराबर अपनी उच्चता की ही घोषणा करते रहे, पर साधारण जनता विलासमग्न रहती हुई भी बहुत दिनों तक आत्मप्रवंचना न कर सकी। हिंदुओं को विजेता यवन नीची निगाह से देखते और उनका तिरस्कार करते थे। उन्हें धार्मिक स्वतंत्रता मिली थी, पर जज़िया जैसे कर देने पर। उच्च सरकारी पदों पर वे बहुत कम लिए जाते थे। धार्मिक विषयों का निर्णय मुसलमान काजी करते थे, जिससे हिंदुओं के साथ न्याय होने की बहुत कम आशा रहती थी। हिंदुओं का जान माल सब अनिश्चित था, उनके साथ यवन शासकों की बहुत कम सहानुभूति थी। ऐसी परिस्थिति में हिंदू कब तक आत्मवंचना करते और विलास की नींद में सोते रहते? परंतु वे कर ही क्या सकते थे। जीवन में उन्हें सहारा ही किसका था? वे शक्तिहीन और असंघटित थे। इस समय कोई ऐसा व्यक्ति नहीं था जो उनका उन्नयन करने में समर्थ होता। यदि उन्हें कुछ आशा रह गई थी तो वह केवल लोकपालक, असुरविनाशक, भक्तभयहारी ईश्वर की अमोघ शक्ति की थी।

फलतः एक महान् धार्मिक आंदोलन उठ खड़ा हुआ जिसका प्रभाव देश के कोने कोने में पड़ा। इस आंदोलन को इतिहास में वैष्णव आंदोलन कहा गया है। भगवान् के लोक-पालक रूप की विष्णु के रूप में प्रतिष्ठा करके उनकी भक्ति का मार्ग समस्त देश में प्रशस्त कर दिया गया। हिंदुओं को उस समय जिस निराशा और निरुत्साह ने घेर लिया था, उसकी प्रतिक्रिया प्रारंभ हो गई। नवीन धार्मिक चेतना से अनुप्राणित होकर हिंदू जाति एक बार फिर से सचेत हो उठी। यह ठीक है कि इस आंदोलन का बाह्य स्वरूप बहुत कुछ बदलता रहा, और विष्णु, राम, कृष्ण आदि विभिन्न उपास्य देवों की प्रतिष्ठा भी हुई; पर हम यह नहीं भूल सकते कि इस विभिन्नता में भी आंतरिक एकता है और वह एकता भगवान् की लोकरंजनी और लोकरक्षिणी सगुण शक्ति की आराधना के रूप में दिखाई देती है। मुसलमानों के इस देश में बस जाने के कारण जो स्थिति उत्पन्न हो गई थी यद्यपि उसका प्रभाव भी इस आंदोलन पर पड़ा, पर निस्संकोच भाव से इतना कहा जा सकता है कि अपने शुद्ध स्वरूप में, यह हिंदुओं के शास्त्रानुकूल था और सगुणोपासना के

मध्यकालीन धार्मिक उत्थान

उस सिद्धांत पर अवलंबित था जिसका आविर्भाव इस देश में मुसलमानों के आने से बहुत पहले हो चुका था। इस नवीन धार्मिक आंदोलन का अन्य क्षेत्रों पर जो प्रभाव पड़ा, वह तो पड़ा ही, साहित्यक्षेत्र भी उसके शुभ परिणाम-स्वरूप अनंत उर्वर हो उठा और अनेक प्रतिभाशाली कवियों की वाणी से असंख्य जनता अपूर्व शांति और आशा से लहलहा उठी। यहाँ पर हम इस आंदोलन का संक्षिप्त विवरण दे देना आवश्यक समझते हैं क्योंकि इसका हिंदी साहित्य के विकास से बहुत घनिष्ठ संबंध है।

हम पहले कह चुके हैं कि शंकर स्वामी ने बौद्ध धर्म को दबाकर भारतीय जन समाज में वैदिक धर्म की पुनःप्रतिष्ठा की थी। महात्मा शंकर ने श्रुतियों को ही प्रमाण मानकर अद्वैतवाद का प्रचार किया था और ब्रह्म सत्य तथा जगत् मिथ्या का सिद्धांत प्रतिपादित और प्रतिष्ठित किया था। "ब्रह्म से विभिन्न कोई सत्ता नहीं है, जीव भी ब्रह्म ही है और जगत् भी ब्रह्म ही है। माया ब्रह्म की ही शक्ति है जिसके कारण ब्रह्म और जीव का अभेद प्रतीत नहीं होता।" संक्षेप में शंकर का यही सिद्धांत है। व्यापक ब्रह्म की कल्पना से महात्मा शंकर ने पुनः उस आध्यात्मिक उदारता को समाज में प्रतिष्ठित करने की चेष्टा की जो इस देश की बड़ी पुरानी विशेषता थी किंतु जो समय के फेर से सांप्रदायिक संकीर्णता और मतमतांतरों की विविधता के अंधकार में लुप्त हो रही थी। इससे हिंदू जाति को एकता के सूत्र में ग्रथित होने तथा आत्म-शक्ति का संचय करने की प्रेरणा प्राप्त हुई। तुलसीदास आदि महात्माओं तथा कबीर आदि संतों ने समान रूप से इसका आधार ग्रहण कर अपनी काव्य-भूमि का निर्माण किया। सांसारिक तथा व्यावहारिक आदर्शों में इस मत के परिणाम-स्वरूप एक स्वच्छंद प्राकृतिक प्रवृत्ति का प्रकाश फैला क्योंकि इस मत ने अनेक बौद्धिक और कृत्रिम रूढ़िगत बंधनों को नष्ट कर दिया। इस संन्यास-मत के फल-स्वरूप उच्च कोटि के दार्शनिक कवियों और महात्माओं का आविर्भाव हुआ जिनसे हिंदी साहित्य की अपूर्व उन्नति हुई। एक प्रकार से महात्मा शंकर की ही प्रबल आध्यात्मिक प्रेरणा से मध्यकालीन धार्मिक आंदोलन की प्राण-प्रतिष्ठा हुई जिसका अमित प्रभाव हिंदी साहित्य पर पड़ा। शांकर मत का मायावाद, कुछ विद्वानों के विचार से, जनता में निराशा फैलाने तथा भाग्य को प्रधानता प्राप्त कराने में सहायक हुआ। परंतु इस विषय में हमारा बहुत कुछ मतभेद है।

शांकर अद्वैतवाद अपनी उपर्युक्त विशेषताओं के होते हुए भी भक्ति या उपासना का सुदृढ़ आलंबन न उपस्थित कर सका। उसके

लिये अधिक व्यक्तिगत तथा विशिष्ट सत्ता की आवश्यकता थी। हिंदू तो लोक-व्यवहार में सहायता पहुँचानेवाले, दुःखों का निवारण करनेवाले ऐसे भगवान् का सहारा चाहते थे जो उनकी रक्षा कर सकता और जिसके चरणों पर वे कृतज्ञता प्रदर्शित करते हुए नत हो सकते, अर्थात् उन्हें ईश्वर की उस सगुण सत्ता की आवश्यकता थी जो लोकरंजन और लोकपालन करती है। इन्हीं उद्देश्यों की पूर्ति करते हुए स्वामी रामानुजाचार्य ने अपने प्रसिद्ध विशिष्टाद्वैत सिद्धांत का प्रतिपादन किया। इस मत का प्रचार दक्षिण में बहुत अधिक और उत्तर में भी कम नहीं हुआ। इसमें निर्गुण ब्रह्म के बदले सगुण ईश्वर की कल्पना की गई थी और शुष्क ज्ञान के स्थान पर सरस भक्ति का स्रोत बहाया गया था।

अद्वैत का निर्गुण ब्रह्म जब विशिष्टाद्वैत में चित् अचित् विशिष्ट बनाया गया, तब उसमें असीम शील तथा सौंदर्य की कल्पना हो सकी और वह भक्तों की उपासना का आलंबन बन सका। रामानुज ने शंकर के मायावाद का विरोध किया और भक्ति के प्रवाह में माया की शक्ति बहुत कुछ क्षीण पड़ गई। यद्यपि रामानुज को भक्ति के इस मार्गनिरूपण में दक्षिण के कुछ संतों से बहुत सहायता मिली थी, पर वाद-विवाद के लिये उन्हें श्रुतियों का प्रमाण तथा गीता आदि के उद्धरणों का आश्रय लेना पड़ा। गीता में कृष्ण भगवान् के अनेक वाक्य "मामेकं शरणं व्रज", "अहम् त्वाम् सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः" आदि हैं जिनसे भक्ति का प्रतिपादन और समर्थन करने में रामानुजजी को सहायता मिली थी। यह सब होते हुए भी हमें यह न भूल जाना चाहिए कि सिद्धांत रूप से अद्वैतवाद और विशिष्टाद्वैत में विरोध नहीं है। दोनों ही एक ब्रह्म पर विश्वास रखते हैं और दोनों ही श्रुतियों को प्रमाण मानकर चलते हैं। विशिष्टाद्वैत में लगा हुआ अद्वैत शब्द ही दोनों की तात्त्विक एकता का सबसे बड़ा प्रमाण है। गोस्वामी तुलसीदास ने "ज्ञानहि भक्तिहि नहिं कछु भेदा" कहकर मानों उस भ्रम का निवारण सा कर दिया है जो तत्त्व को न समझनेवाले हृदयों में उत्पन्न हुआ करता है।

भक्ति का यह मार्ग क्रमशः प्रशस्त हो चला और निंबार्काचार्य, मध्वाचार्य तथा रामानंद आदि महात्माओं की वाणी से इसमें तत्कालीन हिंदू जनता की आस्था बढ़ती गई। निंबार्काचार्य का सिद्धांत वही था जो रामानुज का था, पर रामानुज के विष्णु और लक्ष्मी के स्थान पर इसमें कृष्ण और गोपी का सन्निवेश हुआ। प्रेम को व्यक्त आलंबन मिल जाने के कारण जनता इस ओर विशेष आकृष्ट हुई। मध्वाचार्य का द्वैत सिद्धांत भी लगभग इसी समय प्रतिष्ठित हुआ, जिसके कारण

शुष्क मायावाद को धक्का लगा और मोक्षप्राप्ति के लिये "हरि" रूप में विष्णु की प्रतिष्ठा हुई।

यद्यपि भक्ति के इस प्रवाह में लीन होकर हिंदू जनता अपनी लौकिक परिस्थिति को बहुत कुछ भूल गई, उसकी निराशा का बहुत कुछ परिहार हुआ, पर यह स्वीकार करना पड़ता है कि अभी तक भगवान् की लोकरक्षिणी सत्ता की प्रतिष्ठा नहीं हो सकी थी, केवल उसके लोकरंजक स्वरूप का साक्षात्कार हो सका था। रामानुज के "विष्णु" यद्यपि सगुण थे, पर वे भी लोकव्यवहार से तटस्थ थे। निंबार्काचार्य के गोपी-कृष्ण अवश्य जनता के बीच खेले कूदे थे, पर खेल कूद से जो मनोरंजन होता है, उससे संसार के जटिल जीवन में थोड़ी ही सहायता मिल सकती है। जो भगवान् दुष्टों का नाश कर सकें और साधुओं से सहानुभूति दिखा सकें, जो संसार में आकर संसार की परिस्थितियों में सफलतापूर्वक सहयोग कर सकें और स्वयं सफल हो सकें वही भगवान् उस समय हिंदू जाति के लिये कल्याणकर हो सकते थे। इसके अतिरिक्त एक बात और थी। रामानुज आदि आचार्यों ने अपने भक्ति-निरूपण में संस्कृत भाषा का ही सहारा लिया था। संस्कृत उस समय की साधारण बोल-चाल की भाषा तो थी ही नहीं, अज्ञान के कारण जनता उस समय उसे और भी समझ नहीं सकती थी। आचार्यों की शिक्षा जनता के कानों तक कठिनता से पहुँच सकती थी; और यदि किसी प्रकार पहुँचती भी थी तो अपरिचित भाषा में होने के कारण उसके साथ हार्दिक सामंजस्य नहीं हो सकता था। तीसरी बात यह थी कि इन आचार्यों की भक्ति द्विजातियों तक ही सीमित थी, शूद्र या अंत्यज उसके अधिकारी नहीं थे। घट घट में व्यापक भगवान् को भी इन आचार्यों ने अस्पृश्य जातियों से अलग रखने का उपक्रम किया था। भक्ति-मार्ग में इस प्रकार का भेद कदापि न होना चाहिए था, परंतु आचार्यों को तत्कालीन समाज-व्यवस्था से एकदम छूट निकलने का अवसर नहीं मिला। वे भक्ति को लोकव्यापक न कर सके, यद्यपि तात्त्विक दृष्टि से जीव मात्र को भक्ति का अधिकारी मानते थे। इन परिस्थितियों के कारण भक्ति का व्यापक प्रसार होने में बाधा उपस्थित हो रही थी। स्वामी रामानंद के प्रभाव से ये बाधाएँ दूर हुईं और लोक में लोकरक्षक "राम" की प्रतिष्ठा हुई।

रामानंद की धार्मिक उदारता के परिणाम-स्वरूप भक्ति को जो व्यापक स्वरूप मिला, उसके साथ ही "सीताराम" की लोकमंगलकारिणी मूर्ति की उपासना ने मिलकर मणि-कांचन संयोग उपस्थित कर दिया।

इस नवीन भक्तिमार्ग का प्रशस्त पथ पाकर तत्कालीन संकीर्णता बहुत कुछ दूर हुई। हिंदी साहित्य को एक अभूतपूर्व विकास का अवसर मिला और रामभक्त कवियों की एक परंपरा ही चल पड़ी। इस परंपरा का विस्तृत विवरण हम आगे चलकर देंगे। यहाँ इतना ही कह देना पर्याप्त होगा कि हिंदी साहित्य के सर्वश्रेष्ठ महाकवि तुलसीदास और भक्तवर नाभादास जैसे महात्माओं ने रामभक्ति की शरण ली और साहित्य को भक्ति के प्रवाह से आप्लावित तथा जनता को राम के मंगलमय स्वरूप से दृढ और मुग्ध बना दिया।

वैष्णवधर्म के तत्कालीन विकास में महाप्रभु चैतन्य तथा वल्लभाचार्य का नाम विशेष रीति से उल्लेखनीय है। चैतन्य का उपदेश क्षेत्र बंगभूमि था और उनका प्रभाव भी बंगाल में ही अधिक पड़ा। चैतन्य की भक्ति प्रेम और मोदमयी है। कर्म की जटिलता से वह दूर ही रही।

वल्लभाचार्य तैलंग ब्राह्मण थे। उनका जन्मकाल सं० १५३६ बतलाया जाता है। विद्याध्ययन और शास्त्रान्वेषण के उपरांत वे मथुरा, वृंदावन आदि कृष्णतीर्थों में घूमे और अंत में काशी में आकर उन्होंने अनेक पुस्तकें लिखीं। उनकी उपासना कृष्ण की उपासना है और वह भी माधुर्य भाव की। सिद्धांत में वे शुद्धाद्वैतवादी हैं। ब्रह्म और जीव एक ही हैं और जड जगत् भी उससे भिन्न नहीं है। माया के कारण जो विभेद जान पडता है, उसका निराकरण भक्ति द्वारा ही हो सकता है। वल्लभाचार्य ने व्रत उपवास आदि कष्टसाध्य कर्म्मों का निषेध किया और पवित्र प्रेम भाव से उपासना करने की विधि बतलाई। यद्यपि प्रारंभ में इनके पुत्र विट्ठलनाथ के प्रयत्न से प्रसिद्ध अष्टछाप के भक्त कवियों की स्थापना हुई, पर वल्लभाचार्य की इस उपासनापद्धति से शृंगारी कवियों को भी नवीन प्रेरणा मिली और हिंदी साहित्य में शृंगार-परंपरा चल पडी। वल्लभाचार्य के मतावलंबी भी गुजरात और राजपूताने के धनी व्यापारी आदि हुए जिन्हें आध्यात्मिक प्रेम की उतनी आवश्यकता न थी जितनी लौकिक विलास की। इस प्रकार हम देखते हैं कि वल्लभाचार्य की उपासनापद्धति के परिणाम स्वरूप विलास की ओर अधिक प्रवृत्ति हुई जिसको मुगल सम्राटों की तत्कालीन सुख-समृद्धि ने सहायता देकर दूना चौगुना कर दिया। उच्चातिउच्च धार्मिक सिद्धांतों का कैसा दुरुपयोग हो सकता है, इसका अच्छा परिचय वल्लभाचार्य की उपासनाविधि के दुरुपयोग से मिल सकता है।

ऊपर जिन भक्ति-पद्धतियों का विवरण दिया गया है, वे सब भारतीय पद्धतियाँ हैं। पर साथ ही हम यह अस्वीकार नहीं कर सकते

कि उस समय तक इस देश में आकर बसे हुए मुसलमानों का कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा था। यद्यपि मुसलमान शास्त्राधिकारी लोग हिंदुओं से प्रायः द्वेष ही करते रहे, परंतु साधारण जनता में पारस्परिक सहानुभूति के चिह्न दिखाई देने लगे थे। हिंदू मुसलमानों में परस्पर भावों और विचारों का आदान प्रदान प्रारंभ हो गया था। मुसलमानों के एकेश्वरवाद और उदार भ्रातृभाव से हिंदू बहुत कुछ प्रभावित हुए और उपासना में अंत्यजों को भी स्थान मिला। अनेक देवी देवताओं की ओर से भी बहुत कुछ ध्यान हटा। साथ ही इन्हीं रामानंद के प्रभाव के कारण तथा भक्तिमार्ग के आचार्यों की अनुदारता के कारण अस्पृश्य जातियों को जो परमेश्वर की आराधना से वंचित किया गया, उसका प्रतिफल जो कुछ होना चाहिए था, वही हुआ। साधुओं और संतों का एक नया ही दल देश में दिखाई पड़ा जिनकी वाणी में सरलता और भावों में उदारता की अत्यधिक मात्रा थी। इन्होंने अंत्यज जातियों में अपूर्व आशा और उत्साह की तरंगे लहराईं। हिंदू और मुसलमान दोनों ही उनके उपदेशों से प्रभावान्वित हुए, क्योंकि उनके उपदेश मनुष्य-प्रकृति की करुण और निष्कपट वृत्तियों पर अवलंबित थे। साथ ही उपासना के लिये इन संतों ने निर्गुण ब्रह्म का आधार लिया था जिसके कारण जातीय, सांस्कृतिक अथवा धार्मिक संघर्ष या मतभेद की संभावना भी बहुत कम रह गई थी। इन संतों ने योग आदि की क्रियाओं का भी अपने संप्रदाय में प्रचार किया परंतु सामान्य जनता ने इनकी सरल शिक्षा और उदारवृत्ति को ही अधिक अंशों में ग्रहण किया। उत्तर भारत में इसका आरंभ रामानंदजी के शिष्य कबीरदास से हुआ और उनका संप्रदाय इतना बढ़ा कि उसका क्रम अब तक चला चलता है। इस संप्रदाय ने देशभाषा को अपने उपदेशों के प्रचार का माध्यम बनाया, और इस कारण उन्हें बहुत कुछ सफलता भी प्राप्त हुई। इसके अतिरिक्त भारतीय अद्वैतवाद और सूफी प्रेमवाद के सम्मिश्रण से हिंदी में जायसी, कुतबन आदि रहस्यवादी कवियों की परंपरा चली।

उत्तर मध्य काल

जिस समय उपासना के बहुत से संप्रदाय बन रहे थे और हिंदुओं तथा मुसलमानों का पारस्परिक हेल-मेल बढ़ रहा था, उस समय मुगलों का सुख समृद्धिपूर्ण साम्राज्य था। परंतु थोड़े समय के बाद अवस्था में परिवर्तन हुआ। संवत् १७१६ में औरंगजेब मुगल-साम्राज्य का उत्तराधिकारी हुआ। उसने राज्याधिकार पाते ही नृशंस तथा धर्मांध शासक की नीति घोषित कर

राजनीतिक अवस्था

दी। अकबर आदि की उदार नीति का अंत हो गया। जज़िया कर फिर से जारी किया गया। तीर्थस्थानों में अनेक सुंदर मंदिर तोड़कर मस्जिदें बनने लगीं। साम्राज्य के दृढ़ स्तंभ राजपूतों का अविश्वास और अनादर होने लगा, परिणाम-स्वरूप देश में अशांति व्याप्त हो गई और नई हलचल आरंभ हो गई। सबसे पहले महाराष्ट्र शक्ति का उदय हुआ। औरंगजेब को बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ा। संवत् १७६४ में उसकी मृत्यु के उपरांत तो देहली का केंद्रीय शासन और भी डाँवाँडोल हो गया। पंजाब में सिक्ख शक्ति का आतंक छा गया। राजपूतों ने मुगलों का साथ देना छोड़ दिया। रुहेलखंड में रुहेलों का स्वतंत्र राज्य स्थापित हुआ। अवध और बंगाल के सूबेदारों ने देहली का आधिपत्य अस्वीकृत कर नवाब की उपाधि धारण की और कर देना बंद किया। आगरे के निकट के जाट भी स्वतत्र हो गए। मराठों के पैर तो पहले ही जम चुके थे; अब वे आत्मविस्तार करने में लगे। इसी बीच में प्रसिद्ध आक्रमणकारी नादिरशाह ने आकर दिल्ली को रक्त-रंजित कर दिया और वहाँ का मयूरासन लेकर सारे देश में आतंक फैलाता हुआ वह लौट गया। इस अवसर से लाभ उठाकर मराठे लाहौर तक बढ़ गए और समस्त उत्तरापथ उनके अधिकार में हो गया। देश में एक बार फिर से हिंदू राज्य की प्रतिष्ठा होने लगी और इस आशा से हिंदुओं में एक जागर्ति सी दिखाई पड़ने लगी।

परंतु भारत के भाल में विधि के लिखे अंक कुछ दूसरे ही थे। विलायत से सात समुद्र पार कर अँगरेज जाति भारत में व्यापार करने आई। पहले दक्षिण में उसका व्यापार हो रहा था, पर अशांति के उस युग में उसे अधिकार-प्राप्ति की भी इच्छा हुई। भारतीय युद्धपद्धति से उनकी युद्धपद्धति बहुत अधिक उन्नत थी और उनमें नवीन उत्साह की तरंगें भी उद्वेलित हो रही थीं। पहले दक्षिण में ही उन्होंने व्यापार छोड़ तलवार ग्रहण की थी। बंगाल में सिराजुद्दौला की निर्बलता से उन्होंने पूरा पूरा लाभ उठाया।। सं० १८१४ में पलासी के प्रसिद्ध युद्ध में सिराजुद्दौला को हराकर क्लाइव ने भारत में बृटिश साम्राज्य की नींव डाली। सं० १८२१ में बक्सर के युद्ध में बंगाल और अवध के नवाबों तथा मुगल सम्राट् शाहआलम की सम्मिलित वाहिनी को परास्त कर विजयी अँगरेजों ने उत्तर भारत के एक विशाल खंड पर अपना स्वत्व जमाना चाहा; पर मराठों के प्रयत्न से शाहआलम फिर से दिल्ली के सिंहासन पर आसीन हुआ। मराठों की चौथ इस समय प्रायः भारत-व्यापी हो रही थी। इधर हेस्टिंग्स ने बंगाल में अँगरेजी शासन दृढ़

किया और अवध को अपने पंजे में किया। महादजी के हटने से मराठों की शक्ति कम होने लगी। लार्ड वेलेज़ली के समय में मराठे उत्तर भारत में शक्तिहीन हो गए। पर इतने में ही सिख शक्ति वीर रणजीतसिंह के नेतृत्व में संघटित होकर मैदान में आई। काश्मीर और पेशावर तक के प्रांत सिखों के थे। परंतु रणजीतसिंह की मृत्यु (१८९६) के उपरांत सिख साम्राज्य भी स्थिर न रह सका। संवत् १९०५ के सिख-युद्ध में अँगरेज़ों की विजय हुई और सिख साम्राज्य का अंत हो गया। इस प्रकार ब्रह्मपुत्र और सिंध नदियों के बीच का विशाल उत्तर भारत अँगरेज़ों का हो गया।

सामाजिक अवस्था

राजनीतिक उथल-पुथल के इस युग में जनता की अवस्था कितनी भयानक थी, इतिहासकार इसके संबंध में चुप नहीं हैं। बंगाल की दोहरी शासनप्रणाली (Double government) के कारण जो दुर्दशा थी, वह तो थी ही, मराठों के उत्पात और अँगरेज़ों की व्यापारिक नीति से उसकी और भी शोचनीय स्थिति हो गई। नए बंदोबस्त से जमींदारों को धक्का लगा और किसानों पर कड़ाई से कर लेने की प्रथा चल निकली। इस तरह व्यापार और कृषि के चौपट हो जाने से जनता की आर्थिक दुरवस्था भीषण हो गई और बेकारी के कारण ठगी का आश्रय लिया जाने लगा। गाँवों के प्राचीन संघटन में भी बाधा डाली गई और पंचायतों की जगह ऐसी अदालतों का प्रचार हुआ जिनकी दंडविधि से कोई परिचित ही न था। अँगरेज जजों को भारतीय रीति-नीति का पता न था और दूसरी ओर हिंदुस्तानियों को अपने नए शासकों के कानूनों का ज्ञान न था। इसका फल यह हुआ कि वकीलों की एक नई श्रेणी निकल पड़ी। कार्नवालिस के समय से हिंदुस्तानियों को बड़ी सर्कारी नौकरियाँ न दी जाने लगीं क्योंकि उसका विश्वास था कि हिंदुस्तानी झूठे और घूसखोर होते हैं। संवत् १८९० से यह नीति कुछ कुछ बदली। शासन और न्याय का काम बहुत बढ़ जाने के कारण हिंदुस्तानियों की सहायता लेना अनिवार्य हो गया। तभी से देश के शासन का कुछ अंश यहाँ के निवासियों को भी दिया जाने लगा।

धार्मिक अवस्था

हिंदुओं और मुसलमानों को एक बनाने के लिये सिख धर्म का प्रादुर्भाव हुआ था परंतु मुसलमान शासकों की संकीर्ण नीति के कारण मुसलमान सिखों के घोर विरोधी बन बैठे। अँगरेज़ों के साथ साथ ईसाई मत का भी प्रचार हुआ। यद्यपि प्रकट रीति से सरकार की ओर से भारतीयों के धार्मिक

विचारों पर आघात नहीं किए गए, पर विजेता की शक्ति का प्रभाव विजितों पर कैसे न पड़ता। वेलेजली के समय में सात देशी भाषाओं में बाइबिल का अनुवाद निकाला गया। सं० १८७० में लाइसेंस लेकर प्रचारकार्य के लिये पादरियों को आने की अनुमति मिल गई। उसी समय कलकत्ते में एक विशप और चार पादरी नियुक्त हुए। पादरियों ने पुस्तकें प्रकाशित करके तथा उपदेशों आदि के द्वारा प्रचार-कार्य करके और साथ ही प्रलोभन भी देकर ईसाई मत को फैलाने की चेष्टा की। लार्ड बेंटिंक ने सतीप्रथा बंद कर दी। धीरे धीरे अँगरेजी शिक्षा का प्रचार होने लगा। बेंटिक ने अँगरेजी का प्रचार सरकारी नीति का एक अंग बना दिया। मेकाले ने कहा कि अँगरेजी शिक्षा के प्रचार से देश में एक भी मूर्तिपूजक बाकी न रह जायगा। संस्कृत और फारसी का निरादर किया जाने लगा। उर्दू अदालती भाषा बन गई और हिंदी को राजाश्रय न मिल सका। अँगरेजों के साथ साथ इस देश में पाश्चात्य भावों का भी प्रवेश हुआ। जनता पर अँगरेजों की रहन-सहन और आचार-विचार का भी बहुत कुछ प्रभाव पड़ा। नए आवेश में देश की बहुत सी अच्छी बातें भी बुरी और असभ्यतापूर्ण मानी जाने लगीं। इस प्रकार देश पर अँगरेजों की मानसिक विजय भी चलती रही जिसने राजनीतिक विजय को खूब दृढ़ बना दिया।

उत्तर काल

राजनीतिक स्थिति

देशी राज्यों के प्रति अँगरेजों की नीति और ईसाई मत के प्रचार का फल यह हुआ कि सं० १९१४ में भारतीयों की ओर से प्रबल विद्रोह की आग धधक उठी। परंतु संघटन के अभाव और शक्ति की विशृंखलता के कारण विद्रोह सफल न हो सका। परिणाम-स्वरूप सं० १९१५ से भारत ब्रिटिश साम्राज्य में मिला लिया गया और कंपनी का राज्य उठ गया। उत्तरी और दक्षिणी भारत का भेद मिट गया और सारे देश में एक प्रकार की शासननीति काम में लाई जाने लगी। महारानी विक्टोरिया की प्रसिद्ध घोषणा से सरकारी नौकरियों में जाति-भेद उठा देने, धार्मिक स्वतंत्रता की रक्षा करने और देशी नरेशों के अधिकार बनाए रखने का वचन दिया गया। अँगरेजी शिक्षा के लिये यूनीवर्सिटियाँ स्थापित की गई जिनसे राजनीतिक भावों की जागर्ति हुई और थोड़ा बहुत शिक्षा प्रचार भी हुआ, पर अधिकतर अँगरेजी रीति-नीति की स्थापना को ही सहायता मिली।

सामाजिक अव्यवस्था के उस युग में बंगाल के प्रसिद्ध राजा राममोहन राय ने जो कार्य किया, वह कभी भुलाया नहीं जा सकता। अविद्यांधकार में डूबे हुए देश को ज्ञानालोक प्रदान करने का बहुत बड़ा श्रेय उनको है। उनके कुछ समय उपरांत स्वामी दयानंद के आविर्भाव से उत्तर भारत में एक नवीन जातीय चेतना का अभ्युदय हुआ और ईसाइयों तथा मुसलमानों के धर्मप्रचार को बहुत कुछ धक्का पहुँचा। उस समय साधारण हिंदू जनता का यही विश्वास हो रहा था कि हमारी रीति-नीति, हमारी सभ्यता और संस्कृति तथा हमारा धर्म, सब मुसलमानों और ईसाइयों के सामने तुच्छ हैं। स्वामी दयानंद ने इस भ्रांत धारणा का समूल विनाश कर दिया और हिंदू जनता को अपने अमर भांडार उन वेदों की ओर आकर्षित किया जो संसार के उच्चतम ज्ञान के निदर्शन हैं और इस देश के अतीत गौरव के अमिट स्मृति-चिह्न हैं। स्वामी दयानंद के उद्योग से हिंदी भाषा का प्रचार थोड़ा-बहुत बढ़ा और संस्कृत साहित्य के पुनरवलोकन तथा अनुशीलन की प्रवृत्ति भी बढ़ी।

सामाजिक अवस्था

समाचारपत्रों के प्रचार से राजनीतिक सामाजिक आदि आंदोलनों से जनता परिचित होने लगी और उसका इधर मनोयोग भी हुआ। इसी समय भारत की राजनीतिक आवश्यकताएँ प्रकट करने के लिये नेशनल कांग्रेस की स्थापना हुई, जिसमें तत्कालीन बड़े बड़े लोगों ने सहयोग दिया। लार्ड रिपन के समय से ही स्थानीय शासन में भारतीयों को सम्मिलित किया जाने लगा था। केंद्रीय तथा प्रांतीय व्यवस्थापिका सभाओं में हिंदुस्तानी सदस्य चुने जाने लगे। रेल, तार, डाक आदि से भी सुविधाएँ बढ़ीं और समस्त भारत में एक राष्ट्रीयता का भाव उदय हुआ। संवत् १९६२ में बंगविच्छेद के प्रश्न पर यह भाव स्पष्ट देख पड़ा था। राजनीतिक आंदोलन की उन्नति देखकर लार्ड मार्ले को कुछ सुधारों की व्यवस्था करनी पड़ी, परंतु उतने सुधार से उन्नतिशील राजनीतिक दल को संतोष नहीं हुआ। सं० १९७१ में महायुद्ध के प्रारंभ हो जाने पर समस्या और भी जटिल हो गई, परंतु तत्कालीन अँगरेज राजनीतिज्ञों ने बड़ी बड़ी आशाएँ दिलाकर भारत की सहानुभूति प्राप्त की और भारत ने धन-जन से महायुद्ध में अँगरेजों की पूरी सहायता की। परंतु युद्ध समाप्त हो जाने पर भारत की आशाएँ पूरी नहीं हुईं वरन् पंजाब के प्रसिद्ध हत्याकांड जैसे अत्याचार हुए और पाशविक शक्ति की सहायता से भारतीयों की आकांक्षाओं का दमन किया गया। फलतः तीव्र प्रतिकार का आरंभ हुआ। इस

प्रतिकार को महात्मा गांधी के प्रसिद्ध असहयोग आंदोलन ने अहिंसात्मक बना रखा। संसार के इतिहास में इस प्रकार के अहिंसात्मक अस्त्रों का प्रयोग प्रायः नवीन है। देश में चारों ओर उद्वेगपूर्ण जागर्ति देख पड़ती है, पर भविष्य अब तक अंधकार की गोद में है।

सर्वतोमुखी प्रगति

राजनीतिक क्षेत्र की नवीन जागर्ति ने इस समय जो चकाचौंध सी उत्पन्न कर दी है, उसके कारण हम राष्ट्र के अन्य उद्योगों को कम देख पाते हैं, पर हमको यह स्मरण रखना चाहिए कि राजनीति तो राष्ट्र की सर्वतोमुखी उन्नति का एक अंग मात्र है, वही सब कुछ नहीं है। राष्ट्र की चेतना अकेली राजनीति की ओर झुककर बहुत शुभ परिणाम नहीं उपस्थित कर सकती। उसका विकास प्रत्येक क्षेत्र में होना चाहिए। हमको यह देखकर बड़ी प्रसन्नता होती है कि आधुनिक भारतीय मनोवृत्ति यद्यपि राजनीति की ओर विशेष उन्मुख है, पर अन्य दिशाओं में भी प्रशंसनीय और संतोषप्रद उद्योग हो रहे हैं। हमारा विशेष संबंध साहित्य से है और हम यह स्वीकार करते हुए बड़े प्रसन्न हो रहे हैं कि इस समय हिंदी साहित्य के अनेक अंगों की बड़ी सुंदर पुष्टि हो रही है। हिंदी को राष्ट्रीय भाषा कहलाने का गौरव प्राप्त हुआ है, और महात्मा गांधी तथा अन्य बड़े बड़े नेताओं के प्रयत्न से इसका देशव्यापी प्रचार हो रहा है। यदि हिंदी साहित्य के सभी अंगों का विकास इसी प्रकार होता रहा और यदि इसकी व्यापकता और सौष्ठव को मानकर देश ने इसको राष्ट्र-भाषा के रूप में स्वीकार कर लिया, तो वह दिन दूर नहीं है जब हिंदी भाषा का साहित्य भी इस देश में व्यापक होकर राष्ट्र के प्रगतिशील भावों और विचारों का अभिव्यंजन कर सकेगा और संसार के अन्य श्रेष्ठ और बड़े साहित्यों के समकक्ष होकर मानव समाज के लिये कल्याणकर और आदरणीय सिद्ध होगा।

तीसरा अध्याय

ललित कलाओं की स्थिति

साहित्य के इतिहास की इस साधारण आकार की पुस्तक में वास्तुकला, चित्रकला तथा संगीतकला आदि की स्थिति का परिचय देना उचित है या नहीं, अथवा उपयोगी है या नहीं इन बातों में मतभेद हो सकता है। हिंदी साहित्य के जो इतिहास-ग्रंथ इस समय तक निकले हैं, उनमें इन ललित कलाओं का विवरण नहीं दिया गया है। अँगरेजी की साहित्यिक इतिहास की पुस्तकों में भी इस ओर कम ध्यान दिया गया है। संभव है कि उसकी आवश्यकता भी न समझी गई हो। परंतु हमारी सम्मति में साहित्यिक इतिहास की पुस्तकों में उपर्युक्त ललित कलाओं की समसामयिक प्रगति का प्रदर्शन उचित ही नहीं, उपयोगी भी है। साहित्य स्वयं एक ललित कला है; अतः अन्य ललित कलाओं के साथ उसका घनिष्ठ संबंध प्रत्यक्ष है। साथ ही राष्ट्र के विकास के इतिहास में कलाओं के समन्वित विकास का भी इतिहास विशेष रोचक होता है। हम तो विविध कलाओं की कल्पना एक परिवार के रूप में ही करते हैं, यद्यपि उस परिवार के विभिन्न व्यक्तियों की अलग अलग विशेषताएँ होती हैं। जब दो राष्ट्रों तथा दो विभिन्न संस्कृतियों का संघर्ष होता है, तब तो ललित कलाओं की स्थिति में बड़े ही मार्मिक परिवर्तन होते हैं, जिनका ठीक ठीक स्वरूप हम तभी समझ सकते हैं जब उनका एकत्र विचार करें। इसके अतिरिक्त सबसे मुख्य बात यह है कि सभी कलाओं की उत्पत्ति मानव-मस्तिष्क से होती है; अतः जब हम किसी विशेष देश के किसी विशेष काल की जनता की चित्त-वृत्तियों का पता लगाना चाहेंगे, तब हमें उस देश तथा उस काल के साहित्य का ही अनुसंधान न करना पड़ेगा अपितु अन्य कालाओं की भी खोज करनी पड़ेगी। केवल साहित्य के इतिहास से जनता की चित्त-वृत्ति का जो अन्वेषण किया जाता है, वह एकांगी ही नहीं, भ्रामक भी हो सकता है।

ललित कलाओं का स्थान

साहित्य और कलाओं का सम्मिलित अध्ययन करने में एक बड़ी बाधा उन आलंकारिकों और साहित्यिक आचार्यों के द्वारा उपस्थित की जाती है जिनके मत से रस या अलौकिक आनंद का अनुभव साहित्य के

ही क्षेत्र में होता है और ललित कलाएँ तो केवल सजधज और वाह्य सौंदर्य से चित्त को आकर्षित करती हैं। उनका कथन है कि साहित्य ही भाव-सृष्टि है, कलाएँ तो केवल कारीगरी या चमत्कार का प्रदर्शन करती हैं। संभव है कलाओं की हीनता की यह व्याख्या उस समय के लिये उपयुक्त हो जब वे वास्तविक जीवन-सौंदर्य की धारा से अलग होकर रूढ़ि-बद्ध और अभ्यास-साध्य ही बन गई हों परंतु यह सर्वदा के लिये उपयुक्त नहीं हो सकती। और ऐसे समय तो साहित्य के इतिहास में भी आए हैं जब वह भाव-प्रधान न रहकर केवल आलंकारिक या चमत्कार-युक्त वाणी-विलास ही बन गया है किंतु इस कारण साहित्य का वास्तविक और उच्च लक्ष्य, भाव या रस का उद्रेक, नष्ट नहीं होता। यही बात कलाओं के संबंध में भी कही जा सकती है। काव्यकार जिन भावनाओं से प्रेरित होकर शब्दों द्वारा अपनी अभिव्यक्ति करता है, चित्रकार या मूर्तिकार शब्दों का आश्रय न लेकर कूची, कागज, करनी, प्रस्तर-खंड आदि अन्य उपकरणों से उन्हीं भावों को प्रकट करता है। दोनों में कोई तात्त्विक भेद नहीं है, केवल शैली या साधनों का भेद है।

उत्पन्न होते ही मनुष्य अपने चारों ओर प्रकृति का जो प्रसार देखता है, दार्शनिक उसे ब्रह्म की व्यक्त कला बतलाते हैं। ब्रह्म की यह कला शाश्वत है। इस शाश्वत कला पर मनुष्य चिर काल से मुग्ध होता तथा इसके साथ तादात्म्य का अनुभव करता चला आता है। प्रकृति के नाना रूपों के साथ मानव हृदय के नाना भावों का समन्वय आज से नहीं, सृष्टि के आदि से होता आ रहा है। दार्शनिक कहते हैं कि ब्रह्म की यह अभिव्यक्ति उसकी कल्पना का परिणाम है, परंतु मनुष्य-हृदय ब्रह्म की इस अभिव्यक्ति में विश्व-हृदय की भी झलक देखता है। इस प्रकार ब्रह्म की व्यक्त कला अनंत अभिव्यक्ति तथा अनंत विकास के रूप में समझी जाती है, जिसके मूल में ब्रह्म की अनंत कल्पना तथा उसका अनंत हृदय समाया हुआ है। मनुष्य का दृश्य-जगत् से अविच्छिन्न संबंध है। वह चिर काल से प्रकृति के अनंत सौंदर्य पर मुग्ध होता आया है। प्रकृति के नाना रूप मनुष्य के नाना भावों को जागरित तथा उत्तेजित करते आए हैं।

सभ्य मानव समाज जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अभिव्यक्त तथा विकास का प्रार्थी है। इसकी उसे स्वाभाविक प्रेरणा होती है। इस प्रेरणा को कार्यरूप में परिणत करने में सृष्टि के नाना उपकरण उसके सहायक होते हैं। उसकी कल्पना तथा उसके हृदय पर जगत् के नाना रूप जो प्रभाव डालते हैं, वह उन्हें अनेक रूपों में अभिव्यंजित करता है।

कभी मूर्ति बनाकर, कभी चित्र खींचकर, कभी कुछ गाकर तथा कभी कविता रचकर वह अपनी मनोगत भावनाओं तथा विचारों को व्यक्त करता है। इस प्रकार उन ललित कलाओं की सृष्टि होती है, जिनका इस अध्याय में संक्षिप्त विवरण दिया जायगा।

यद्यपि हमारे देश में प्राचीन काल से ही कलाओं की विशेष उन्नति होती आई है, पर संभवतः एक पारिभाषिक शब्द के रूप में "कला" का विवेचन यहाँ नहीं किया गया। हम उपनिषदों की अकल कला की बात नहीं कहते। साधारणतः कला और शिल्प आदि शब्द समवाची समझे जाते थे और अनेक मतों के अनुसार कलाओं की संख्या भी विभिन्न थी। सामान्य रूप से ग्रंथों में चौसठ कलाओं का उल्लेख मिलता है। इनमें कुछ उपयोगी तथा कुछ ललित कलाएँ भी सम्मिलित हैं, यद्यपि उपयोगी और ललित कलाओं का यह वर्गीकरण पाश्चात्य है। इस देश में अधिकतर स्त्रियों की कला तथा पुरुषों की कला आदि के स्थूल विभेद ही माने जाते थे। "साहित्य-संगीत-कला-विहीनः" वाले प्रसिद्ध पद्य में साहित्य तथा संगीत कला नहीं माने गए, मानो कला इनसे कुछ विभिन्न हो। आधुनिक विवेचन के अनुसार साहित्य तथा संगीत प्रसिद्ध ललित कलाएँ हैं। आगे के पृष्ठों में हम जिन ललित कलाओं का विवरण देना चाहते हैं, पाश्चात्य विश्लेषण के अनुसार उनका नामकरण वास्तुकला, मूर्तिकला, चित्रकला तथा संगीतकला हो सकता है। इन्हीं के साथ साहित्यकला की भी गणना कर लेने से ललित कलाओं की पाँच शाखाएँ हो जाती हैं। हिंदी साहित्य के विकास का इतिहास उपस्थित करना तो इस पुस्तक का प्रतिपाद्य है ही, साथ ही तत्कालीन ललित कलाओं की प्रगति का विवरण भी प्रसंगवश इसमें दिया गया है। परंतु प्रगति के विवरण के पहले इनके स्वरूप से परिचित होना भी आवश्यक है।

कलाओं का वर्गीकरण

ललित कला के अंतर्गत वास्तुकला, मूर्तिकला, चित्रकला, संगीत कला और काव्यकला—ये पाँच कलाभेद हैं। इन ललित कलाओं से मनुष्य के अलौकिक आनंद की सिद्धि होती है। ललित कलाएँ दो मुख्य भागों में विभक्त की जा सकती हैं। एक ऐसी हैं जो मानसिक तृप्ति का साधन चक्षुरिंद्रिय के सन्निकर्ष से करती हैं और दूसरी श्रवणेंद्रिय के सन्निकर्ष से। वास्तु (नगर मंदिर आदि का निर्माण), मूर्ति (तक्षणकला) और चित्र-कलाएँ तो दर्शन से तृप्ति का विधान करनेवाली हैं और संगीत तथा काव्य श्रवण से। यह ठीक है कि रूपकाभिनय अर्थात् दृश्य काव्य आँखों का ही

ललित कलाओं का स्वरूप

विषय है; पर यहाँ हमारा आशय केवल उसके साहित्यिक अंग से ही है। वास्तु, मूर्ति तथा चित्रकलाओं में मूर्त आधार प्रत्यक्ष रहता है, परंतु संगीत में उसका स्वरूप नाद के रूप में ही व्यक्त होता है; और काव्य-कला में तो मूर्त आधार प्रायः होता ही नहीं। जिस कला में मूर्त आधार जितना ही कम होगा, वह उतनी ही उच्च कोटि की समझी जायगी। इसी भाव के अनुसार हम काव्यकला को सबसे ऊँचा स्थान देते हैं; क्योंकि उसमें मूर्त आधार का एक प्रकार से पूर्ण अभाव रहता है। कुछ विद्वानों का मत है कि संगीत कला का स्थान सबसे ऊँचा है, क्योंकि काव्य में तो शब्दों का आधार भी है पर संगीत में केवल नाद है। यह विषय विवाद-ग्रस्त है। हमारे प्रयोजन के लिये तो यह मान लेना आवश्यक है कि संगीत और काव्य दोनों उच्चतम कलाएँ हैं और दोनों का परस्पर बड़ा घनिष्ठ संबंध है। उसी के अनुसार हम वास्तुकला को सबसे नीचा स्थान देते हैं, क्योंकि मूर्त आधार की विशेषता के बिना उसका अस्तित्व ही संभव नहीं। सच पूछिए तो इस आधार के सुचारु रूप से सजाने में ही वास्तुकला को ललित कला की पदवी प्राप्त होती है। इसके अनंतर दूसरा स्थान मूर्तिकला का है। इसका भी आधार मूर्त ही होता है, परंतु मूर्तिकार किसी प्रस्तर-खंड या धातु-खंड को ऐसा रूप दे देता है जो भूत वर्ग में उस आधार से सर्वथा भिन्न होता है। वह उस प्रस्तर-खंड या धातु-खंड को निर्जीव से सजीव बनाने का उपक्रम करता है और उसके प्रयास से उसकी रचना में बहुत कुछ सजीवता की अभिव्यक्ति हो जाती है। मूर्तिकला के अनंतर तीसरा स्थान चित्र-कला का है। उसका भी आधार मूर्त ही होता है। प्रत्येक मूर्त अर्थात् साकार पदार्थ में लंबाई, चौड़ाई और मोटाई होती है। वास्तुकार और मूर्तिकार को अपना कौशल दिखाने के लिये मूर्त आधार के पूर्वोक्त तीनों गुणों का आश्रय लेना पड़ता है, परंतु चित्रकार को अपने चित्रपट के लिये लंबाई और चौड़ाई का ही आधार लेना पड़ता है, मोटाई तो उसके आधार में नाममात्र को ही होती है, और वह भी एकाकार; चित्र-कार उसे घटा बढ़ा नहीं सकता। तात्पर्य यह कि ज्यों ज्यों हम ललित कलाओं में उत्तरोत्तर उत्तमता की ओर बढ़ते हैं, त्यों त्यों मूर्त आधार का परित्याग होता जाता है। चित्रकार अपने चित्रपट पर किसी मूर्त पदार्थ का वह प्रतिबिंब अंकित कर देता है, जिसमें बिंब के समान ही रूप रंग आदि देख पड़ते हैं।

अब संगीत के विषय में विचार कीजिए। नाद अर्थात् स्वरों का आरोह या अवरोह (उतार चढ़ाव) ही संगीत का आधार होता

है। उसे सुचारु रूप से व्यवस्थित करने से भिन्न रसों और भावों का आविर्भाव होता है। अंतिम अर्थात् सर्वोच्च स्थान काव्यकला का है। उसमें मूर्त आधार की आवश्यकता ही नहीं होती। उसका प्रादुर्भाव शब्दसमूहों या वाक्यों से होता है जो मनुष्य के मानसिक भावों के द्योतक होते हैं। काव्य में जब केवल अर्थ की रमणीयता रहती है, तब तो मूर्त आधार का अस्तित्व नहीं रहता, पर शब्द की रमणीयता आने से संगीत के सदृश ही नाद-सौंदर्य के रूप में मूर्त आधार की उत्पत्ति हो जाती है। भारतीय काव्यकला में पाश्चात्य काव्यकला की अपेक्षा नाद-रूप मूर्त आधार की योजना अधिक रहती है और इसी आधार पर शब्दों की रमणीयता को काव्य का एक प्रधान और कहीं कहीं मुख्य अंग माना गया है, पर अर्थ की रमणीयता के समान यह काव्य का अनिवार्य अंग नहीं है। अर्थ की रमणीयता काव्यकला का प्रधान गुण और नाद की रमणीयता उसका गौण गुण है।

हम जिस समय से ललित कलाओं का विवरण प्रारंभ करते हैं, वह भारतीय इतिहास का विशेष महत्त्वपूर्ण युग था। मुसलमानों के आक्रमण तो पहले ही प्रारंभ हो चुके थे, अब वे राज्य-स्थापन करने तथा यहाँ आकर बसने के प्रयास में थे। अब उनमें लुटेरों की सी उतनी बर्बरता तथा उच्छृंखलता नहीं रह गई थी, वरन् वे अधिकाधिक सभ्य तथा संयत होते जा रहे थे। उनके सभ्य तथा संयत होने का यह अभिप्राय नहीं है कि भारत में आने के पहले वे नितांत वर्बर तथा असभ्य थे, अथवा उनकी धार्मिक तथा संस्कृतिजन्य अवस्था अविकसित और पतित थी, वरन् हमारे कहने का आशय यह है कि धार्मिक उन्माद और क्रूरता आदि के कारण उनमें एक प्रकार की कर्कशता आ गई थी जो असभ्यता की सूचक है। यह कर्कशता प्रारंभ के मुसलिम आक्रमणों की विशेषता थी। केवल भारतवर्ष में ही नहीं, अन्य प्रदेशों में भी मुसलमानों का प्रवेश उन देशों की विविध कलाओं तथा सभ्यता के निदर्शनों का नाशक ही हुआ, उन्नायक नहीं। यह हम तत्कालीन नवोत्थित मुसलिम शक्ति की बात कह रहे हैं। थोड़े समय के उपरांत जब उन्माद का प्रथम प्रवाह कुछ धीमा पड़ गया, और मुसलमानों ने तलवार के साथ साथ कुछ मनुष्यत्व भी धारण कर लिया, तब कलाओं के क्षेत्र में भी प्रचुर उन्नति हुई।

मुसलमान और ललित कलाएँ

हम ऊपर बतला चुके हैं कि भारत में आए हुए मुसलमान निरे असभ्य और जंगली न थे और उनका धार्मिक तथा सांस्कृतिक विकास

भी संतोषप्रद था। विविध कलाओं की उनकी निजी शैली थी जो भारतीय शैली से सर्वथा भिन्न थी। उनके भारत में आने पर दोनों शैलियों का सम्मिश्रण होने लगा, जो स्वाभाविक ही था। प्रत्येक कला पर इस सम्मिश्रण की छाप स्पष्ट देख पड़ती है, परंतु साथ ही दोनों का स्वतंत्र विकास भी अनुल्लेख्य नहीं है। नीचे हम वास्तुकला की तत्कालीन अवस्था का संक्षेप में उल्लेख करेंगे।

मुसलमानी तथा हिंदू वास्तुकला का तारतम्य

वास्तुकला के इतिहास में मुसलमानों तथा हिंदुओं की शैलियों का सम्मिश्रण बहुत ही रोचक तथा चमत्कारपूर्ण है। विजयी मुसलमानों ने जिस प्रकार हिंदू तथा जैन मंदिरों को तोड़कर मस्जिदें बनवाई वह एक दृष्टि से उनकी नृशंसता का परिचायक है, और दूसरी दृष्टि से उनकी कलामर्मज्ञता का द्योतक है। इस देश में आकर इस देश की समृद्ध तक्षणकला से प्रभावित न होना विदेशियों के लिये असंभव था। उन्हें अनिवार्य रीति से यहाँ के शिल्पसाधनों तथा शैलियों का प्रयोग करना पड़ा। उनके कारीगर सब अरब और फारस से तो आए नहीं थे; वे अधिकतर इसी देश के होते थे। अतः जब उनके भवन-निर्माण का कार्य प्रारंभ हुआ, तब उसमें हिंदू-भवन-निर्माण-विधि की स्पष्ट झलक देख पड़ी। कलाविदों का कथन है कि सभी भारतीय आदर्शों तथा शैलियों का प्रवेश, किसी न किसी रूप में, तत्कालीन मुसलिम इमारतों में हुआ। परंतु उन पर इस देश का ऋण केवल बाह्य आदर्शों तथा शैलियों तक ही परिमित न रहा। भारतीय स्थापत्य की सबसे बड़ी दो विशेषताओं—शक्ति तथा सौंदर्य—की छाप भी उनमें पूरी पूरी देखी गई। मुसलिम स्थापत्य की ये विशेषताएँ भारत में ही उपलब्ध होती हैं, अन्य देशों में नहीं। जेरुसलम और दमिश्क आदि के यवन स्थापत्य में पच्चीकारी का जो सौष्ठव है, फारस के चीनी के खपड़ों में जो चमक दमक है, अथवा स्पेन की मस्जिदों में जो कल्पनात्मक विशेषता है, संभव है इस देश की मुसलिम इमारतों में वह न हो; परंतु शक्ति तथा सौंदर्य का ऐसा मणिकांचन-संयोग भारत को छोड़कर अन्यत्र नहीं मिल सकता।

मुसलिम तथा हिंदू तक्षणकला का साधारण विभेद मस्जिदों तथा मंदिरों की निर्माणशैली से ही प्रत्यक्ष हो जाता है। हिंदुओं के मंदिर का मध्य भाग, जहाँ मूर्ति रहती है, विशेष विस्तृत नहीं होता। उसमें एक प्रकार की अद्भुत प्रभविष्णुता तथा अनुभावकता रहती है, जो उसकी परिमिति के ही फल-स्वरूप होती है। इसके विपरीत मुसलमानों

का उपासनागृह चारों ओर से खुला और अधिक फैला हुआ रहता है जिससे उसमें भव्यता का समावेश होता है। हिंदुओं ने सीधे स्तंभों का प्रयोग किया था, परंतु मुसलिम मस्जिदों में प्रायः मिहराबदार खंभे देते थे। मंदिर के शीर्ष पर कलश बनते हैं, मस्जिदों में गुंबद होते हैं। परंतु इन साधारण विभेदों के अतिरिक्त उनकी एक दूसरी विभिन्नता सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। हिंदू मंदिरों में मूर्तियाँ होती हैं, मुसलिम मस्जिदों में नहीं होतीं। हिंदुओं ने ब्रह्म की व्यक्त सत्ता पर जोर देकर सगुणोपासना का जो मार्ग प्रशस्त किया था, उसमें मूर्तियों के लिये स्थान था। हिंदू अपने इष्टदेवों की सुंदर मूर्तियाँ बनाकर उनकी वेष-भूषा का विधान भी करते थे। उनकी यह कला अद्वितीय है। परंतु मुसलमानों ने मूर्तियों तथा चित्रों का घोर निषेध कर रखा था। उनकी मस्जिदें मूर्तियों के न होने से उजाड़ सी जान पड़ती हैं। हिंदुओं के मंदिरों में मूर्तियों के कारण मानों सजीवता आ जाती है। साथ ही मस्जिदों के विस्तार में अनंतता की कुछ छाया झलकती है।

इन विभेदों के साथ ही मंदिर तथा मस्जिद में बहुत सी समानताएँ भी होती हैं। हमारा तो विचार है कि समानताओं के कारण दोनों शैलियों के सम्मिश्रण में सुगमता ही नहीं हुई होगी प्रत्युत उसको उत्तेजना भी मिली होगी। मंदिरों तथा मस्जिदों में समान रूप से आँगन होते हैं, जो खंभों आदि से परिवृत रहते हैं। ये आँगन पूरे एशिया महाप्रदेश की विशेषता हैं। इसके अतिरिक्त हिंदू तथा मुसलिम वास्तुकला में सजावट अथवा शृंगार की ओर सामान्य प्रवृत्ति होती है। वेष-भूषा के बिना दोनों का काम नहीं चलता। हाँ, इतना अवश्य है कि हिंदू वास्तुकारों में शृंगार की प्रेरणा स्वाभाविक होती है, उन्हें यह परंपरागत रीति से प्राप्त हुई है, और मुसलमान वास्तुकारों ने इसे दूसरों से ग्रहण किया था। भारत में आने पर मुसलमानों का बनाव-सिंगार की ओर विशेष झुकाव हुआ।

हिंदू स्थापत्य की एक ही शैली समस्त देश में व्याप्त नहीं थी। उत्तरी भारत में ही उसकी कई शाखाएँ थीं। इतने विस्तृत देश में शैली-भेद का होना स्वाभाविक है भी। जिस प्रकार यहाँ अनेक भाषाएँ प्रचलित थीं, जिस प्रकार यहाँ अनेक धार्मिक संप्रदाय चल रहे थे, जिस प्रकार यहाँ अनेक विदेशियों ने आकर प्रभाव डाले थे तथा जिस प्रकार यहाँ के विभिन्न प्रदेशों की जलवायु और भौगोलिक स्थिति आदि भिन्न भिन्न हैं, उसी के अनुरूप यहाँ के स्थापत्य में भी अनेक प्रांतीय विभेद हुए। परंतु इन विभेदों के होते हुए भी जिस प्रकार समस्त देश में एक

ही ढंग की संस्कृति तथा एक ही ढंग की सभ्यता का विकास हुआ था उसी प्रकार यहाँ के स्थापत्य में सामूहिक एकता भी व्यंजित हुई थी। विजयी मुसलमान जब क्रम क्रम से उत्तर भारत के विभिन्न प्रदेशों में फैल गए, तब उन्होंने उन प्रदेशों में प्रचलित स्थापत्य का अपने ढंग पर उपयोग किया। जिन स्थानों में मंदिर ढहाकर मस्जिदों की रचना हुई, वहाँ तो उन स्थानों की वास्तुकला का आधार ग्रहण ही किया गया, पर जिन स्थानों में स्वतंत्र रूप से इमारतें बनवाई गईं, वहाँ भी अधिकतर प्रांतीय शैलियों का ही आश्रय लिया गया। यहाँ कुछ उदाहरण दे देना आवश्यक होगा।

दिल्ली प्रारंभ से ही मुसलमानों का केंद्र रही थी। यहाँ वे सबसे अधिक प्रभावशाली भी थे, और यहाँ उन्हें अपनी संस्कृति की रक्षा तथा विकास का सबसे अधिक अवसर भी मिला था। परंतु दिल्ली की प्रसिद्ध मुसलिम इमारतों में भी भारतीय स्थापत्य की छाप स्पष्ट देख पड़ती है। प्रारंभ में तो मुसलमान विजेताओं ने स्थानीय मंदिरों को तोड़कर मस्जिदों की स्थापना की थी, अतः उस काल की इमारतों में भारतीय शैली प्रत्यक्ष ही है, परंतु दिल्ली की उत्तरकालीन इमारतों से भी इस देश की स्थापत्यसंबंधिनी विशेषताएँ लुप्त नहीं हो सकीं। यद्यपि दिल्ली के कुछ शासक अरब की संस्कृति को भारत में अक्षुण्ण रखना चाहते थे, और वे धार्मिक कट्टरपन के उच्चतम प्रतिनिधि थे, फिर भी उनके निर्मित भवनों तथा मस्जिदों आदि में शुद्ध मुसलिम स्थापत्य नहीं मिलता। दिल्ली को छोड़कर अन्य स्थानों में मुसलमानों को न तो ऐसे साधन ही प्राप्त थे और न उनकी ऐसी प्रवृत्ति ही थी कि वे इस देश में रहकर यहाँ के स्थापत्य की अवहेलना कर सकें और अरब की कारीगरी का निर्वाह कर सकें। जौनपुर तथा दक्षिण की मुसलिम इमारतों में भारतीय प्रभाव अत्यधिक स्पष्ट है। बंगाल की मस्जिदें ईंट की बनी हुई हैं जो भारत की ही वस्तु है। उनका सजाव-शृंगार भी बंगाली है। अलाउद्दीन खिलजी के समय से ही गुजरात पर मुसलमानों का अधिकार हो गया था और वहाँ अहमदाबाद की मस्जिदों आदि में मुसलिम शैली का मिश्रित रूप, अजमेर के ढाई दिन के झोपड़े के समान, स्पष्ट देख पड़ता है। इसी प्रकार काश्मीर में भी भवननिर्माण के लिये भारतीय शैली ही ग्रहण की गई। पूर्व परंपरा के अनुसार मुसलिम काल में भी वहाँ लकड़ी पर कारीगरी की गई, जो अपने ढंग की अनुपम है।

हिंदी साहित्य का उद्भव चंद बरदाई के कुछ पहले ही, विक्रम की ग्यारहवीं शताब्दी के मध्य भाग के लगभग, हुआ था। वह हिंदी का

वीर गाथा-काल था जो तेरहवीं शताब्दी तक चलता रहा और वीर हम्मीर के पतन के उपरांत समाप्त हुआ। उसके उपरांत हिंदी साहित्य का भक्तिकाल प्रारंभ हुआ जिसके उन्नायक कबीर, जायसी, सूर, तुलसी आदि हुए, जिनकी वाणी में अभूतपूर्व पवित्रता तथा सरसता का सन्निवेश हुआ। यदि इस काल को हम पूर्व मध्य काल कहें तो उत्तर मध्य काल में हिंदी साहित्य के शृंगारी कवियों की उत्पत्ति हुई जिनकी मुक्तक रचनाओं में शृंगारिकता का प्रशस्त प्रवाह देख पड़ता है। इसी समय हिंदी के प्रसिद्ध वीर कवि भूषण का अभ्युदय भी हुआ पर वे प्रबल वेग से उमड़ी हुई शृंगार-धारा का अवरोध न कर सके। उसका वास्तविक अवरोध आगे चलकर भारतेंदु हरिश्चंद्र के समय में हुआ। वहीं से हिंदी का आधुनिक काल आरंभ होता है। इस काल में साहित्य की अनेकमुखी प्रगति हुई और साहित्य-निर्माण में गद्य का प्रयोग आरंभ हुआ। यह आधुनिक विकास बहुत कुछ पश्चिमीय ढंग पर हो रहा है, यद्यपि पाश्चात्य आचरण में भारतीय आत्मा की रक्षा का प्रयास भी साथ ही साथ किया जा रहा है। इस प्रकार हम देखते हैं कि हिंदी-साहित्य का काल क्रमानुसार कई विभागों में बाँटा जा सकता है। जिस प्रकार साहित्य का कालविभाग होता है, उसी प्रकार अन्य कलाएँ भी समयानुसार अपना स्वरूप बदलती रहती हैं। उनका स्वरूप-परिवर्तन अधिकतर साहित्य के स्वरूप परिवर्तन के अनुरूप ही हुआ करता है; क्योंकि साहित्य की ही भाँति अन्य कलाएँ भी जनता की चित्तवृत्ति पर अवलंबित रहती और उन चित्तवृत्तियों के हेर फेर के साथ स्वयं भी परिवर्तित होती रहती हैं। यहाँ हम विभिन्न ललित कलाओं का वर्णन सुगमता के लिये हिंदी साहित्य के उपर्युक्त कालविभाग के अनुसार करेंगे।

वास्तुकला तथा मूर्तिकला

ऊपर हमने हिंदू तथा मुसलिम स्थापत्य का जो भेद बतलाया है, उससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि मूर्तियों का निर्माण मंदिर-स्थापत्य का अविच्छिन्न अंश है, अतः मूर्तिकला का विकास वास्तुकला के साथ युगपद् रूप में हुआ है। मुसलिम स्थापत्य में तो इस कला का कहीं पता भी नहीं मिलता; क्योंकि अपने धार्मिक सिद्धांतों के अनुसार मुसलमान मूर्ति-पूजा की कौन कहे मूर्ति-निर्माण तक को कुफ्र समझते थे, परंतु हिंदुओं के मंदिरों में मूर्तियों को सदा से प्रधान स्थान प्राप्त रहा है।

आदि काल

यहाँ हम वास्तुकला तथा मूर्तिकला का विवरण सम्मिलित रूप से देंगे, क्योंकि भारतीय स्थापत्य में इन दोनों का संबंध प्रारंभ से ही घनिष्ठ तथा अटूट रहा है।

उत्तर भारत के तत्कालीन क्षत्रिय नृपति अधिकतर शाक्त तथा शैव थे और युद्धप्रियता के साथ ही हिंसा तथा मांसभक्षण की ओर भी उनकी प्रवृत्ति थी। उस समय का सबसे उत्तम मंदिर-समूह बुंदेलखंड के खजराहो नामक स्थान में है। वहाँ छोटे बड़े पचासों हिंदू तथा जैन मंदिर हैं। हिंदू मंदिरों में सर्वोत्तम कंडरिया महादेव का विशाल मंदिर है, जो जमीन से ११६ फुट ऊँचा और बहुत सुंदर है। इसके नीचे जो भारी कुरसी या चबूतरा बना है उससे इसका विशाल आकार और भी प्रभविष्णु हो गया है। क्रमशः छोटे होते हुए एक के ऊपर दूसरे शिखर-समूह बड़े ही भव्य हैं, जिनके द्वारा कला में कैलास की अभिव्यक्ति का अनुपम नमूना मिलता है। यहाँ के वैष्णव तथा जैन मंदिरों में विशेष मौलिकता नहीं है, ये सब इसी कंडरिया महादेव के मंदिर के अनुकरण पर हैं और केवल मूर्तियों की विभिन्नता ही उनकी विशेषता है। मूर्तियों की काट छाँट गुप्तकालीन मुखाकृति की रचना का अनुकरण तथा अलंकरण है। आभूषणों की सजावट में गुप्तकालीन सरलता नहीं है और न हस्त तथा चरण-मुद्राओं में विशेष भाव भंगी है, केवल लावण्य-शृंगार की प्रचुरता है। तथापि उस काल की जो विशिष्ट मूर्तियाँ हैं, वे गुप्त-काल की सुंदर प्रतिमाओं की समानता करती हैं। सुलतानपुर (अवध) की विष्णु की, महोबा की पद्मपाणि की तथा भोजनगर (मालवा) की सरस्वती की मूर्तियाँ इसका उदाहरण हैं। इसी समय के लगभग गुजरात की विशेष अलंकृत शैली का जन्म हुआ, जिसका प्रसार पश्चिमी राजपूताने तक था। सोमनाथ, मुढेरा तथा सिद्धपुर के मंदिर और डभोई का किला इसके उदाहरण हैं। परंतु इसका प्रधान और लोकोत्तर उदाहरण विमलशाह का वि० १०३१ में बनवाया हुआ आबू का जैनमंदिर है, जो देखनेवाले की आँखों में आश्चर्य चकाचौंध उत्पन्न कर देता है। ग्यारहवीं बारहवीं शताब्दी में बने नागदा में सर्वोत्कृष्ट दो मंदिर सास-बहू के हैं, जिनके स्थापत्य की बड़ी प्रशंसा है। इन तथा अन्य स्थानों के बने हुए तत्कालीन मंदिरों की शैली का विश्लेषण करने पर उनकी प्रचुर प्रभविष्णुता, अनुभावता तथा शृंगारिकता स्पष्ट झलकने लगती है, जो उस समय की प्रधान राजपूत मनोवृत्तियाँ थीं। साहित्य में ये ही चित्तवृत्तियाँ युद्ध और प्रेम के वर्णनों द्वारा व्यक्त की गई हैं।

जब हम इस काल के मुसलिम स्थापत्य की ओर ध्यान देते हैं तब हमारी दृष्टि पहले पहल दिल्ली की ओर जाती है। दिल्ली के पहले सिंध और अफगानिस्तान में आए हुए अरबों ने कुछ इमारतें बनवाई थीं; परंतु मंसूरा के भग्नावशेषों के अतिरिक्त अब उनका कोई अवशेष-चिह्न नहीं मिलता। गजनी में भी महमूद के समाधि-मंदिर तथा दो मीनारों अथवा विजयप्रासादों के अतिरिक्त स्थापत्य का कोई उल्लेख-योग्य कार्य नहीं हुआ। दिल्ली की इमारतों में जामा या कवायतुल इस्लाम मस्जिद उस समय की प्रधान कृति मानी जाती है। इसका निर्माण कुतुबुद्दीन ऐबक ने दिल्ली को विजय के उपरांत किया था और विजयस्मृति में उसे मुसलिम वीरत्व का निदर्शन मानकर तदनुरूप उसका नामकरण भी किया था। इस विशाल मस्जिद को कुतुबुद्दीन के परवर्ती अल्तमश तथा अलाउद्दीन खिलजी आदि नृपतियों ने अधिकाधिक विस्तृत तथा अलंकृत किया। पहले इसमें हिंदू स्थापत्य की ही प्रधानता थी, परंतु ज्यों ज्यों दिल्ली में मुसलमानों का सिक्का जमता गया और उन्हें साधन मिलते गए त्यों त्यों इस मस्जिद का रूप-परिवर्तन भी होता गया और इसमें मुसलिम कारीगरी बढ़ती गई। वि० १२८६ कुतुब-मीनार के निर्माण का समय है। संभवतः इसकी रचना का प्रारंभिक उद्देश्य कुछ और ही था, पर पीछे से यह मुसलमानों की विजय का स्मारक बन गया। प्रारंभ में यह लगभग २२५ फुट ऊँचा था। इसमें कुरान की आयतें खुदी हुई हैं। प्रत्येक मस्जिद के कोने पर मीनार होते हैं। इससे अनुमान होता है कि लोहस्तंभ के निकटवाली, हिंदू मंदिरों को तोड़कर बनाई हुई, मस्जिद का यह मीनार होगा; पर पीछे से यह मुसलमानों की विजय का चिह्न बन गया। इसकी मरम्मत भी दिल्ली की शासक-परंपरा ने बराबर की है। यद्यपि कुतुब में भारतीय अलंकरणों का समावेश देखकर तथा दो नागरी लेखों के आधार पर कुछ विद्वानों ने इसे पृथ्वीराज द्वारा निर्मित बतलाया है, किंतु ऐसी आशंका करना उचित नहीं जान पड़ता। यह कहीं से परिवर्तित की हुई इमारत नहीं है, अपने मौलिक रूप में ही है। तेरहवीं शताब्दी की बनी हुई अजमेर की "ढाई दिन का झोपड़ा" मस्जिद दिल्ली की 'कवायतुल इस्लाम' मस्जिद की ही भाँति भव्य तथा विशाल है। इस काल की ये ही विशेष उल्लेखनीय कृतियाँ हैं। इन प्रसिद्ध इमारतों से मुसलमानों के प्राथमिक विजयोल्लास का पूरा पूरा अनुभव हो जाता है।

जब दिल्ली का शासन खिलजियों के वंश से निकलकर तुगलक वंश के हाथ में आया, तब वहाँ के स्थापत्य में एक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन

हुआ। इस समय तक मुसलमानों का प्राथमिक उल्लास बहुत कुछ शिथिल पड़ गया था और अब वे धर्म के सुचिंतित सिद्धांतों तथा जीवन की गंभीर समस्याओं की ओर ध्यान देने लगे थे।

पूर्व मध्य काल

अतएव आदि काल के मुसलिम स्थापत्य में जो अलंकरणाधिक्य और बाह्य सुंदरता थी, वह इस काल में कम हो चली। यद्यपि आर्थिक स्थिति ने भी सरलता और सादगी की ओर प्रेरित किया, पर मनोवृत्ति में भी परिवर्तन अवश्य हुआ। इस काल की सभी प्रसिद्ध इमारतों में एक पूत भावना का समावेश सा जान पड़ता है। गयासुद्दीन के बनवाए हुए तुगलकाबाद (सं० १३७८-८२) का संपूर्ण स्थापत्य तथा विशेषतः उसकी समाधि आदि इस बात के पुष्ट प्रमाण हैं। फीरोजशाह के बनवाए हुए कोटला फिरोजशाह आदि भी स्थापत्य की दृष्टि से अनलंकृत कोटि के हैं। फीरोजशाह के प्रधान मंत्री खानेजहाँ तिलंगानी की कब्र भी इस काल की उल्लेखनीय रचना है; परंतु यह भी आदि काल की मुसलिम इमारतों के सामने बिलकुल सादी और उजाड़ सी जान पड़ती है। इस काल की कृतियों में भारतीय प्रभाव उतना अधिक नहीं है, जितना आगे चलकर मुगल काल में हुआ।

सैयद और लोदी शासकों के समय में स्थापत्य की दशा अच्छी नहीं रही। उनके पास उत्तम स्थापत्य के उपयुक्त साधन ही नहीं थे। अंत में जब मुगल साम्राज्य की स्थापना हुई और सुख-समृद्धिपूर्ण समय आया, तब स्थापत्य को नए सिर से अभ्युत्थान का अवसर मिला। मुगल स्थापत्य का प्रारंभ हुमायूँ के मकबरे से हुआ। इसमें सादगी, प्रभविष्णुता और भव्यता के साथ साथ भारतीयता का भी सन्निवेश हुआ। इसकी छेंकन सर्वथा भारतीय अर्थात् पंचरत्न, बौद्ध समाधि या देवालय की है। मुगल कला पर भारतीय प्रभाव का यह प्रथम महत्त्वपूर्ण निदर्शन है। हुमायूँ के उपरांत जब इस देश के शासन की बागडोर अकबर के हाथों में गई, तब हिंदू और मुसलिम शैलियों का सम्मिश्रण जैसे अन्य क्षेत्रों में हुआ, वैसे ही स्थापत्य में भी हुआ। उसकी बनवाई हुई फतहपुर सिकरी की इमारतें देखने में बिलकुल हिंदू इमारतें जान पड़ती हैं। इनके अलंकरण भी अकबर के ही योग्य हुए हैं—न कम न अधिक; मानों उनमें पूर्णता आँखें खोलकर मुसकरा रही हो। अकबर की ही बनवाई हुई वहीं की जामामस्जिद भी अपनी मिश्रित कला के लिये प्रसिद्ध है, मानों वह सब प्रधान धर्मों के उपासकों का सम्मिलित उपासना-गृह हो। इसके अतिरिक्त जोधबाई का महल, मरियम ज़मानी के भवन, स्वयं अकबर का निवास-भवन, दीवानआम, दीवनखास आदि

सब अपने ढंग की बहुत ही उच्च कोटि की इमारतें हैं। जहाँगीर ने अकबर की परंपरा के रक्षण की चेष्टा की। उसने आगरे के किले में आँगनदार महल तथा लाहौर और काश्मीर में शालामार बाग बनवाए जिनमें फौवारों, जल-प्रपात तथा प्रवाह का सौंदर्य दर्शनीय है। मुगलों के स्थापत्य का चरम उत्कर्ष शाहजहाँ की प्रियतमा मुमताज़महल का मकबरा ताजमहल है जो एक रत्नजटित आभूषण सा सुंदर एवं मनो-मोहक बना है। इसकी गणना संसार की कतिपय सर्वोत्कृष्ट मानव-रचनाओं में विशेष आदर के साथ की जाती है। दिल्ली में शाहजहाँ का बनवाया हुआ लाल पत्थर का किला तथा बड़ी ज़ामा-मस्जिद आदि अन्य उत्कृष्ट स्थापत्य भी उल्लेखनीय हैं।

यह तो शासकों की कृतियों का उल्लेख हुआ। इसके अतिरिक्त अनेक मुसलमान मांडलिकों की कृतियाँ भी उत्कृष्ट हुई हैं जिनमें जौनपुर तथा गुजरात की, विशेषकर अहमदाबाद की, कुछ इमारतें अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। बिहार में शेरशाह का सहसरामवाला मकबरा भी अपने ढंग का अद्वितीय समझा जाता है। इसका सौम्य तथा गंभीर रूप ही इसकी विशेषता है। इस काल की प्रायः सभी इमारतों में भारतीय भवन-निर्माण-विधि का पूरा पूरा संयोग है। यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि इस समय हिंदू और मुसलमान एक साथ रहकर हेल-मेल रखना भी सीख रहे थे।

मूर्तिकला का ह्रास इस युग तथा इसके परवर्ती युग की प्रधान विशेषता है। चित्तौड़ का महाराणा कुंभा का कीर्त्ति-स्तंभ और मीरा-बाई का (कुंभस्वामी) मंदिर भी प्रसिद्ध हैं। संवत् १५४३ का बना हुआ ग्वालियर का किला, १६४७ वि० में निर्मित वृंदावन का गोविंद देव का मंदिर और इसी समय के लगभग बना काशी विश्वेश्वर का प्राचीन मंदिर भी इसी श्रेणी की इमारतें हैं। इन सबमें कुछ न कुछ मुसलिम प्रभाव अवश्य मिलता है। यद्यपि महाराणा कुंभा के कीर्ति-स्तंभ में बहुत सुंदर मूर्तियाँ बनी हुई हैं, परंतु उनमें इस काल का ह्रास प्रत्यक्ष लक्षित हो जाता है। संवत् १६४६ से १६८७ तक की बनी मानसिंह की आमेर की इमारतों में मुसलिम स्थापत्य की छाप बहुत अधिक पड़ी। वे दिल्ली के दीवान आम की असफल नकल हैं। राज-पूताने की वर्तमान भवन-निर्माण-शैली का जन्म यहीं से होता है।

अकबर के समय में बुँदेलखंड में प्रसिद्ध वीरसिंहदेव हुए। उस समय वहाँ हिंदू संस्कृति की जो नवजागर्ति देख पड़ी थी, उसका प्रभाव स्थापत्य पर कम नहीं पड़ा। ओड़छे का सुंदर नगर तथा उसमें चतु-

मुंजजी का विशाल मंदिर वहाँ के स्थापत्य के उत्कृष्ट उदाहरण तो हैं ही, वे हिंदू स्थापत्य में भी एक उच्च स्थान के अधिकारी हैं। वीरसिंह-देवजी की छतरी तथा उनके महल भी वास्तुकला के बड़े सुंदर निदर्शन हैं। उनका दतियावाला महल तो सचमुच अद्वितीय है। यहाँ की इमारतों में मुसलमानों का प्रभाव बहुत कम, प्रायः नहीं के बराबर, पड़ा। इनमें व्यर्थ अलंकरणों के अभाव से एक प्रकार की सादगी आ गई है जिससे इनके भारतीय गृहस्थ के शुचितम तथा सुंदरतम आवास होने का आभास मिलता है। अकबर की तुलना में यद्यपि ये वीर बुँदेले कुछ भी न थे, फिर भी अपनी इमारतों के विचार से ये उससे टक्कर लेते हैं।

शाहजहाँ के ताजमहल में मुगल स्थापत्य अपने चरम उत्कर्ष पर पहुँच गया है। यहीं से एक नवीन युग का आरंभ होता है जिसे हम ह्रास का युग कह सकते हैं। यों तो शाहजहाँ के समय से ही मुसलमानों का धार्मिक कट्टरपन जोर पकड़ रहा था, परंतु उसके उत्तराधिकारी औरंगजेब की नृशंसता तो इतिहास-प्रसिद्ध हुई। पुर्तगाली मंदिरों को तुड़वाकर शाहजहाँ ने जिस मनोवृत्ति का परिचय दिया था, औरंगजेब ने जीवन-पर्यंत उसकी पुष्टि की। ऐसी अवस्था में ललित कलाएँ उन्नति नहीं कर सकती थीं। औरंगजेब की बनवाई हुई इमारतों में अधिकांश मस्जिदें तो मंदिरों को तोड़कर बनी हैं। उनमें एक प्रकार की बर्बरता, रुखाई तथा उजाड़पन सा निदर्शित होता है। शाहजहाँ के समय के सुंदर स्थापत्य को उसने ऐसा रूप दिया है, मानों उसकी खाल खिंचवा ली हो। उसकी इमारतों में काशी के गंगा तट पर बनी वह मस्जिद है जो बिंदुमाधव के मंदिर को तोड़कर बनाई गई थी। यह अब भी उसी पुराने नाम "माधवराय का धौरहरा" से पुकारी जाती है। दक्षिण में उसने अपनी बेगम का मकबरा बनवाने में ताज की नकल की, पर उसमें कुछ भी सफलता नहीं मिली। औरंगजेब के पीछे मुगलों की कोई विशेष प्रसिद्ध इमारत नहीं बनी। केवल दूसरे शाह आलम ने अहमदाबाद (गुजरात) में कुछ इमारतें बनवाईं जिनमें जैन-मंदिर-निर्माण-विधि का अनुकरण किया गया। जैनों की मंदिर-निर्माण-कला पूर्ववत् ही बनी रही, उसमें कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ।

उत्तर मध्य काल

जिस प्रकार हिंदी साहित्य की शृंगार-परंपरा के बीच में भूषण का उदय हुआ था, जिनकी वाणी में अद्भुत ओज तथा जातीयता का प्रसार हुआ, उसी प्रकार औरंगजेब की नृशंसता से नष्ट होती हुई वास्तु-कला को भी मराठों तथा सिखों ने पुनरुज्जीवित करने का प्रयास किया

था। मराठों ने काशी में अनेक घाट और मंदिर बनवाए। मंदिरों में तो प्राचीन शैली का अनुकरण मात्र मिलता है, पर घाटों की विशेषता उनके भारीपन में है, जिसके कारण उनके निर्माताओं की महत्त्वाकांक्षा प्रदर्शित होती है। यदि मराठों की सत्ता जीवित रहती, तो उनका स्थापत्य अवश्य ही विशेष उन्नत होता, परंतु संयोगवश ऐसा न हो सका। सिखों की इमारतों में संवत् १८२३ का बना अमृतसर का तालाब और स्वर्ण-मंदिर मनोहर स्थापत्य के निदर्शन हैं। इनमें सौंदर्य और प्रभविष्णुता दोनों हैं। यद्यपि इस मंदिर में ताज की शैली का बहुत कुछ अनुकरण दृष्टिगोचर होता है, पर सादगी और पवित्रता के नए भाव भी इसमें स्पष्ट देख पड़ते हैं।

इस काल में मूर्तिकला तो प्रायः विस्मृत सी हो गई थी। उड़ीसा और गुजरात में प्राचीन परंपरा का निर्वाहमात्र करती हुई मूर्तियाँ बनती रहीं, पर उनमें स्वतंत्र प्रतिभा का पता नहीं है। नेपाल के हिंदू नृपतियों के संरक्षण में भी इस कला का थोड़ा बहुत विकास होता रहा, परंतु वहाँ की मूर्तिकला पर महायान (बौद्ध) शैली का ही अधिक प्रभाव पड़ा।

लखनऊ के नवाबों की बनवाई हुई इस काल की इमारतों में केवल बड़ा इमामबाड़ा अपनी विशालता के कारण उल्लेखनीय है। यहीं से युरोपीय प्रभाव का आरंभ समझना चाहिए।

आधुनिक काल

वर्तमान काल के स्थापत्य के हम चार मुख्य विभाग कर सकते हैं। (१) पब्लिकवर्क्स डिपार्टमेंट की इमारतें—इनमें शैली के भद्देपन के अतिरिक्त कोई विशेषता नहीं होती। इनका निर्माण काम चलाने के लिये ही किया जाता है, अन्य किसी उद्देश से नहीं। (२) धनिकों की इमारतें—इनसे हमारा तात्पर्य उन मंदिरों, धर्मशालाओं और निवास-गृहों से है जो देश के सेठ-साहूकार, राजा-रईस आदि बनवाते हैं। इनमें भी स्वतंत्र कला की सजीवता नहीं देख पड़ती। इनकी शैली अधिकतर संकर शैली कही जा सकती है। कला की भावना से हीन कारीगर जहाँ जो चाहते हैं, बनाते हैं, कोई पथप्रदर्शक नहीं है। पन्ना का बलदाऊजी का मंदिर इसका अच्छा उदाहरण है। (३) विलायत के बड़े बड़े वास्तुकारों के परिकल्पित भवन—इस श्रेणी में कलकत्ते का विक्टोरिया मेमोरियल तथा नई दिल्ली के भवन आते हैं। इनका स्थापत्य विदेशीय है, जो हमारे देश से बिलकुल विभिन्न होने के कारण यहाँ की परिस्थिति के अनुकूल नहीं है। इस दृष्टि से उनकी विफलता प्रत्यक्ष है। (४) इस श्रेणी

में वे इमारतें गिनी जा सकती हैं जिनमें भारतीय स्थापत्य की राजपूत शैली के पुनरुत्थान का प्रयास किया गया है और मनोहरता पर विशेष ध्यान रखा गया है। इसके अंतर्गत काशी विश्वविद्यालय, स्वर्गीय महादेवप्रसाद जायसवाल का मिर्जापुरवाला मकान, पटना म्यूजियम, ग्राउस साहब का बनवाया हुआ बुलंदशहर का टाउनहाल, मथुरा का फाटक, नई दिल्ली की कुछ इमारतें गिनी जा सकती हैं। प्रत्येक प्रकार की कला पर वर्तमान युग के भावों और विचारों का प्रभाव पड़े बिना नहीं रह सकता। प्राचीन शैली के साथ इन नए भावों तथा विचारों का सामंजस्य और सम्मिश्रण ही श्रेयस्कर है जिसमें प्राचीन परंपरा बनी रहे और साथ ही नवोत्थित आवश्यकताओं की पूर्ति हो।

सारांश यह है कि जिस प्रकार धार्मिक, सामाजिक, नैतिक, साहित्यिक आदि स्थितियों पर युरोपीय सभ्यता तथा संस्कृति का प्रभाव स्पष्ट देख पड़ता है, उसी प्रकार यहाँ के स्थापत्य पर भी उसकी छाप दृष्टिगोचर होती है। जैसे काशी विश्वविद्यालय की इमारतों में राजपूत और मुगल स्थापत्य का विशेष अनुकरण करने की चेष्टा की गई है, साथ ही खिड़कियों तथा दरवाजों में पाश्चात्य शैली का अनुकरण किया गया है। कुछ कलाविद् इस अनुकरण में भावना या कल्पना का अभाव बतला सकते हैं। पर इतना अवश्य मानना पड़ेगा कि अब प्राचीन कला के उद्धार तथा भारतीय आदर्शों के अनुसार नवीन विकास की योजना होने लगी है। काशी विश्वविद्यालय की इमारतों में यह विकास प्रत्यक्ष देख पड़ता और चित्ताकर्षक सिद्ध होता है।

मूर्ति-निर्माण में बंबई के म्हातरे ने अच्छी ख्याति पाई है। दो एक अन्य महाराष्ट्र तथा बंगाली सज्जन भी कार्यक्षेत्र में अग्रसर हो रहे हैं, परंतु प्राचीन मूर्तिकला की आत्मा को सामयिक शरीर देने का कार्य अब तक विधिवत् प्रारंभ नहीं हुआ है।

चित्रकला

चित्रकला का आधार कपड़े, कागज़, लकड़ी, दीवार आदि का चित्रपट है जिस पर चित्रकार अपनी कलम या कूँची की सहायता से भिन्न भिन्न पदार्थों या जीवधारियों के प्राकृतिक रूप, रंग और आकार आदि का अनुभव कराता है। मूर्तिकार की अपेक्षा उसे मूर्त आधार का कम आश्रय रहता है। इसी से उसे अपनी कला का सौंदर्य दिखाने के लिये अधिक कौशल से काम करना पड़ता है। वह अपनी कलम या कूँची से समतल या सपाट सतह पर स्थूलता, कृशता, बंधु-

रता, उन्नमन, अवनमन, सन्निकर्ष, विप्रकर्ष, छाया और प्रकाश आदि को यथायोग्य दिखाता है। वास्तविक पदार्थ को दर्शक जिस परिस्थिति में देखता है, उसी के अनुसार अंकन द्वारा वह अपने चित्रपट पर ऐसा चित्र प्रस्तुत करता है जिसे देखकर दर्शक को चित्रगत वस्तु असल वस्तु सी जान पड़ने लगती है। इस प्रकार वास्तुकार और मूर्तिकार की अपेक्षा चित्रकार को अपनी कला के ही द्वारा मानसिक सृष्टि उत्पन्न करने का अधिक अवसर मिलता है। उसकी कृति में मूर्त्तता कम और मानसिकता अधिक रहती है। कोई ऐतिहासिक घटना या प्राकृतिक दृश्य को अंकित करने में चित्रकार को केवल उस घटना या प्राकृतिक दृश्य के बाहरी अंगों को जानना और अंकित करना आवश्यक नहीं होता, किंतु उसे अपने विचार के अनुसार उस घटना या दृश्य को सजीवता देने और मनुष्य या प्रकृति की भावभंगी का प्रतिरूप आँखों के सामने खड़ा करने के लिये, अपनी कूँची चलाना और परोक्ष रूप से अपने मानसिक भावों का सजीव चित्र सा प्रस्तुत करना पड़ता है। अतएव यह स्पष्ट है कि इस कला में मूर्त्तता का अंश थोड़ा और मानसिकता का मुख्य होता है। नीचे हम हिंदी साहित्य के क्रम-विकास के विभिन्न कालों में उत्तर भारत की चित्रकला की अवस्था का दिग्दर्शन कराएँगे।

आदि काल

अजंता की गुहाओं की उत्कृष्ट चित्रकला की शैली इस समय अधःपतित हो रही थी। बौद्ध धर्म के प्रसार के साथ ही भारत में इस कला का जैसा अनुपम विकास हुआ था, उसके ह्रास के साथ ही उसकी भी अधोगति हुई। इसमें संदेह नहीं कि बौद्ध काल ही इस देश की चित्रकला का स्वर्ण-युग था। फिर भी चित्रकला का यहाँ कुछ न कुछ प्रचार सदा बना रहा और बीच बीच में उसमें नवीन जागर्ति भी देख पड़ती रही। तत्कालीन प्राकृत तथा अपभ्रंश ग्रंथों में अनेक स्थानों पर चित्रों का वर्णन बड़ी रमणीय रीति से किया गया है, जिससे यह प्रमाणित होता है कि जनता की अभिरुचि उस ओर से सर्वथा हट नहीं गई थी। यही नहीं, उस समय चित्राधारों के बनवाने की भी रीति थी और चित्रकारों का समाज में आदर भी अधिक था।

उस काल के तालपत्र पर लिखे कतिपय सचित्र जैन कल्पसूत्र एवं कालकाचार्य-कथानक मिले हैं जिनमें से एक पाटन (गुजरात) के पुस्तक-भांडार में रक्षित है। यह १२६४ वि० का लिखा है। इन कल्पसूत्रों आदि में जो चित्र हैं वे गुजरात के ही बने हैं एवं इस काल

की गिरी दशा के द्योतक हैं। उक्त चित्रकारी को केवल जैन पुस्तकों में पाकर डाक्टर कुमारस्वामी प्रभृति विद्वानों ने उसका नाम जैन चित्रकारी रखा था; परंतु श्रीयुत एन० सी० मेहता की नवीन खोज के अनुसार इस कला को गुजराती कलम कहना चाहिए। इसका प्रचार केवल गुजरात में ही नहीं था, वरन् उत्तर भारत के उस विस्तृत भूमाग में भी था जहाँ हिंदी साहित्य की आदिकालीन वीरगाथाओं की रचना हुई थी।

यों तो पटों, फलकों और तालपत्रों पर चित्र बनते ही थे, किंतु उस समय तक चित्रण का मुख्य स्थल दीवारें ही थीं। भीतों की सजावट चित्रों ही द्वारा होती थी और वास्तुविद्या के अंतर्गत यह एक मुख्य कला थी।

इस काल की "वसंत-विलास" नामक एक रचना श्रीयुत एन० सी० मेहता को मिली है। इस पुस्तक में संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश आदि के सुभाषितों का संग्रह है और बीच बीच में शृंगारिक चित्र भी हैं। इसका लिपि-काल १५०८ वि० है। अनुमान होता है कि विलासी श्रीमानों के लिये इस ग्रंथ की ऐसी सचित्र प्रतियाँ उस समय बहुत बनती रही होंगी। इसकी लिपि में थोड़ी थोड़ी दूर पर स्याही के रंग बदले गए हैं और कहीं कहीं सुनहली स्याही का भी प्रयोग किया गया है। हाशिए पर तरह तरह की बेल हैं। इसके चित्रों में कई ऐसे हैं जिनमें आगे की राजस्थान तथा बुँदेलखंड की चित्रकला के बीज मिलते हैं। इस शृंगारिक रचना के अतिरिक्त जैन धर्म-ग्रंथों की भी कतिपय सचित्र प्रतियाँ इस काल में बनी थीं जो अब भी ब्रिटिश म्यूजियम, इंडिया आफिस आदि में रक्षित हैं। भारत में भी कलकत्ते के दो एक बंगाली सज्जनों के संग्रहों में ऐसी कुछ प्रतियाँ हैं।

पूर्व मध्य काल

पंद्रहवीं शताब्दी के अंतिम भाग से लेकर सोलहवीं शताब्दी के अंत तक के इसी शैली के कई चित्र काशी के नागरीप्रचारिणी सभा के भारत कला-भवन को प्राप्त हुए हैं। ये अपने ढंग के अनुपम हैं; क्योंकि इनका विषय कोई कथानक काव्य है जिसकी भाषा कहीं फारसी है और कहीं जायसी काल की हिंदी है। ये चित्र कागज पर खड़े बल में (किताबनुमा) बने हैं। दुर्भाग्य-वश इस ग्रंथ के केवल छः पन्ने हाथ लगे हैं, वे भी अभी ठीक ठीक पढ़े नहीं गए। तथापि उनके मिलने से अब यह चित्रण परिपाटी गुजरात की ही सीमा में न रहकर दो-आब तक खिंच आती है।

यद्यपि राजपूत चित्र-शैली का आविर्भाव इस काल के पूर्व सोलहवीं शताब्दी के अंतिम भाग में हो गया था, पर उसका ठीक ठीक विकास कुछ समय के उपरांत हुआ। डाक्टर कुमारस्वामी और श्रीयुत अजित घोष के संग्रहों में कुछ राग रागिनियों के चित्र हैं जिनके रचना-काल के संबंध में बड़ा मतभेद चला था। अंत में वे सत्रहवीं शताब्दी के प्रारंभिक भाग के लगभग बने माने गए हैं और उनमें चित्रकला के नवीन युग के बीज एवं प्राचीनता के चिह्न स्वीकृत किए गए हैं। राग रागिनियों के चित्र अब तक अविदित थे। पंद्रहवीं शताब्दी की संगीत पुस्तकों तथा सूर और तुलसी के पदों तक में रागों की इस प्रकार की कल्पना नहीं मिलती। तो भी ये राग-परिवार केवल कपोलकल्पना नहीं माने जा सकते, इनमें कुछ न कुछ तत्त्व अवश्य हैं। छः रागों के ध्यान तो निःसंदेह ऋतुओं के अनुसार हैं, और रागिनियों के ध्यान भी संभवतः उनके द्वारा उद्दीप्त भावों का अभिव्यंजन करते हैं। कहा जाता है कि उक्त रागमाला के चित्र राजपूताने अथवा बुँदेलखंड में बने थे। कुछ विद्वानों का कहना है कि ये चित्र मालवा की कलम के हैं क्योंकि उन दिनों वही एक संगीत-प्रधान केंद्र था, पर राजपुताने में भी राग-रागिनियों के चित्र दो ढाई सौ वर्ष पहले के बने मिलते हैं। जो कुछ हो, राजपूत शैली की राजस्थानी शाखा का मुख्य विषय आरंभ से लेकर वर्तमान काल तक रागमाला ही रहा है। इस काल में बारहमासा के चित्रों तथा धार्मिक चित्रों की ओर भी ध्यान दिया गया। धार्मिक चित्रों में कृष्णलीला को ही प्रधानता दी गई। नायिका-भेद या साहित्यक विषयों के चित्र भी कुछ कुछ मिलते हैं। लाहौर म्यूजियम और जयपुर म्यूजियम में हम्मीर-हठ के चित्रों का तथा बृटिश म्यूजियम और भारत कलाभवन में बारहमासे और नायिकाओं के चित्रों का अच्छा संग्रह है। इस शैली के चित्रों में वास्तविकता की ओर उतना ध्यान नहीं दिया जाता था, जितना कल्पना की ओर रहता था। काशिराज के पुस्तकालय के रामचरितमानस, भारत-कला-भवन के अधूरे बालकांड और मधुमालती इसके उदाहरण हैं। बुँदेलखंडी शैली इसी राजस्थान शैली की परवर्ती शाखा थी। हम हिंदी साहित्य के उत्तर मध्य काल का आरंभ केशव की रचनाओं से पाने लगते हैं और चिंतामणि के समय तक उसके प्रत्यक्ष लक्षण देख पड़ते हैं। तदनुसार चित्रकला का उत्तर मध्य काल केशव की समकालीन बुँदेल-जागर्ति से मानना उचित होगा। बुँदेलों ने अकबर और जहाँगीर के काल में अत्यंत साधारण स्थिति से उठकर जो प्रमुखता प्राप्त की

उत्तर मध्य काल

की गिरी दशा के द्योतक हैं। उक्त चित्रकारी को केवल जैन पुस्तकों में पाकर डाक्टर कुमारस्वामी प्रभृति विद्वानों ने उसका नाम जैन चित्रकारी रखा था; परंतु श्रीयुत एन० सी० मेहता की नवीन खोज के अनुसार इस कला को गुजराती कलम कहना चाहिए। इसका प्रचार केवल गुजरात में ही नहीं था, वरन् उत्तर भारत के उस विस्तृत भूभाग में भी था ।जहाँ हिंदी साहित्य की आदिकालीन वीरगाथाओं की रचना हुई थी।

यों तो पटों, फलकों और तालपत्रों पर चित्र बनते ही थे, किंतु उस समय तक चित्रण का मुख्य स्थल दीवारें ही थीं। भीतों की सजावट चित्रों ही द्वारा होती थी और वास्तुविद्या के अंतर्गत यह एक मुख्य कला थी।

इस काल की "वसंत-विलास" नामक एक रचना श्रीयुत एन० सी० मेहता को मिली है। इस पुस्तक में संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश आदि के सुभाषितों का संग्रह है और बीच बीच में शृंगारिक चित्र भी हैं। इसका लिपि-काल १५०८ वि० है। अनुमान होता है कि विलासी श्रीमानों के लिये इस ग्रंथ की ऐसी सचित्र प्रतियाँ उस समय बहुत बनती रही होंगी। इसकी लिपि में थोड़ी थोड़ी दूर पर स्याही के रंग बदले गए हैं और कहीं कहीं सुनहली स्याही का भी प्रयोग किया गया है। हाशिए पर तरह तरह की बेल हैं। इसके चित्रों में कई ऐसे हैं जिनमें आगे की राजस्थान तथा बुँदेलखंड की चित्रकला के बीज मिलते हैं। इस शृंगारिक रचना के अतिरिक्त जैन धर्म-ग्रंथों की भी कतिपय सचित्र प्रतियाँ इस काल में बनी थीं जो अब भी ब्रिटिश म्यूजियम, इंडिया आफिस आदि में रक्षित हैं। भारत में भी कलकत्ते के दो एक बंगाली सज्जनों के संग्रहों में ऐसी कुछ प्रतियाँ हैं।

पूर्व मध्य काल

पंद्रहवीं शताब्दी के अंतिम भाग से लेकर सोलहवीं शताब्दी के अंत तक के इसी शैली के कई चित्र काशी के नागरीप्रचारिणी सभा के भारत कला-भवन को प्राप्त हुए हैं। ये अपने ढंग के अनुपम हैं; क्योंकि इनका विषय कोई कथानक काव्य है जिसकी भाषा कहीं फारसी है और कहीं जायसी काल की हिंदी है। ये चित्र कागज पर खड़े बल में (किताबनुमा) बने हैं। दुर्भाग्य-वश इस ग्रंथ के केवल छः पन्ने हाथ लगे हैं, वे भी अभी ठीक ठीक पढ़े नहीं गए। तथापि उनके मिलने से अब यह चित्रण परिपाटी गुजरात की ही सीमा में न रहकर दो-आब तक खिंच आती है।

यद्यपि राजपूत चित्र-शैली का आविर्भाव इस काल के पूर्व सोलहवीं शताब्दी के अंतिम भाग में हो गया था, पर उसका ठीक ठीक विकास कुछ समय के उपरांत हुआ। डाक्टर कुमारस्वामी और श्रीयुत अजित घोष के संग्रहों में कुछ राग रागिनियों के चित्र हैं जिनके रचना-काल के संबंध में बड़ा मतभेद चला था। अंत में वे सत्रहवीं शताब्दी के प्रारंभिक भाग के लगभग बने माने गए हैं और उनमें चित्रकला के नवीन युग के बीज एवं प्राचीनता के चिह्न स्वीकृत किए गए हैं। राग रागिनियों के चित्र अब तक अविदित थे। पंद्रहवीं शताब्दी को संगीत पुस्तकों तथा सूर और तुलसी के पदों तक में रागों की इस प्रकार की कल्पना नहीं मिलती। तो भी ये राग-परिवार केवल कपोलकल्पना नहीं माने जा सकते, इनमें कुछ न कुछ तत्त्व अवश्य हैं। छः रागों के ध्यान तो निःसंदेह ऋतुओं के अनुसार हैं, और रागिनियों के ध्यान भी संभवतः उनके द्वारा उद्दीप्त भावों का अभिव्यंजन करते हैं। कहा जाता है कि उक्त रागमाला के चित्र राजपूताने अथवा बुँदेलखंड में बने थे। कुछ विद्वानों का कहना है कि ये चित्र मालवा की कलम के हैं क्योंकि उन दिनों वही एक संगीत-प्रधान केंद्र था, पर राजपुताने में भी राग-रागिनियों के चित्र दो ढाई सौ वर्ष पहले के बने मिलते हैं। जो कुछ हो, राजपूत शैली की राजस्थानी शाखा का मुख्य विषय आरंभ से लेकर वर्तमान काल तक रागमाला ही रहा है। इस काल में बारहमासा के चित्रों तथा धार्मिक चित्रों की ओर भी ध्यान दिया गया। धार्मिक चित्रों में कृष्णलीला को ही प्रधानता दी गई। नायिका-भेद या साहित्यक विषयों के चित्र भी कुछ कुछ मिलते हैं। लाहौर म्यूजियम और जयपुर म्यूजियम में हम्मीर-हठ के चित्रों का तथा बृटिश म्यूजियम और भारत कलाभवन में बारहमासे और नायिकाओं के चित्रों का अच्छा संग्रह है। इस शैली के चित्रों में वास्तविकता की ओर उतना ध्यान नहीं दिया जाता था, जितना कल्पना की ओर रहता था। काशिराज के पुस्तकालय के रामचरितमानस, भारत-कला-भवन के अधूरे बालकांड और मधुमालती इसके उदाहरण हैं। बुँदेलखंडी शैली इसी राजस्थान शैली की परवर्ती शाखा थी। हम हिंदी साहित्य के उत्तर मध्य काल का आरंभ केशव की रचनाओं से पाने लगते हैं और चिंतामणि के समय तक उसके प्रत्यक्ष लक्षण देख पड़ते हैं। तदनुसार चित्रकला का उत्तर मध्य काल केशव की समकालीन बुंदेल-जागर्ति से मानना उचित होगा। बुँदेलों ने अकबर और जहाँगीर के काल में अत्यंत साधारण स्थिति से उठकर जो प्रमुखता प्राप्त की

उत्तर मध्य काल

थी, उसका उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं। इस नवीन अभ्युदय के परिणाम-स्वरुप अन्य क्षेत्रों की भाँति चित्रकला के क्षेत्र में भी प्रगति देख पड़ी। इसका लक्ष्य केशव की कविताओं को चित्रित करना, नायिका-भेद एवं रागमाला आदि बनाना था। आगे चलकर दतिया दरबार में इसी कलम की देव, मतिराम और बिहारी की चित्रावली भी बनाई गई। चित्रकारों ने ज्योतिष और धर्मसंबंधी तथा अन्य चित्र भी अंकित किए थे, पर प्रधानता शृंगार की ही थी। बुँदेल चित्रकला का हिंदी साहित्य के विकास के साथ बड़ा घनिष्ठ संबंध है।

राजपूत शैली की दूसरी शाखा पहाड़ी चित्रकला के रूप में विकसित हुई परंतु हमारे अन्वेषण-क्षेत्र से इसका विशेष संबंध नहीं है। काँगड़ा आदि इस चित्रकला के प्रसिद्ध क्षेत्र हिंदी साहित्य के विकास-क्षेत्र के बहुत कुछ बाहर ही रहे। इसी प्रकार सिखों के द्वारा भी अमृतसर में चित्रकला की थोड़ी बहुत उन्नति हुई परंतु उससे हमारा संपर्क बहुत थोड़ा है।

इस देशी चित्रकला के साथ ही यहाँ के मुसलमान अधिपतियों—विशेषकर मुगलों—के संरक्षण में भी चित्रकला का अच्छा विकास हुआ, परंतु यह सब होते हुए भी हमको यह स्वीकार करना पड़ेगा कि मध्यकाल की सबसे लोकप्रिय चित्र-रचना-शैली राजपूताने की ही है जिसका उल्लेख हम अभी कर चुके हैं। यही शैली जनता की चित्तवृत्ति की सबसे अधिक द्योतक है।

संवत् १६१४ के बलवे के साथ ही भारत में जो युगांतर उपस्थित हुआ, उसके साथ यहाँ की चित्रकला प्रायः निःशेष हो गई और

आधुनिक काल

युरोप के बने चित्रों से भारत के रईसों, अमीरों तथा राजाओं के घरों का सजाव-शृंगार होने लगा। यह बात यहाँ तक बढ़ी कि युरोप के भद्दे छपे रंगीन चित्र भारतवर्ष के घर घर में व्याप्त हो गए। उन्नीसवीं शताब्दी के पिछले भाग में रवि वर्मा की बड़ी धूम हुई परंतु उनके बनाए कुछ चित्र तो बहुरुपियों की प्रतिकृति मालूम होते हैं। उनमें कोई लोकोत्तर बात नहीं है, उनसे केवल हिंदू चित्रण-विशेष का पुनरुत्थान अवश्य हुआ। राजा रवि वर्म्मा के इस प्रकार के चित्रों में गंगावतरण और शकुंतला-पत्र-लेखन मुख्य हैं। धुरंधर ने प्राचीन वेष-भूषा की ओर कुछ ध्यान दिया; किंतु उनकी रचनाओं में कोई भाव, रस या प्राण नहीं मिलता।

श्रीयुत अवनींद्रनाथ ठाकुर और उनके उद्भावक स्वनामधन्य श्रीयुत हैवेल के उद्योग से भारत में एक नई चित्रकला का जन्म हुआ

है। अजंता की प्राचीन शैली के मुख्यतः, तथा राजपूत-मुगल शैली की कुछ बातों और चीन जापान की अंकन तथा अभिव्यंजन विधि के मेल से यह नवीन शैली निकली है। इसमें एक निजी मौलिकता है। प्रारंभ में, भावों का व्यंजन करना तथा प्राचीन दृश्य आदि दिखाना इसकी विशेषता थी; पर अब यह लोक के सामान्य दृश्य तथा प्रकृति के उत्तमोत्तम चित्रों का चित्रण भी करती है। ठाकुर महाशय की शिष्य-मंडली देश में इस समय अच्छा काम कर रही है।

कंपनी के समय में पटने में कई कारीगरों ने पाश्चात्य ढंग से "शबीह" बनाने का अभ्यास किया था। मुगल कला की गिरती अवस्था में इनका अच्छा प्रचार हुआ था और अब भी कलकत्ते के प्रो० ईश्वरीप्रसाद और उनके सुपुत्र नारायणप्रसाद एवं रामेश्वरप्रसाद इस शैली के विश्रुत चित्रकार हैं। मुगल शैली के दो तीन बचे चित्रकारों में काशी के श्री रामप्रसाद का आसन बहुत ऊँचा है।

संगीत कला

संगीत का आधार नाद है जिसे या तो मनुष्य अपने कंठ से या कई प्रकार के यंत्रों द्वारा उत्पन्न करता है। इस नाद का नियमन कुछ निश्चित सिद्धांतों के अनुसार किया गया है। इन सिद्धांतों के स्थिरीकरण में हिंदू समाज को अनंत समय लगा है। वेद के तीन स्वरों से बढ़ते बढ़ते संगीत के सप्त स्वर इन सिद्धांतों के आधार हुए। ये ही सप्त स्वर संगीत कला के प्राणरूप या मूल कारण हैं। संगीत कला का आधार या संवाहन नाद है। इसी नाद से हम अपने मानसिक भावों को प्रकट करते हैं। संगीत की विशेषता इस बात में है कि उसका प्रभाव बड़ा व्यापक है और वह अनादि काल से मनुष्य मात्र पर पड़ता चला आ रहा है। जंगली से लेकर सभ्यातिसभ्य मनुष्य तक उसके प्रभाव से वशीभूत हो सकते हैं। मनुष्यों को जाने दीजिए, पशु-पक्षी तक उसका अनुशासन मानते हैं। संगीत हमें रुला सकता है, हँसा सकता है, हमारे हृदय में आनंद की हिलोरें उत्पन्न कर सकता है, हमें शोकसागर में डुबा सकता है, क्रोध या उद्वेग के वशीभूत करके उन्मत्त बना सकता है और शांत रस का प्रवाह बहाकर हमारे हृदय को स्वच्छ और निर्मल कर सकता है। परंतु जैसे अन्य कलाओं के प्रभाव की सीमा है, वैसे ही संगीत की भी सीमा है। संगीत द्वारा भिन्न भिन्न भावों या दृश्यों का अनुभव कानों के द्वारा मन को कराया जा सकता

है; उसके द्वारा तलवारों की झनकार, पत्तियों की खड़खड़ाहट, पक्षियों का कलरव हमारे कर्णकुहरों में पहुँचाया जा सकता है। परंतु यदि कोई चाहे कि वायु का प्रचंड वेग, बिजली की चमक, मेघों की गड़गड़ाहट तथा समुद्र की लहरों के आघात भी हम स्पष्ट देख या सुनकर उन्हें पहचान लें, तो यह बात संगीत की सीमा के बाहर है। संगीत का उद्देश हमारी आत्मा को प्रभावित करना है और इसमें यह कला इतनी सफल हुई है जितनी काव्यकला को छोड़कर और कोई कला नहीं हो सकी। संगीत हमारे मन को अपने इच्छानुसार चंचल कर सकता है और उसमें विशेष भावों का उत्पादन कर सकता है। इस विचार से यह कला वास्तु, मूर्ति और चित्रकला से बढ़कर है। संगीतकला और काव्यकला में परस्पर घनिष्ठ संबंध है। उनमें अन्योन्याश्रय भाव है। एकाकी होने से दोनों का प्रभाव बहुत कुछ कम हो जाता है।

यों तो आर्यों का वैदिक काल से ही संगीत से घनिष्ठ संबंध था और उन्होंने संगीत शास्त्र पर सामवेद रच डाला था। परंतु वि० ११०० के लगभग तो उनकी संगीतकला अत्यधिक उन्नत हो चुकी थी और वे संगीत में आवश्यकता से अधिक संलग्न थे। कुछ विद्वानों की सम्मति में राजपूतों के तत्कालीन पतन का एक प्रधान कारण संगीत था।

आदि काल

उस समय के राजदरबारों में संगीत का विशेष प्रवेश ही नहीं था, वरन् स्वयं राजागण इसके पंडित होते थे। इनमें से नान्यदेव, भोज, परमर्दि चंदेल और जगदेकमल्ल के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। वे संगीत की उन्नति और प्रचार के लिये उसकी शिक्षा की व्यवस्था करते थे और समय समय पर उसके सम्मेलन भी कराते थे। जिस प्रकार नाट्यकला के आदि आचार्य भरत मुनि माने जाते हैं उसी प्रकार संगीतकला के आदि आचार्यों में भी उनका स्थान विशिष्ट है। उनका नाट्यशास्त्र केवल अभिनय कला का ही प्रमुख शास्त्रीय ग्रंथ नहीं है, वरन् संगीत और नृत्य कलाओं के संबंध में भी वह भरत मुनि की विशेष योग्यता तथा अनुभव का परिचायक है।

संवत् १२५० के लगभग का संगीताचार्य शार्ङ्गदेव का लिखा हुआ "संगीतरत्नाकर" नामक एक प्रामाणिक ग्रंथ है। उसे देखने से जान पड़ता है कि उस समय देश भर में जो संगीत प्रचलित था, उसका प्रकृत वंशधर वर्तमान कर्णाटकी संगीत है। उसमें जो गेय कविताएँ मिलती हैं वे संस्कृत की हैं, परंतु बोलचाल की भाषा में भी गीतों की रचना उसके पहले ही से होती थी। संस्कृत तथा बोलचाल की भाषा

की कविताएँ सतुकांत होती थीं। जान पड़ता है कि सतुकांत कविता की सृष्टि संगीत के ही कारण हुई होगी। आज भी गायक समुदाय ऐसे भजनों का व्यवहार कम करते हैं जिनमें तुकों का जोड़ बदला रहता है। शार्ङ्गदेव के उपरांत इस देश में, विदेशीय रागों के सम्मिश्रण से उस संगीत का जन्म हुआ जिसे हम हिंदुस्तानी संगीत कहते हैं। लोकोत्तर प्रतिभाशाली, अद्भुत मर्मज्ञ और सहृदय अमीर खुसरो को इस नवीन परंपरा के सृजन का श्रेय प्राप्त है। उसने अपनी विलक्षण बुद्धि द्वारा भारतीय रागों को फारस के रागों से मिलाकर १५-२० नए रागों की कल्पना की, जिनमें से ५-६ आज भी हिंदुस्तानी संगीत में प्रचलित हैं। ईमन और शहाना आदि ऐसे ही राग हैं। ख्याल परिपाटी का गाना उन्हीं ने निकाला था।

जौनपुर की पठान सल्तनत ने भी संगीत की विशेष उन्नति की थी। हुसेनशाह शर्की स्वयं बहुत बड़े गायक थे। उन्होंने कई रागों की परिकल्पना की थी और एक दूसरी परिपाटी के ख्याल का गाना चलाया था। इन्हीं दिनों मेवाड़ के राणा कुंभा ने संस्कृत के गीतगोविंद पर एक टीका लिखी थी और संगीत कला पर अच्छा प्रकाश डाला था। इस काल में संगीत के अनेक ग्रंथ लिखे गए जिससे सिद्ध होता है कि संगीत की इस समय अच्छी उन्नति हुई थी।

पूर्व मध्य काल

इस काल में अलाउद्दीन खिलजी के दरबार में गोपाल नायक नामक संगीत के अच्छे आचार्य हुए। अलाउद्दीन यद्यपि अत्याचारी था, परंतु गुणियों का ग्राहक भी था। गोपाल को वह दक्षिण से लाया था, जिसकी रचनाएँ अब तक मिलती हैं, किंतु उनमें बहुत सा प्रक्षिप्त अंश अब मिल गया है।

संगीत के प्रसिद्ध आचार्य और गायक बैजू बावरा का समय सोलहवीं शताब्दी का आरंभिक भाग है। वे गुजरात में उत्पन्न हुए थे और ग्वालियर के राजा मान तोमर के यहाँ उन्होंने शिक्षा पाई थी। ये महाराज स्वयं संगीत में पारंगत थे और ध्रुपद प्रणाली के परिष्कारक, उन्नायक तथा प्रचारक थे। ध्रुपद संस्कृत छंद पर अवलंबित है और ध्रुवा नामक गीत से इसका घनिष्ठ संबंध है। मान तोमर के समय से लेकर मुहम्मदशाह रँगीले के समय तक इस प्रणाली का एकच्छत्र राज्य रहा। अब भी यह प्रणाली सर्वश्रेष्ठ मानी जाती है, यद्यपि लोकरुचि इस समय इसकी ओर नहीं है। यहाँ यह उल्लेख कर देना आवश्यक होगा कि संगीत की यह पद्धति कलावंतों की पद्धति है, जिसे आजकल पक्का गाना कहते हैं। इसके अतिरिक्त गाने की दो शैलियाँ और भी

है; उसके द्वारा तलवारों की झनकार, पत्तियों की खड़खड़ाहट, पक्षियों का कलरव हमारे कर्णकुहरों में पहुँचाया जा सकता है। परंतु यदि कोई चाहे कि वायु का प्रचंड वेग, बिजली की चमक, मेघों की गड़गड़ाहट तथा समुद्र की लहरों के आघात भी हम स्पष्ट देख या सुनकर उन्हें पहचान लें, तो यह बात संगीत की सीमा के बाहर है। संगीत का उद्देश हमारी आत्मा को प्रभावित करना है और इसमें यह कला इतनी सफल हुई है जितनी काव्यकला को छोड़कर और कोई कला नहीं हो सकी। संगीत हमारे मन को अपने इच्छानुसार चंचल कर सकता है और उसमें विशेष भावों का उत्पादन कर सकता है। इस विचार से यह कला वास्तु, मूर्ति और चित्रकला से बढ़कर है। संगीतकला और काव्यकला में परस्पर घनिष्ठ संबंध है। उनमें अन्योन्याश्रय भाव है। एकाकी होने से दोनों का प्रभाव बहुत कुछ कम हो जाता है।

यों तो आर्यों का वैदिक काल से ही संगीत से घनिष्ठ संबंध था और उन्होंने संगीत शास्त्र पर सामवेद रच डाला था। परंतु वि० ११०० के लगभग तो उनकी संगीतकला अत्यधिक उन्नत हो चुकी थी और वे संगीत में आवश्यकता से अधिक संलग्न थे। कुछ विद्वानों की सम्मति में राजपूतों के तत्कालीन पतन का एक प्रधान कारण संगीत था।

आदि काल

उस समय के राजदरबारों में संगीत का विशेष प्रवेश ही नहीं था, वरन् स्वयं राजागण इसके पंडित होते थे। इनमें से नान्यदेव, भोज, परमर्दि चंदेल और जगदेकमल्ल के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। वे संगीत की उन्नति और प्रचार के लिये उसकी शिक्षा की व्यवस्था करते थे और समय समय पर उसके सम्मेलन भी कराते थे। जिस प्रकार नाट्यकला के आदि आचार्य भरत मुनि माने जाते हैं उसी प्रकार संगीतकला के आदि आचार्यों में भी उनका स्थान विशिष्ट है। उनका नाट्यशास्त्र केवल अभिनय कला का ही प्रमुख शास्त्रीय ग्रंथ नहीं है, वरन् संगीत और नृत्य कलाओं के संबंध में भी वह भरत मुनि की विशेष योग्यता तथा अनुभव का परिचायक है।

संवत् १२५० के लगभग का संगीताचार्य शार्ङ्गदेव का लिखा हुआ "संगीतरत्नाकर" नामक एक प्रामाणिक ग्रंथ है। उसे देखने से जान पड़ता है कि उस समय देश भर में जो संगीत प्रचलित था, उसका प्रकृत वंशधर वर्तमान कर्णाटकी संगीत है। उसमें जो गेय कविताएँ मिलती हैं वे संस्कृत की हैं, परंतु बोलचाल की भाषा में भी गीतों की रचना उसके पहले ही से होती थी। संस्कृत तथा बोलचाल की भाषा

की कविताएँ सतुकांत होती थीं। जान पड़ता है कि सतुकांत कविता की सृष्टि संगीत के ही कारण हुई होगी। आज भी गायक समुदाय ऐसे भजनों का व्यवहार कम करते हैं जिनमें तुकों का जोड़ बदला रहता है। शार्ङ्गदेव के उपरांत इस देश में, विदेशीय रागों के सम्मिश्रण से उस संगीत का जन्म हुआ जिसे हम हिंदुस्तानी संगीत कहते हैं। लोकोत्तर प्रतिभाशाली, अद्भुत मर्मज्ञ और सहृदय अमीर खुसरो को इस नवीन परंपरा के सृजन का श्रेय प्राप्त है। उसने अपनी विलक्षण बुद्धि द्वारा भारतीय रागों को फारस के रागों से मिलाकर १५-२० नए रागों की कल्पना की, जिनमें से ५-६ आज भी हिंदुस्तानी संगीत में प्रचलित हैं। ईमन और शहाना आदि ऐसे ही राग हैं। ख्याल परिपाटी का गाना उन्हीं ने निकाला था।

जौनपुर की पठान सल्तनत ने भी संगीत की विशेष उन्नति की थी। हुसेनशाह शर्की स्वयं बहुत बड़े गायक थे। उन्होंने कई रागों की परिकल्पना की थी और एक दूसरी परिपाटी के ख्याल का गाना चलाया था। इन्हीं दिनों मेवाड़ के राणा कुंभा ने संस्कृत के गीतगोविंद पर एक टीका लिखी थी और संगीत कला पर अच्छा प्रकाश डाला था। इस काल में संगीत के अनेक ग्रंथ लिखे गए जिससे सिद्ध होता है कि संगीत की इस समय अच्छी उन्नति हुई थी।

पूर्व मध्य काल

इस काल में अलाउद्दीन खिलजी के दरबार में गोपाल नायक नामक संगीत के अच्छे आचार्य हुए। अलाउद्दीन यद्यपि अत्याचारी था, परंतु गुणियों का ग्राहक भी था। गोपाल को वह दक्षिण से लाया था, जिसकी रचनाएँ अब तक मिलती हैं, किंतु उनमें बहुत सा प्रक्षिप्त अंश अब मिल गया है।

संगीत के प्रसिद्ध आचार्य और गायक बैजू बावरा का समय सोलहवीं शताब्दी का आरंभिक भाग है। वे गुजरात में उत्पन्न हुए थे और ग्वालियर के राजा मान तोमर के यहाँ उन्होंने शिक्षा पाई थी। ये महाराज स्वयं संगीत में पारंगत थे और ध्रुपद प्रणाली के परिष्कारक, उन्नायक तथा प्रचारक थे। ध्रुपद संस्कृत छंद पर अवलंबित है और ध्रुवा नामक गीत से इसका घनिष्ठ संबंध है। मान तोमर के समय से लेकर मुहम्मदशाह रँगीले के समय तक इस प्रणाली का एकच्छत्र राज्य रहा। अब भी यह प्रणाली सर्वश्रेष्ठ मानी जाती है, यद्यपि लोकरुचि इस समय इसकी ओर नहीं है। यहाँ यह उल्लेख कर देना आवश्यक होगा कि संगीत की यह पद्धति कलावंतों की पद्धति है, जिसे आजकल पक्का गाना कहते हैं। इसके अतिरिक्त गाने की दो शैलियाँ और भी

प्रचलित थीं। एक तो पदभजन की, जिसके ज्ञात आदि आचार्य जयदेव जी कहे जा सकते हैं और जिसके अधिक प्रचार का श्रेय तानसेन, उनके गुरु स्वामी हरिदास तथा हितहरिवंश जी को प्राप्त है। विद्यापति, मीरा, सूर, तुलसी आदि की कविता भी इसी प्रकार की है। इस ढंग के सभी गायक वैष्णव हुए हैं अतएव इसे वैष्णव शैली कहना उपयुक्त जान पड़ता है। इन लोगों ने स्वरों का सौंदर्य दिखाने की ओर अधिक ध्यान नहीं दिया, वे अधिकतर रसों और भावों की अभिव्यक्ति ही करते रहे। दूसरी प्रणाली संतों के गान की है। इन अनंत प्रेम के मतवालों ने, जिनमें हिंदू और मुसलमान दोनों सम्मिलित हैं, बड़ी मस्ती से गाया है। मुसलमान संतों के इस गान के कव्वाली, सनमगनम आदि विभेद हुए और हिंदू संतों के गान "बानी" कहलाए। यहाँ बानी का अर्थ वाङ्मय रचना नहीं है, यह शब्द उन रचनाओं के गान की रंगत का द्योतक है।

अकबर के समय में अन्य सभी कलाओं की भाँति संगीत की भी उन्नति हुई। स्वयं सम्राट् भी नक्कारा बजाने में सिद्धहस्त थे। उनकी बनाई नक्कारे की कुछ नई गतें अब तक 'अकबरी' गत के नाम से प्रचलित हैं। इसी समय के स्वामी हरिदास वैष्णव महात्मा तथा संगीताचार्य हुए। इनके शिष्य तानसेन वर्तमान हिंदुस्तानी संगीत के मूलपुरुष हैं। तानसेन पहले रीवाँ दरबार में थे, वहाँ से सम्राट् के पास उपहार स्वरूप भेजे गए थे। पहले ये ब्राह्मण थे, पीछे से मुसलमान हो गए। इनकी कब्र ग्वालियर में है जहाँ कलावंत तीर्थ करने जाते हैं। अकबर और उसके वंशजों के दरबार में भारत के संगीत को ही स्थान मिला था और रबाब, सारंगी आदि जो विदेशीय वाद्य यंत्र थे वे भी हिंदुस्तानी संगीत के अनुकूल बना लिए गए थे। अकबर के समय में ही पदभजन के अद्वितीय गायक और रचयिता महात्मा सूरदास हुए जिन्होंने साहित्य और संगीत का अद्वितीय सफलता से संयोग किया। *जहाँगीर और शाहजहाँ के राजत्वकाल में अकबरी संगीत* का ही अलंकरण होता रहा; कोई मौलिक उद्भावना नहीं हुई। महाकवि तुलसीदास की रचनाओं से भी उनकी संगीतज्ञता का परिचय मिलता है।

औरंगजेब के समय में संगीत पर बड़ा कुठाराघात हुआ। क्रूर सम्राट् ने कड़ी आज्ञा देकर दरबार से संगीत का बहिष्कार कर दिया।

उत्तर मध्य काल

यद्यपि मुहम्मदशाह रँगीले के राज्य में संगीत की पुनर्जागर्ति के चिह्न देख पड़े परंतु वह अपना असली रूप नहीं पा सका। मुहम्मदशाह के समय में धुरपद बानी के

'ख्याल' का खूब प्रचार हुआ था और पंजाब के मियाँ शोरी नामक एक उस्ताद ने "टप्पा" नामक गानशैली को जन्म दिया था जिसमें गले से "दानेदार" तान निकालने की अद्‌भुत विशेषता है।

दिल्ली के नाश के साथ साथ वहाँ का गायक-समुदाय भी छिन्न-भिन्न होने लगा। राजाओं तथा नवाबों ने उसे आश्रय दिया। मराठों ने संगीत को खूब अपनाया। ख्याल के पिछले सभी आचार्य ग्वालियर में ही हुए। अब भी ख्याल का वह सबसे बड़ा केंद्र है।

कृष्णानंद व्यास नामक एक संगीतप्रेमी किंतु अर्थहीन ब्राह्मण सज्जन ने असाधारण परिश्रम करके सं० १६०२ के लगभग 'राग-कल्पद्रुम' नामक संग्रह चार विशाल खंडों में प्रकाशित किया। गेय साहित्य का सचमुच यह ग्रंथ कल्पद्रुम है। उस काल में भारत के एक छोर से दूसरे छोर तक संकीर्णचित्त गायकों से उनकी चीजों का संग्रह करना अवश्य ही भगीरथ प्रयत्न था।

अवध के अधीश्वर वाजिद अली शाह ने ठुमरी नामक गान-शैली की परिपाटी चलाई। यह संगीत-प्रणाली का अन्यतम स्त्रैण और शृंगारिक रूप है। इस प्रकार अकबर के समय के ध्रुपद की गंभीर परिपाटी, मुहम्मदशाह द्वारा अनुमोदित ख्याल की चपल शैली, उन्हीं के समय में आविष्कृत टप्पे की रसमय और कोमल गायिकी तथा वाजिद अली शाह के समय की रँगीली रसीली ठुमरी अपने अपने आश्रयदाताओं की मनोवृत्ति की ही परिचायक नहीं, लोक की प्रौढ़ रुचि में जिस क्रम से पतन हुआ, उसका इतिहास भी है।

वर्तमान काल

वर्तमान संगीत की दशा बहुत गिरी हुई है। प्राचीन गायक केवल स्वरों का रियाज़ और कलाबाजी दिखाना ही संगीत समझते हैं, गेय कविता बुरी तरह से तोड़-मरोड़ दी गई है। हारमोनियम के प्रचार और थियेट्रिकल गाने की अभिरुचि ने भारतीय संगीत पर विशेष आघात पहुँचाया है। हारमोनियम का एक स्वर दूसरे स्वर से जुड़कर नहीं बज सकता, अतः उसमें श्रुतियाँ या मीड़ नहीं निकल सकतीं; और हिंदुस्तानी संगीत की यह एक प्रधान विशेषता है कि उसमें दो तो क्या चार चार पाँच पाँच स्वर मीड़ वा तान के रूप में एक साथ आश्लिष्ट हो जाते हैं।

प्राचीन हिंदू संगीत कोंकण और मद्रास में जीवित रह आया है। वीणा तंत्र भी वहीं अब तक जीवित है। प्राचीन संगीत के उद्धार, परिष्कार और उन्नति के लिये श्रीविष्णु दिगंबर और श्रीविष्णु नारायण भातखंडे ने बहुत उद्योग किया है और कर रहे हैं। भातखंडेजी संगीत

के प्रयोग के ही नहीं, शास्त्र के भी बहुत बड़े विद्वान् हैं और उन्होंने स्वरलिपि की जो पद्धति निकाली है, वह बहुत सरल, संक्षिप्त और प्रायः सर्वमान्य है। रागों के लक्षण के गीत तत् तत् रागों में बाँधकर उन्होंने संगीत के विद्यार्थियों का मार्ग बहुत सुगम कर दिया है। उनके उद्योग और प्रेरणा से बड़ौदा, ग्वालियर, बंबई, लखनऊ तथा अन्य कई स्थानों में संगीत की बड़ी बड़ी और सफल पाठशालाएँ चल रही हैं।

बंगाल भी आज से ५० वर्ष पहले से ही आधुनिक संगीत में दत्त-चित्त है। स्वर्गीय राजा सौरेंद्रमोहन ठाकुर और कृष्णधन बंद्योपाध्याय आदि ने इस क्षेत्र में बहुत बड़ा प्रयत्न किया था। कवि रवींद्रनाथ ठाकुर के संगीत का एक निराला ढंग है, पर वह सर्वमान्य नहीं है। वहाँ के जिस संगीत में लोकाभिरुचि है, वह यद्यपि हिंदुस्तानी संगीत है, किंतु उस पर पाश्चात्य संगीत की छाया विशेष पड़ी है। इस समय संगीत के उन्नयन के लिये जो उद्योग पूना के बालिका-विश्वविद्यालय, काशी-विश्वविद्यालय, बोलपुर के विश्व भारती विद्यालय आदि में हो रहा है उससे इसका भविष्य बहुत कुछ आशाप्रद जान पड़ता है।

उपसंहार

ऊपर हम विविध कलाओं के विकास का जो संक्षिप्त विवरण दे आए हैं उससे कुछ निष्कर्षों पर पहुँचते हैं। सब कलाएँ मानव चित्त-वृत्तियों की अभिव्यक्ति हैं। जिस देश में जिस काल में हमारी जैसी चित्तवृत्ति रहती है वैसी ही प्रगति ललित कलाओं की होना स्वाभाविक है। हमने हिंदी साहित्य के इतिहास को चार कालों में विभक्त किया है और प्रत्येक काल की परिस्थिति का विवेचन किया है। अन्य ललित कलाओं का दिग्दर्शन करते हुए भी हमने साहित्य के उपर्युक्त चार काल-विभागों को प्रधानता दी है और उसी के अनुरूप सब ललित कलाओं का काल-विभाग भी किया है। इस प्रकार जब हम विभिन्न कालों की साहित्यिक परिस्थिति के साथ उन उन समयों की ललित कलाओं की परिस्थिति की तुलना करते हैं तब एक ओर तो हम उनमें बहुत कुछ समता पाते हैं, पर जहाँ कुछ विभेद मिलता है वहाँ उस काल की जनता की उन चित्तवृत्तियों की ओर हमारा ध्यान आकर्षित होता है जिनका प्रतिबिंब साहित्य में नहीं देख पड़ता। इससे हमको बहुत कुछ व्यापक रीति से तत्कालीन स्थिति को समझने में सहायता मिलती है।

हिंदी का आदि काल वीर गाथाओं का काल था। प्रबंध काव्यों और वीर गीतों के रूप में वीरों की प्रशस्तियाँ कही गईं। वीरता के

साथ तत्कालीन विलासिता का चित्र भी उस काल की रचनाओं में मिलता है। भाषा की तत्कालीन रूक्षता भी एक प्रकार की कर्कशता का ही बोध कराती है। उस काल की वास्तुकला और मूर्तिकला को पहले लीजिए। शैव और शाक्त मतों की उन्नति थी, इसलिये शिव-मंदिरों में सबसे अधिक मौलिकता देख पड़ी, अन्य मंदिर उनके अनुकरण में बनाए गए। मूर्तियों में अलंकरण बढ़ रहे थे और भाव-भंगी कम हो रही थी। यह तत्कालीन जनता की बाह्य शृंगारप्रिय तथा गंभीर अनुभूतिहीन चित्तवृत्ति का सूचक है। चित्रकला भी बहुत कुछ ऐसी ही रही। प्राकृतिक और अपभ्रंश ग्रंथों में चित्र-रचना के जो उल्लेख मिलते हैं, वे उस काल के पूर्व के हैं। उस काल की प्रधान गुजराती चित्रण-शैली का पतन हो रहा था, केवल जैनों में उसका थोड़ा बहुत प्रचार और उन्नति हुई थी। संगीत में आवश्यकता से अधिक संलग्न रहने के कारण राजपूतों की शक्ति क्षीण पड़ रही थी। आधुनिक कर्णाटकी संगीत की मूल शैली का उस समय अच्छा प्रचार था।

हिंदू और मुसलमानों के संघर्ष के उपरांत दोनों जातियों में भावों और विचारों का आदान प्रदान होने लगा। साहित्य में इसका सबसे मुख्य प्रमाण कबीर और जायसी आदि की वाणी है। परंतु साहित्य में हिंदू और मुसलिम मतों का सम्मिश्रण कुछ देर से देख पड़ता है। अन्य कलाओं में मुसलमानी प्रभाव कुछ पहले से ही पड़ने लगा था। वीरगाथा काल में मूर्तियों की अधोगति का कारण मुसलमानों का मूर्ति-विद्रोह था। देहली की मुसलमानी इमारतों में भारतीय शैलियाँ स्वीकृत की गईं और हिंदू मंदिरों के निर्माण में कुछ मुसलिम आदर्श आ मिले। परंतु संगीत में तो इन दोनों जातियों के योग से अभूतपूर्व परिवर्तन हुआ। इस परिवर्तन के विधायक संगीताचार्य अमीर खुसरो थे, जो आधुनिक खड़ी बोली हिंदी के आदि आचार्य माने जाते हैं।

हिंदी साहित्य का भक्तिकाल उसके चरम उत्कर्ष का काल था। भाषा की प्रौढ़ता के साथ विचारों की व्यापकता और जीवन की गंभीर समस्याओं पर ध्यान देने का यही समय था। विशाल मुगल साम्राज्य के प्रधान नायक अकबर के राजत्वकाल में यह संभव न था कि साहित्य के विकास के साथ सभी ललित कलाओं का विकास न होता। जो काल साहित्य में सूर और तुलसी को उत्पन्न कर सका था वही काल कलाओं की सामूहिक उन्नति का था। अकबर की सामंजस्य बुद्धि और उदारता की स्पष्ट छाप फतहपुर सिकरी की इमारतों में तो देख ही पड़ती है, वह तानसेन आदि प्रसिद्ध संगीतज्ञों की आविष्कृत संगीत-

शैलियों में भी देख पड़ती है। चित्रकला भी बहुत दिनों तक पिछड़ी न रह सकी। शीघ्र ही उस राजपूतशैली का बीजारोपण हुआ जो आगे चलकर भारत की, अपने ढंग की, अनोखी अंकन प्रणाली सिद्ध हुई। हिंदू मंदिरों में भी मुसलिम प्रभाव पड़े। मानसिंह के निर्मित भवनों में मुसलिम-निर्माण विधि का बहुत अधिक अनुकरण था। राजपूताने की भवन निर्माण शैली पर मुसलिम कला की छाप अमिट है।

विकास के उपरांत ह्रास और ह्रास के उपरांत विकास का क्रम सर्वत्र देखा जाता है। सूर और तुलसी के पीछे देव और विहारी का युग आया। विलासिता और शृंगारिकता का प्रवाह प्रबल पड़ा। साहित्य कुत्सित वासनाओं के प्रदर्शन का साधन बन गया। उसका उच्च लक्ष्य भुला दिया गया। यह शाहजहाँ और औरंगजेब का काल था। इस काल का प्रसिद्ध "ताजमहल" वास्तुकला के चरम उत्कर्ष का आदर्श माना जा सकता है। परंतु उसी समय अवनति का भी प्रारंभ हुआ। औरंगजेब धार्मिक नृशंसता का प्रतिनिधि और कलाओं का संहारक था। सुंदर हिंदू-मंदिरों को भंग कर जो उजाड़ मस्जिदें उसने बनवाईं उनसे उसकी हृदयहीनता का पता लग जाता है। उसने मुसलिम धर्म के आज्ञानुसार नाच गान आदि बंद करा दिया था, जिससे संगीत-कला को बड़ी क्षति पहुँची। मूर्तियों और चित्रों का भी ह्रास ही हुआ।

इस पतनकाल में महाराष्ट्र शक्ति का अभ्युदय हुआ था जिससे साहित्य की शृंगारधारा में भूषण की ओजस्विनी रचनाएँ देख पड़ीं। मराठों में उत्कट कला-प्रेम का बीज था, परंतु वे सुख-शांति-पूर्वक नहीं रहे, निरंतर युद्ध में ही व्यस्त रहे। फिर भी उन्होंने संगीत-कला की थोड़ी बहुत उन्नति की, और काशी के मंदिरों और घाटों के रूप में अपनी वास्तु-कला-दक्षता का परिचय दिया। इसके कुछ समय पीछे सिख शक्ति का अभ्युत्थान हुआ पर इसी बीच में अँगरेजों के आ जाने और राज्यस्थापन में प्रवृत्त होने से जो अशांति फैली, उसके कारण कलाओं की उन्नति रुक गई।

आधुनिक काल में यद्यपि साहित्य की अनेकमुखी धाराएँ बह निकली हैं, पर अब तक इनमें गहराई नहीं आई है। पश्चिमीय आदर्शों की छाप और नकल अधिक देख पड़ने लगी है। आशा है कि शीघ्र ही हम नकल का पीछा छोड़ साहित्य में ही नहीं प्रत्युत प्रत्येक ललित कला में अपने आदर्शों की रक्षा करते हुए स्वतंत्र रूप से उन्नति करेंगे।

चौथा अध्याय

वीरगाथा काल

हिंदी साहित्य के आदि युग के संबंध में इतिहासवेत्ताओं तथा भाषाशास्त्रियों ने अब तक जितनी खोज की है वह विशेष संतोषजनक नहीं कही जा सकती। उतने से अभी तक न तो हिंदी के उत्पत्तिकाल का ठीक पता चलता है और न उसके आरंभिक स्वरूप का निश्चय हो सकता है। यद्यपि यह सत्य है कि हिंदी की उत्पत्ति अपभ्रंश भाषाओं के अनंतर हुई, परंतु इस अपभ्रंश-परंपरा का कब अंत हुआ और कब हिंदी पहले पहल प्रयोग में आई, इसका पता निश्चित रीति से अब तक नहीं लग सका है। भाषाएँ क्रमशः एक रूप से दूसरे रूप में परिवर्तित होती हैं और यह परिवर्तन या विकास उनकी उत्पत्ति से ही आरंभ होता है। इस अवस्था में हिंदी ही नहीं, किसी भाषा की उत्पत्ति का ठीक ठीक काल निश्चित करना असंभव है। परंतु साहित्य के संबंध में यह नहीं कहा जा सकता। (जब भाषाएँ कथ्य अवस्था से निकलकर साहित्य अवस्था में आती हैं तभी से उनके साहित्य का आरंभ माना जा सकता है। पर इस दिशा में भी अभी तक पूरी पूरी खोज नहीं हुई है। हिंदी के कुछ इतिहासलेखकों ने उसके आदि युग का प्रारंभ विक्रम की सातवीं शताब्दी से माना है; और अपने मत का समर्थन अलंकार तथा रीति-संबंधिनी एक ऐसी पुस्तक के नामोल्लेख से किया है जो अब तक अप्राप्य है तथा जिसके एक भी उद्धृत अंश के अब तक किसी को दर्शन नहीं हुए हैं। हम इस मत के समर्थक नहीं हैं। एक तो किसी लक्षण ग्रंथ को साहित्य के आदि युग की पहली पुस्तक मानने में यों ही बड़ी द्विविधा होती है; पर यदि संस्कृत साहित्य के परिणाम-स्वरूप ऐसा संभव भी हो तो भी यह स्पष्ट ही है कि इस अलंकार ग्रंथ की रचना के उपरांत लगभग दो तीन सौ वर्षों तक कोई दूसरी पुस्तक हिंदी में नहीं लिखी गई, अथवा यदि लिखी गई, तो अब उसका कहीं पता नहीं है। साथ ही हम यह भी देखते हैं कि विक्रम की आठवीं, नवीं तथा दसवीं शताब्दियों में प्राकृत अथवा अपभ्रंश की पुस्तकें लिखी जाती थीं, और उनमें से अनेक पुस्तकें तथा पद्य हमें इस समय भी

हिंदी साहित्य का आरंभ

प्राप्य हैं। हेमचंद्र के प्रसिद्ध व्याकरण में नागर अपभ्रंश के जो उदाहरण मिलते हैं, उनमें हिंदी के प्राथमिक स्वरूप की झलक दिखाई देती है। उनका व्याकरण विक्रम के बारहवें शतक का है। हेमचंद्र के इन उदाहरणों को हम उनकी सम-सामयिक रचनाएँ न मानकर कुछ पहले की मानेंगे, क्योंकि ये उदाहरण तो उद्धरण मात्र हैं; और अधिकतर उद्धरण अपने से प्राचीन लेखकों की कृतियों से ही लिए जाते हैं। अतः हम कह सकते हैं कि हिंदी की उत्पत्ति अपभ्रंश काल के समाप्त होते ही विक्रम की ग्यारहवीं शताब्दी के लगभग हुई होगी। जिस समय अपभ्रंश साहित्य अपने आसन से क्रमशः च्युत हो रहा था, उस समय हिंदी संभवतः उस आसन को प्राप्त करने के लिये उन्मुख हो रही थी। अतएव हिंदी भाषा के बोल-चाल के प्रयोग के आरंभ तथा उसके साहित्यनिर्माण में प्रयुक्त होने में अवश्य ही कुछ अंतर रहा होगा। ग्यारहवीं शताब्दी से हिंदी साहित्य की जो शृंखला चली, वह बीच में कहीं टूटी नहीं, बराबर अब तक चली चलती है।

ग्रंथों का अभाव

ऐतिहासिक अनुसंधान से अब तक इस युग की जितनी पुस्तकों का पता लगा है, एक तो उनकी संख्या बहुत थोड़ी है, और दूसरे उनमें प्रक्षिप्त अंश की इतनी अधिकता है कि तत्कालीन रचनाओं को पीछे की रचनाओं से अलग करना कठिन ही नहीं वरन् कभी कभी तो सर्वथा असंभव हो जाता है। कुछ पुस्तकों में तो इतिहास की तिथियों तथा घटनाओं का इतना अधिक विरोध मिलता है कि उन्हें सम-सामयिक रचना मानने में बहुत ही असमंजस होता है। इन पुस्तकों की भाषा भी इतनी बे-ठिकाने और अनियमित है कि तथ्य-निरूपण में उसकी भी सहायता नहीं ली जा सकती। ऐसी अवस्था में हमको बहुत कुछ अनुमान पर ही अवलंबित रहना पड़ता है, क्योंकि अन्य उपलब्ध साधनों से हम निश्चित उद्देश तक नहीं पहुँच सकते।

अभाव के कारण

जब हम इस बात पर विचार करते हैं कि हिंदी साहित्य के आदि काल के लगभग तीन चार वर्षों में इतनी थोड़ी रचनाएँ क्यों हुई तब एक ओर तो हमारा ध्यान अब तक के अधूरे साहित्यिक अनुसंधान पर जाता है और दूसरी ओर तत्कालीन परिस्थिति पर भी हमारी दृष्टि जाती है। प्राचीन हिंदी पुस्तकों की खोज का काम अब तक विशेष रूप से संयुक्त प्रदेश में ही हुआ है, जहाँ से हिंदी साहित्य के वीरगाथा काल का इतिवृत्त संकलित करने की बहुत कम सामग्री प्राप्त हुई है। इस काल में भारतवर्ष का

पश्चिमीय भाग—जहाँ कन्नौज, दिल्ली, अजमेर तथा अन्हलवाड़ा आदि के बड़े बड़े राज्य प्रतिष्ठित थे—बल और वैभव का केंद्र था और इन्हीं स्थानों पर मुसलमानी आक्रमणों का बवंडर आकर उन्हें नष्ट भ्रष्ट करता रहा। इस अवस्था में उस समय की यदि बची बचाई सामग्री कहीं से प्राप्त हो सकती है, तो वह राजपूताने में ही हो सकती है, जहाँ उस समय के राज्यों के स्थान पर उनके भग्नावशेष रूप में नए राज्य इस समय तक प्रतिष्ठित हैं। पर वहाँ के नृपतियों की इस ओर रुचि ही नहीं है; अतएव वहाँ के राज्यों में जो कुछ साहित्यिक सामग्री बची बचाई पड़ी हुई है, उसके प्राप्त करने का कोई उपाय नहीं है। संभावना यह है कि काल की गति से वह सामग्री भी नष्ट हो जाय। यदि राजपूताने में प्राचीन हिंदी पुस्तकों की खोज का काम व्यवस्थित रूप से किया जाय, तो संभव है कि बहुत कुछ उपयोगी सामग्री प्राप्त हो जाय। यह भी संभव है कि हिंदी साहित्य के उस युग में देश की राजनीतिक तथा सामाजिक परिस्थिति के कारण न तो किसी कला की ही विशेष उन्नति हुई हो और न अनेक साहित्यिक ग्रंथों का ही निर्माण हुआ हो। तत्कालीन मूर्तिनिर्माणकला तथा वास्तुकला के जो अवशेष इस समय मिलते हैं, एक तो उनकी संख्या अधिक नहीं है और दूसरे उनमें विदेशीय भावों तथा आदर्शों की ही झलक अधिक दिखाई पड़ती है। शुद्ध भारतीय आदर्शों का आधार लेकर किसी महत्त्वपूर्ण मूर्ति अथवा मंदिर का निर्माण संभवतः हुआ ही नहीं। जब अन्य कलाओं की ऐसी अवस्था थी, तब यह आशा नहीं की जा सकती कि उस काल में साहित्यकला की सर्वतोमुखी उन्नति हुई होगी अथवा अनेक उत्कृष्ट ग्रंथों का निर्माण हुआ होगा।

राजनीतिक स्थिति

वह युग घोर राजनीतिक हलचल तथा अशांति का था। भारत के सिंध आदि पश्चिमीय प्रदेशों पर अरबों के आक्रमण तो बहुत पहले से प्रारंभ हो चुके थे और एक विस्तृत भूभाग पर उनका आधिपत्य भी बहुत कुछ स्थायी रीति से प्रतिष्ठित हो चुका था, परंतु पीछे समस्त उत्तरापथ विदेशियों से पदाक्रांत होने लगा और मुसलमानों की विजयवैजयंती लाहौर, देहली, मुलतान तथा अजमेर आदि में भी फहराने लगी। महमूद गजनवी के आक्रमणों का यही युग था और शहाबुद्दीन मुहम्मद गोरी ने भी इसी काल में भारत-विजय के लिये प्रयत्न किए थे। पहले तो इस देश पर विदेशियों के आक्रमण, स्थायी अधिकार प्राप्त करके शासन करने के उद्देश से नहीं, केवल यहाँ की अतुल संपत्ति लूट ले जाने की इच्छा से,

हुआ करते थे। महमूद गजनवी ने इसी आशय से सत्रह बार चढ़ाई की थी और यह देश के विभिन्न स्थानों से विपुल संपत्ति ले गया था। परंतु कुछ समय के उपरांत आक्रमणकारियों के लक्ष्य में परिवर्तन हुआ, वे कुछ तो धर्मप्रचार की इच्छा से और कुछ यहाँ की सुख-समृद्धिशाली अवस्था तथा विपुल धन-धान्य से आकृष्ट होकर इस देश पर अधिकार जमाने की धुन में लगे। यहाँ के राजपूतों ने उनके साथ लोहा लिया और वे उनके प्रयत्नों को निष्फल करके उन्हें बहुत समय तक पराजित करते रहे, जिससे उनके पैर पहले तो जम नहीं सके; पर धीरे धीरे राजपूत शक्ति अंतर्कलह से क्षीण होती गई और अंत में उसे इस्लामी शक्ति के प्रबल वेग के आगे सिर झुकाना पड़ा।

राजनैतिक हलचल के इस भीषण युग में देश की सामाजिक स्थिति कितनी शोचनीय हो गई थी, इस पर कम लोग ध्यान देते हैं।

सामाजिक स्थिति

(जब से गुप्त साम्राज्य का अंत हुआ था और देश अनेक छोटे छोटे टुकड़ों में बँट गया था, तब से हर्षवर्धन के स्थायी राजत्वकाल के अतिरिक्त कई शताब्दियों तक सारे देश को एक सूत्र में बाँधने का प्रयत्न हुआ ही नहीं। उलटे गृह-कलह की निरंतर वृद्धि होती गई और विक्रम की नवीं, दसवीं तथा ग्यारहवीं शताब्दियों में यह भीषण दशा अपनी चरम सीमा तक पहुँच गई। स्वयंवरों में अपने अपने शौर्य का प्रदर्शन करना एक साधारण बात थी। कभी कभी तो केवल अपना बल दिखलाने या मन बहलाने के लिये ही अकारण लड़ाई छेड़ दी जाती थी। विप्लवों और युद्धों आदि का यह अनंत क्रम समाज के लिये बहुत ही हानिकर सिद्ध हुआ। जो जीवन किसी समय ज्ञान-विज्ञान का मूल स्रोत तथा विविध कलाओं का आविर्भावक था, वह अविद्यांधकार में पड़कर अनेक अंधविश्वासों का केंद्र बन गया। जो लोग आसमुद्रक्षितीशों के साम्राज्य में सुख-समृद्धिपूर्वक निवास करते थे, वे अपनी रक्षा तक कर सकने में असमर्थ हो गए। सोमनाथ पर मुसलमानों के आक्रमण का प्रतिकार न कर मंदिर में छिपे रहना और अनंगपाल के हाथी के संयोगवश पीछे घूम पड़ने पर सारी सेना का भाग खड़ा होना हिंदुओं के तत्कालीन चरम पतन का सूचक है। यद्यपि अन्य स्थानों में प्रबल वीरता प्रदर्शित करने के अनेक ऐतिहासिक उल्लेख मिलते हैं, परंतु फिर भी जो समाज अपना भला बुरा तक पहचानने में असमर्थ हो जाता है और जो अपने विलासी तथा अदूरदर्शी शासकों के ही हाथों का पुतला बन जाता है उसका कल्याण कब तक हो सकता है। फल यह हुआ कि साधारण जनता तो तत्कालीन नृप-

तियों को आत्मार्पण करती गई, और अपरिणामदर्शी नृपतियों ने घर में ही वैर तथा फूट के वे बीज बोए जिनका कटु फल देश तथा जाति को चिरकाल तक भोगना पड़ा।

स्थिति के अनुरूप साहित्य

देश के जिस भूभाग में जिस समय ऐसी अशांति तथा अंधकार का साम्राज्य छाया हुआ था, उसी भूभाग में लगभग उसी समय अपभ्रंश भाषाओं से उत्पन्न होकर हिंदी साहित्य अपना शैशव काल व्यतीत कर रहा था। हिंदी की इस शैशवावस्था में देश की जैसी स्थिति थी, उसी के अनुरूप उसका साहित्य भी विकसित हुआ। भीषण हलचल तथा घोर अशांति के उस युग में वीर गाथाओं की ही रचना संभव थी, साहित्य की सर्वतोमुखी उन्नति उस काल में हो ही नहीं सकती थी। यह तो साधारण बात है कि जिस समय कोई देश लड़ाइयों में व्यस्त रहता है और जिस काल में युद्ध की ही ध्वनि प्रधान रूप में व्याप्त रहती है, उस काल में वीरोल्लासिनी कविताओं की ही गूँज देश भर में सुनाई पड़ती है। उस समय एक तो अन्य प्रकार की रचनाएँ होतीं ही नहीं, और जो थोड़ी बहुत होती भी हैं, वे सुरक्षित न रह सकने के कारण शीघ्र ही कालकवलित हो जाती हैं। हिंदी के आदि युग में जो केवल वीररस की कविताएँ मिलती हैं, उसका यही कारण है।

राजाश्रय और उसका परिणाम

यहाँ इस बात का भी उल्लेख कर देना आवश्यक होगा कि तत्कालीन कविता की रचना राजाओं के आश्रय में ही हुई; अतः उसमें राजाश्रित कविता की प्रायः सभी विशेषताएँ मिलती हैं। यद्यपि उस काल के राजाओं की नीति देश के लिये हितकर नहीं थी और उनके पारस्परिक विद्वेष तथा संघर्ष से जो अग्नि प्रज्वलित हुई, उसने देश की स्वतंत्रता को भस्म करके ही साँस लिया, तथापि राजाश्रित कवियों की वाणी अपने स्वामियों के कीर्ति-कथन में कभी कुंठित नहीं हुई। तात्पर्य यह है कि उस समय के कवि प्रायः राजाओं को प्रसन्न रखने और उनके कृत्यों का अंध समर्थन करने में ही अपने जीवन की सार्थकता समझ बैठे थे। देश की स्थिति और भविष्य की ओर उनका ध्यान ही न था। जिस समय कवियों की ऐसी हीन अवस्था हो जाती है और जिस समय कविता में उच्च आदर्शों का समावेश नहीं होता उस समय देश और जाति की ऐसी दुर्दशा अवश्यंभावी हो जाती है। हिंदी के आदियुग में अधिकांश ऐसे ही कवि हुए जिन्हें समाज को संघटित तथा सुव्यवस्थित कर उसे विदेशीय आक्रमणों से रक्षा करने में समर्थ बनाने की उतनी

चिंता नहीं थी, जितनी अपने आश्रयदाताओं की प्रशंसा द्वारा स्वार्थ-साधन करने की थी। यही कारण है कि जयचंद जैसे नृपतियों को काल्पनिक वीर गाथाएँ रचनेवाले कवि तो हुए, पर सच्चे वीरों की पवित्र गाथाएँ उस काल में लिखी ही नहीं गईं और यदि लिखी भी गई हों तो अब उनका कहीं पता नहीं है।

युद्ध की साहित्यिक प्रगति

इन राजाश्रित कवियों की रचनाओं में न तो इतिहाससम्मत घटनाओं का ही अधिक उल्लेख मिलता है और न उच्च प्रकार के कवित्व का ही उन्मेष पाया जाता है। एक तो उस युग की रचनाएँ अब अपने मूल रूप में मिलतीं ही नहीं; और जो कुछ मिलती भी हैं, उनमें ऐतिहासिक तथ्यों से बहुत कुछ विभिन्नता पाई जाती है। जो कवि अपने अधिपतियों को प्रसन्न करने के लिये ही रचनाएँ करेगा उसे बहुत कुछ इतिवृत्त की अवहेलना करनी पड़ेगी, साथ ही उसकी कृतियों में हृदय के सच्चे भावों का अभाव होने के कारण उच्च कोटि के कवित्व का स्फुरण न हो सकेगा। जहाँ केवल प्रशंसा करना ही उद्देश रह जाता है, वहाँ इतिहास की ओर से दृष्टि हटा लेनी पड़ती है और नव-नवोन्मेषशालिनी प्रतिभा को एक संकीर्ण क्षेत्र में आबद्ध करना पड़ता है। इसी संकीर्ण क्षेत्र में बहती बहती काव्यधारा परंपरागत हो गई जिससे भाट चारणों की जीविका तो चलती रही पर कविता के उच्च लक्ष्य का विस्मरण हो गया। पुरानी रचनाओं में थोड़ा बहुत परिवर्तन करके और उसे नवीन रूप में सुनाकर राज-सम्मान पाने की जो कुप्रथा चारणों में चली, उससे कविता तो लक्ष्यभ्रष्ट हो ही गई, साथ ही अनेक ऐतिहासिक विवरणों का लोप भी हो गया। ग्रंथों में क्षेपक इतने अधिक बढ़ चले कि वे मूल से भी अधिक हो गए और मूल का पता लगना भी असंभव नहीं तो कठिन अवश्य हो गया। यदि इस कुप्रथा का अंत हिंदी के भक्त कवियों की कृपा से न हो गया होता और कविता का संपर्क राजाश्रय से हटकर जनसमूह की हार्दिक वृत्ति से न हो जाता, तो अब तक हिंदी कविता की कितनी अधोगति हो गई होती, इसका सहज में अनुमान किया जा सकता है। इस युग के कवियों की रचनाओं में जहाँ तहाँ सच्चे राष्ट्रीय भावों की भी झलक देख पड़ती है। देशानुराग से प्रेरित होकर देश के शत्रुओं का सामना करने के लिये वे अपने आश्रयदाताओं को केवल अपनी वाणी द्वारा प्रोत्साहित ही नहीं करते थे, वरन् समय पड़ने पर स्वयं तलवार हाथ में लेकर मैदान में कूद पड़ते थे और इस प्रकार तलवार तथा कलम दोनों को चलाने की अपनी

कुशलता का परिचय देते थे। कभी कभी ये कवि देश के अंतर्विद्रोह में सहायक होकर वाणी का दुरुपयोग भी करते थे, पर यह उस काल की एक ऐसी व्यापक विशेषता थी कि कविगण उससे सर्वथा मुक्त नहीं हो सकते थे। पीछे चलकर डिंगल काव्यों में यह दोष अधिक व्यापक रूप में देख पड़ता है।

उस युग के कवियों में उच्च कोटि के कवित्व की झलक भी मिलती है। यद्यपि जीवन के अनेक अंगों की व्यापक तथा गंभीर व्याख्या तत्कालीन कविता में नहीं पाई जाती, पर उन्होंने अपनी कृतियों में वीरों के चरित्र-चित्रण में नई नई रमणीय उद्भावनाओं तथा अनेक रमणीय सूक्तियों का समावेश किया है। इस काल के कवियों का युद्धवर्णन इतना मार्मिक तथा सजीव हुआ है कि उनके सामने पीछे के कवियों की अनुप्रासगर्भित किंतु निर्जीव रचनाएँ नकल सी जान पड़ती हैं। कर्कश पदावली के बीच में वीर भावों से भरी हिंदी के आदि युग की यह कविता सारे हिंदी साहित्य में अपनी समता नहीं रखती। दोनों ओर की सेनाओं के एकत्र होने पर युद्ध के साज-बाज तथा आक्रमण की रीतियों का जैसा वर्णन इस युग के कवियों ने किया, वैसा पीछे के कवियों में देखने में नहीं आया। उनकी वीर वचनावली में शस्त्रों की झंकार स्पष्ट सुन पड़ती है, और उनके युद्ध-वर्णन के सजीव चित्र वीर हृदयों में अब भी उल्लास उत्पन्न करते हैं। ऐसे कवियों की रचनाओं में सर्वत्र उनके वीर हृदय का परिचय मिलता है अतः हम उन्हें मिथ्या स्तुति करनेवाले काल्पनिक वीरगाथाकार कवियों की श्रेणी में नहीं रख सकते।

हिंदी में वीर गाथाएँ दो रूपों में मिलती हैं—कुछ तो प्रबंध काव्यों के रूप में और कुछ वीर गीतों के रूप में। प्रबंध के रूप में वीर कविता करने की प्रणाली प्रायः सभी साहित्यों में चिरकाल से चली आ रही है। यूनान के प्राचीन साहित्य-शास्त्रियों ने महाकाव्यों की रचना का मुख्य आधार युद्ध ही माना है और उनकी वीर-रसात्मकता स्वीकार की है। वहाँ के आदि कवि होमर के प्रसिद्ध महाकाव्य की आधारभूत घटना ट्राय का युद्ध ही है। भारतवर्ष के रामायण तथा महाभारत महाकाव्यों में युद्ध का ही साम्य है; अन्य घटनाओं में बड़ा अंतर है। वीर गीतों के रूप में भी वीर पुरुषों की प्रशस्तियाँ पाई जाती हैं। हिंदी की वीर गाथाओं में प्रबंध रूप से सबसे प्राचीन ग्रंथ, जिसका उल्लेख मिलता है, दलपति विजय का खुमानरासो है। ऐसा कहा जाता है कि इसमें चित्तौड़ के दूसरे

प्रबंध काव्य

खुम्माण (वि० सं० ८७०-९००) के युद्धों का वर्णन था। इस समय इस पुस्तक की जो प्रतियाँ मिलती हैं उनमें महाराणा प्रतापसिंह तक का वर्णन है। संभव है कि यह प्राचीन पुस्तक का परिवर्धित संस्करण हो अथवा उसमें पीछे के राणाओं का वर्णन परिशिष्ट रूप से जोड़ा गया हो। इस पुस्तक के संबंध में अभी बहुत कुछ जाँच पड़ताल की आवश्यकता है।

वीर गाथा संबंधी प्रबंध काव्यों में दूसरी प्रसिद्ध पुस्तक चंद बरदाई कृत पृथ्वीराजरासो है। इस विशालकाय ग्रंथ को हम महाकाव्यों की उस श्रेणी में नहीं गिन सकते जिसमें यूनान के प्रसिद्ध महाकाव्य ईलियड आदि तथा भारतवर्ष के रामायण महाभारत आदि की गणना होती है। ये महाकाव्य तो एक समस्त देश और एक समस्त जाति की स्थायी संपत्ति हैं, इनमें जातीय सभ्यता तथा संस्कृति का सार अंतर्निहित है। यह सत्य है कि पृथ्वीराजरासो भी एक विशालकाय ग्रंथ है और यह भी सत्य है कि महाकाव्यों की ही भाँति इसमें भी युद्ध की ही प्रधानता है, पर इतने ही साम्य के आधार पर उसे महाकाव्य कहलाने का गौरव नहीं प्राप्त हो सकता। महाकाव्य में जिस व्यापक तथा गंभीर रीति से जातीय चित्तवृत्तियों को स्थायित्व मिलता है, उनका पृथ्वीराजरासो में सर्वथा अभाव है। महाकाव्य में यद्यपि एक ही प्रधान युद्ध होता है, तथापि उसमें दो विभिन्न जातियों का संघर्ष दिखाया जाता है और उसका परिणाम भी बड़ा व्यापक तथा विस्तृत होता है। पृथ्वीराजरासो में न तो कोई एक प्रधान युद्ध है और न किसी महान् परिणाम का ही उल्लेख है। सबसे प्रधान बात यह है कि पृथ्वीराजरासो में घटनाएँ एक दूसरी से असंबद्ध हैं तथा कथानक भी शिथिल और अनियमित है; महाकाव्यों की भाँति न तो घटनाओं का किसी एक आदर्श में संक्रमण होता है और न अनेक कथानकों की एकरूपता ही प्रतिष्ठित होती है। ऐसी अवस्था में पृथ्वीराजरासो को महाकाव्य न कहकर विशालकाय वीर काव्य कहना ही संगत होगा।

पृथ्वीराजरासो में युद्धों की प्रधानता के साथ ही शृंगार की प्रचुरता भी की गई है। वीरों को युद्ध के उपरांत विश्रामकाल में मनबहलाव के लिये प्रेम करने की आवश्यकता होती है, और काव्यों में भी रसराज शृंगार के बिना काम नहीं चल सकता। इसी विचार से अन्य देशों में, ऐसे वीर काव्यों में, युद्ध और प्रेम की परंपरा प्रतिष्ठित हुई थी। पृथ्वीराजरासो आदि वीर काव्यों में भी बीच बीच में शृंगार

की आयोजना की गई है और वीरों के आमोदकाल में शृंगार-मूर्तिमती रमणियों का उपयोग किया गया है। कभी कभी तो पारस्परिक विद्वेष की वृद्धि तथा तत्संभव युद्ध के कारण-स्वरूप राजकुमारियों के स्वयंवर कराए गए हैं, और इस प्रकार वीरता के प्रदर्शन के अवसर निकाले गए हैं। सारांश यह कि यहाँ की वीर गाथाओं में शृंगार कभी कभी वीरता का सहकारी और कभी कभी उसका उत्पादक बनकर आया है और बराबर गौण स्थान का अधिकारी रहा है। अन्य देशों के ऐसे काव्यों में यह बात नहीं है। उदाहरणार्थ अँगरेज कवि स्काट के रोमेंस-काव्यों को लें। उनमें तो प्रेम की ही प्रधानता और वीरता की अपेक्षाकृत न्यूनता है। जहाँ कहीं प्रेम के कर्तव्य पक्ष के प्रदर्शन की आवश्यकता समझी जाती है, अथवा जहाँ स्त्रीजाति के प्रति सदाचार तथा शील आदि का अभिव्यंजन करना पड़ता है, वहीं वीर भावों की उद्भावना की जाती है। हिंदी के वीर काव्यों तथा अन्य देशों के वीर काव्यों के इसी अंतर के कारण दोनों का रूप एक दूसरे से इतना विभिन्न हो गया है कि समता का पता नहीं चलता। प्रेम-प्रधान होने के कारण ऐसे काव्यों की रंगशाला प्रकृति की रम्य गोद में होती है, जहाँ नायक नायिका के स्वच्छंदतापूर्वक विचरण तथा पारस्परिक साक्षात्कार के लिये सब प्रकार के सुभीते रहते हैं। इसके विपरीत हिंदी के वीर काव्यों में मानों उनके सच्चे स्वरूप के प्रदर्शनार्थ ही रण-भूमि को प्रधानता दी गई है और कुमारियों के स्वयंवर-स्थान तक को कभी कभी रक्त-रंजित कर दिया गया है। प्रेमप्रधान हृदयों में प्रकृति के नाना रूपों के साथ जो अनुराग होता है, वह युयुत्सु वीरों में नहीं होता। इसी लिये यहाँ की वीर गाथाओं में प्राकृतिक वर्णनों का प्रायः सर्वत्र अभाव ही पाया जाता है।

यह विशालकाय ग्रंथ हिंदी का प्रथम महाकाव्य समझा जाता है और इसके रचयिता चंद बरदाई पृथ्वीराज के समकालीन बतलाए जाते हैं, परंतु अपने वर्तमान रूप में यह किसी एक काल की अथवा किसी एक कवि की कृति नहीं जान पड़ता। इसमें आए हुए संवतों तथा घटनाओं के आधार पर, साथ ही अनेक बाह्य साक्ष्यों की सहायता से, इस ग्रंथ के रचनाकाल का निर्णय करने में रायबहादुर गौरीशंकर हीराचंद ओझा, पंडित मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या, महामहोपाध्याय पंडित हरप्रसाद शास्त्री आदि प्रसिद्ध विद्वानों ने बहुत कुछ अनुसंधान किया है; परंतु उनकी परस्पर विभिन्न तथा विपरीत सम्मतियों को देखते हुए ठीक ठीक कुछ भी निर्णय नहीं हो सकता। फिर भी इसमें संदेह

नहीं कि इसमें बहुत प्राचीन काल से लेकर प्रायः आधुनिक काल तक की हिंदी में बने हुए छंद मिलते हैं, जिससे सिद्ध होता है कि इसमें क्षेपक बहुत हैं। चंद बरदाई नाम के किसी कवि का पृथ्वीराज के दरबार में होना निश्चित है, और यह भी सत्य है कि उसने अपने आश्रयदाता की गाथा विविध छंदों में लिखी थी; परंतु समयानुसार उस गाथा की भाषा तथा उसके वर्णित विषयों में बहुत कुछ हेर फेर होते रहे और इस कारण अब उसके प्रारंभिक रूप का पता लगाना असंभव नहीं तो अत्यंत कठिन अवश्य हो गया है।

बाबू रामनारायण दूगड़ अपने "पृथ्वीराजचरित्र" की भूमिका (पृष्ठ ८६) में लिखते हैं—"उदयपुर राज्य के विक्टोरिया हाल के पुस्तकालय में रासो की जिस पुस्तक से मैंने यह सारांश लिया है उसके अंत में यह लिखा है कि चंद के छंद जगह जगह पर बिखरे हुए थे जिनको महाराणा अमरसिंहजी ने एकत्रित कराया।" इस प्रति के अंत में यह छंद है—

गुन मनियन रस पोइ चंद कवियन कर दिद्धिय।
छंद गुनी ते तुट्टि मंद कवि भिन भिन किद्धिय॥
देस देस बिष्परिय मेल गुन पार न पावय।
उद्दिम करि मेलवत आस विन आलय आवय (?)॥
चित्रकोट रान अमरेस नृप हित श्रीमुख आयस दयौ।
गुन बिन बीन करुणा उदधि लिखि रासौ उद्दिम कियौ॥

इससे स्पष्ट है कि किसी कवि ने राणा अमरसिंह के समय में उनकी आज्ञा से कवि चंद के छंदों को, जो देश देश में बिखरे हुए थे, पिरोकर इस रासो को पूर्ण किया। पर यह प्रति संवत् १६१७ की लिखी हुई है। अतएव यह प्राचीन प्रति नहीं है। संभव है कि राणा अमरसिंह के समय में जिस रासो का संग्रह, संकलन या संपादन किया गया हो उसी की यह नकल हो। जो कुछ हो, मेवाड़ राजवंश में अमरसिंह नाम के दो महाराणा हुए हैं। पहले का जन्म चैत्र सुदी ७ संवत् १६१६, राज्यप्राप्ति माघ सुदी ११ सं० १६५३ और स्वर्गारोहण माघ सुदी २ सं० १६७६ को हुआ। दूसरे महाराणा अमरसिंह का जन्म मार्गशीर्ष बदी ५ सं० १७२६, राज्यप्राप्ति आश्विन सुदी ४ सं० १७५५ और स्वर्गारोहण पौष सुदी १ सं० १७६७ को हुआ। संवत् १७३२ में महाराणा राजसिंह ने राजसमुद्र तालाब के नौचौकी बाँध पर बड़ी बड़ी शिलाओं पर एक महाकाव्य खुदवाया। इसमें पहले पहल रासो का उल्लेख मिलता है।

"भापारासापुस्तकेस्य युद्धस्योक्तोस्ति विस्तरः २७"

अतएव यदि चंद के विखरे हुए छंदों का संकलन, संपादन आदि किसी के राज्यकाल में हो सकता है तो वे दूसरे अमरसिंह नहीं, पहले ही अमरसिंह होंगे। संवत् १६४२ की लिखी पृथ्वीराजरासो की एक प्रति काशी नागरीप्रचारिणी सभा के संग्रह में है। इस संवत् तक तो प्रथम अमरसिंह गद्दी पर भी नहीं बैठे थे, उनके पिता स्वनामधन्य महाराणा प्रतापसिंह अकबर के साथ युद्ध करने में लगे हुए थे। इस युद्ध का अंत संवत् १६४३ में हुआ, जब कि महाराणा ने चित्तौरगढ़ और मंगलगढ़ को छोड़कर शेष मेवाड़ को अपने अधीन कर लिया। इन सब बातों के आधार पर क्या यह माना नहीं जा सकता है कि चंद नाम का कोई कवि था जिसने पृथ्वीराज की प्रशंसा में कविता की, पर यह बिखर गई थी। अतएव पीछे से प्रथम महाराणा अमरसिंह के समय में किसी कवि ने इसका संग्रह किया और उसे वर्तमान पृथ्वीराजरासो का रूप दिया। इसमें जो भिन्न भिन्न 'समय' और कथानक दिए हैं वे प्राचीन रचना नहीं हैं वरन् राणा अमरसिंह के समय में जो किंवदंतियाँ प्रसिद्ध थीं उन्हीं के आधार पर इस ग्रंथ का जीर्णोद्धार हुआ। अतएव इस ग्रंथ को ऐतिहासिक घटनाओं का प्रमाण स्वरूप मानना उचित नहीं है।

इससे यह भी सिद्ध होता है कि इस समय जो पृथ्वीराजरासो वर्तमान है वह बहुत पीछे की रचना है। चंद के मूल छंदों का यदि कहीं कुछ पता लग सकता है तो वह संवत् १६४२ वाली प्रति से ही लग सकता है। उद्योग करने पर यह भी पता चल सकता है कि वर्तमान रूप में प्राप्य पृथ्वीराजरासो में प्रक्षिप्त अंश कितना है। तीसरे समय का अंतिम छंद यह है—

पोडस गज उरद्ध राज ऊभौ गवष्य तस।
सभ्भ समय चीतार पत्र कीनो पेसकस॥
देषत सँभरीनाथ हाथ छूटन हथ तारक।
तीर कि गोरि बिछुट्टि तुट्टि असमान को तारक॥
अधबीच नीच परते पहिल लोहाने लीनो झरपि।
नट कला पेलि जनु फेरि उढि आनि हथ्थ पिथ्थह अरपि॥
हरपि राज पृथिराज कीन सूर सामंत।
बगसि ग्राम गजबाज अजानबाह दीनय नाम॥

ऐसा जान पड़ता है कि इसी एक छंद का विस्तार करके "लोहानो अजानबाहु समय" की रचना की गई है। पज्जून महुआ नामक समय का ३० वाँ दोहा इस प्रकार है—

जीति मट्टुव्वा लीय घर दिल्ली आनि सुपथ्थ।
जं ज कित्ति कला बढ़ी मलैसिंह जस कथ्थ॥

इस दोहे का स्पष्ट अर्थ यह है कि जिस प्रकार कीर्ति बढ़ती गई, उसी प्रकार मलैसिंह यश करता गया। मलैसिंह पज्जूनराय के लड़के का नाम भी था, पर यहाँ उससे कोई प्रयोजन नहीं जान पड़ता। ऐसा जान पड़ता है कि मलैसिंह नामक किसी कवि ने इस रासो में अपनी कविता मिलाकर भिन्न भिन्न सामंतों का यश वर्णन किया। अतएव यदि अधिकांश क्षेपक मिलाने के लिये हम और किसी के नहीं तो मलैसिंह के अवश्य अनुगृहीत हैं।

सारांश यह कि वर्तमान रूप में पृथ्वीराजरासो में प्रक्षिप्त अंश बहुत अधिक है पर साथ ही उसमें बीच बीच में चंद के छंद बिखरे पड़े हैं। ऐसा जान पड़ता है कि इन छंदों का संग्रह, संकलन या संपादन संभवतः संवत् १६३६ और १६४२ के बीच में हुआ था। उसी समय बहुत कुछ कथानक बढ़ा घटाकर इन छंदों को ग्रंथ रूप दिया गया; और पीछे तो न जाने कितना और अधिक जोड़ तोड़कर उसका वर्तमान रूप प्रस्तुत किया गया।

जो कुछ हो, इस बृहद् ग्रंथ में यद्यपि विस्तार के साथ पृथ्वीराज चौहान का वीर चरित ही अंकित किया गया है पर अनेक प्रासंगिक विवरणों के रूप में क्षत्रियों के चार कुलों की उत्पत्ति और उनके अलग अलग राज्यस्थापन आदि की भी कल्पना की गई है। पृथ्वीराज की पूर्व परंपरा का हाल लिखकर कवि उसकी जीवनी को ही अपने ग्रंथ का प्रधान विषय बनाता है और प्रासंगिक रीति से तत्कालीन राजनीतिक स्थिति का दिग्दर्शन भी कराता है। पृथ्वीराज के जीवन की मुख्य मुख्य घटनाओं में अनंगपाल द्वारा गोद लिए जाने पर उसका दिल्ली और अजमेर के राजसिंहासनों का अधिकारी होना, कन्नौज के राठौर राजा जयचंद से विद्वेष होने के कारण उसके राजसूय यज्ञ में न सम्मिलित होकर छिपे छिपे उसकी कन्या संयुक्ता को हर लाना, जयचंद तथा अन्य क्षत्रिय नृपतियों से अनेक बार युद्ध करना, क्षीणशक्ति हो जाने पर भी अफ़गानिस्तान के गोर प्रदेश के अधिपति शहाबुद्दीन के आक्रमणों का सफलतापूर्वक सामना करना, कई बार उसे कैद करके छोड़ देना आदि आदि अनेक प्रसंगों का, जिनमें से कुछ कविकल्पित हैं और कुछ ऐतिहासिक तत्त्वों पर अवलंबित हैं, बड़ा ही मार्मिक तथा काव्य-गुण-संपन्न वर्णन इस ग्रंथ में पाया जाता है।

पृथ्वीराजरासो समस्त वीरगाथा युग की सबसे अधिक महत्त्व-पूर्ण रचना है। उस काल की जितनी स्पष्ट झलक इस एक ग्रंथ में मिलती है, उतनी दूसरे अनेक ग्रंथों में नहीं मिलती। छंदों का जितना विस्तार तथा भाषा का जितना साहित्यिक सौष्ठव इसमें मिलता है, अन्यत्र उसका अल्पांश भी नहीं दिखाई देता। पूरी जीवन-गाथा होने के कारण इसमें वीर गीतों की सी संकीर्णता तथा वर्णनों की एकरूपता नहीं आने पाई है, वरन् नवीनता समन्वित कथानकों की ही इसमें अधिकता है। यद्यपि "रामचरितमानस" अथवा "पद्मावत" की भाँति इसमें भावों की गहनता तथा अभिनव कल्पनाओं की प्रचुरता उतनी अधिक नहीं है, परंतु इस ग्रंथ में वीर भावों की बड़ी सुंदर अभिव्यक्ति हुई है और कहीं कहीं कोमल कल्पनाओं तथा मनोहारिणी उक्तियों से इसमें अपूर्व काव्य चमत्कार आ गया है। रसात्मकता के विचार से उसकी गणना हिंदी के थोड़े से उत्कृष्ट काव्य-ग्रंथों में हो सकती है। भाषा की प्राचीनता के कारण यह ग्रंथ अब साधारण जनता के लिये दुरूह हो गया है, अन्यथा राष्ट्रोत्थान के इस युग में पृथ्वीराजरासो की उपयोगिता बहुत अधिक हो सकती थी।

वीरगाथा काल के प्रबंध काव्यों के रचयिताओं में भट्ट केदार का जिसने जयचंद्रप्रकाश, मधुकर का जिसने जयमयंकजसचंद्रिका, सारंगधर का जिसने हम्मीर काव्य और नल्लसिंह का जिसने विजयपाल-रासो लिखा, उल्लेख मिलता है, जिससे यह प्रकाशित होता है कि इस प्रकार के काव्यों की परंपरा बहुत दिनों तक चली थी, पर राजपूताने में इस प्रकार की प्राचीन पुस्तकों की खोज न होने तथा अनेक ग्रंथों के उनके मालिकों के मोह, अविवेक अथवा अदूरदर्शिता के कारण अँधेरी कोठरियों में बंद पड़े रहने के कारण इस परंपरा का पूरा पूरा इतिहास उपस्थित करने की सामग्री का सर्वथा अभाव हो रहा है।

गीत काव्य

जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, प्रबंध-मूलक वीर काव्यों के अतिरिक्त उस काल में वीर गीतों की रचनाएँ भी हुई थीं। अनुमान से तो ऐसा जान पड़ता है कि उस काल की रचनाओं में प्रबंध काव्यों की न्यूनता तथा वीररसात्मक फुटकर पद्यों की ही अधिकता रही होगी। अशांति तथा कोलाहल के उस युग में लंबे लंबे चरितकाव्यों का लिखा जाना न तो संभव ही था और न स्वाभाविक ही। अधिक संख्या में तो वीर गीतों का ही निर्माण हुआ होगा। युद्ध के लिये वीरों को प्रोत्साहित करने में और वीरगति पाने पर उनकी प्रशस्तियाँ निर्मित करने में वीर गीतों की

ही उपयोगिता अधिक होती है। इसके अतिरिक्त राजसभाओं में वीर नृपतियों अथवा सरदारों का गुणगान होता होगा, तब वीर गीतों के ही आश्रय लेने की आवश्यकता रहती होगी। इसके अतिरिक्त प्रायः पहले गीतों की ही रचना होती है और तब प्रबंध काव्यों की। यद्यपि इस युग में वीर गीतों की रचना अधिकता से हुई होगी, परंतु इस समय तो वे बहुत थोड़ी संख्या में मिलते हैं और अब तो उनके प्रारंभिक स्वरूपों में भी बहुत कुछ हेर-फेर हो गया है। बात यह हुई कि वे रचनाएँ बहुत काल तक लिपिबद्ध नहीं हुईं, वे भट्ट चारणों में बहुत कुछ मौखिक रूप में ही बनी रहीं। इसी कारण उनमें से बहुत सी तो कालकवलित हो गईं और बहुतों की भाषा आदि में परिवर्तन हो गए। कुछ रचनाओं में तो विभिन्न कालों की घटनाओं के ऐसे असंबद्ध वर्णन घुस गए हैं कि वे अनेक कालों में अनेक कवियों की की हुई जान पड़ने लगी हैं। अपने वर्तमान रूप में न तो वर्णित विषयों के आधार पर और न भाषा-विकास के आधार पर ही उनके रचनाकाल का ठीक ठीक निर्णय हो सकता है। नरपति नाल्ह रचित बीसलदेवरासो तथा जगनिक-कृत आल्हखंड के वीर गीतों की बहुत कुछ ऐसी ही अवस्था है।

इतना सब कुछ होते हुए भी भावों के सरल अकृत्रिम उद्वेग तथा भाषा के स्वच्छंद प्रवाह के कारण तत्कालीन वीर गीतों में एक अद्भुत ओज तथा तीव्रता सी आ गई है। न तो इन वीर गीतों में दार्शनिक तत्त्वों का समावेश ही है और न इनमें प्राकृतिक दृश्यों का ही मनोरम चित्रण है। इनके कथानकों में भी अनेकरूपता तथा विचित्रता नहीं है और न इनकी भाषा में ही किसी प्रकार का बनाव सिंगार है। इनके छंदों में एक मुक्त प्रवाह मिलता है, वे तुकांत आदि के बंधनों से जकड़े हुए नहीं हैं। प्रायः किसी वीर को बाह्य आडंबर पसंद नहीं होते और उसके आचार विचार में एक प्रकार की सरलता तथा स्वच्छंदता होती है, साथ ही वह गंभीर तत्त्वों के समझने में असमर्थ तथा वीर कृत्य करने में तत्पर रहता है। लगभग ऐसी ही अवस्था हमारे उस युग के वीर गीतों की थी। जहाँ हम पृथ्वीराज-रासो आदि प्रबंध काव्यों में अनेक क्षत्रिय वंशों की उत्पत्ति के विस्तृत किंतु नीरस वर्णन पाते हैं, और जहाँ भाषा को अलंकृत करने तथा छंदों में तुक आदि पर विशेष ध्यान देने के प्रयास का भी उनमें अनुभव करते हैं, वहाँ बीसलदेवरासो तथा आल्हा आदि वीर गीतों में कहीं भी शिथिलता नहीं पाते और न बंधनों की जटिलता का ही उनमें कहीं पता चलता है। कथानकों को सजाने तथा उनमें नवीनता लाने का जितना

साहित्यिक प्रयास पृथ्वीराजरासो में पाया जाता है, उतना वीर गीतों में नहीं पाया जाता, फिर भी उनमें अरोचकता कहीं नहीं आने पाई है। वीर गीतों में यद्यपि वीर भावों की ही अधिकता रहती है, पर वीरों की कोमल मनोवृत्तियों के प्रदर्शनार्थ उनमें शृंगारिक वर्णन भी होते हैं। वीसलदेवरासो को तो उसके वर्तमान रूप में एक प्रेमगाथा ही कह सकते हैं, परंतु उसमें भी वीरों के सरल तथा कोमल हृदय की व्यंजना हो जाती है। यही उसके वीर गीत कहलाने की सार्थकता है। आल्ह-खंड में आल्हा, ऊदल (उदयसिंह) आदि की वीर वाणी तथा वीर कृत्यों का जा जमघट सा उपस्थित किया गया है, उसके मूल में भी प्रेम ही है, और स्थान स्थान पर उस प्रेम की निश्चय ही बड़ी सरस तथा मधुर व्यंजना पाई जाती है।

उपर्युक्त गुणों के कारण ही साधारण जनता में वीर गीतों का जितना प्रचार हुआ, उतना वीर प्रबंधों का नहीं हुआ। अपने साहित्यिक गुणों के कारण पृथ्वीराजरासो उस युग की सबसे श्रेष्ठ तथा महत्त्वपूर्ण कृति है; और इस दृष्टि से उसकी तुलना में वीर गीत नहीं ठहर सकते, परंतु ऐसा जान पड़ता है कि राज-दरबारों, अथवा अधिक से अधिक दिल्ली तथा अजमेर के आस पास के प्रदेशों को छोडकर देश के अन्य भागों की जनता में पृथ्वीराजरासो का कुछ भी प्रचार नहीं हुआ। प्रचार की दृष्टि से आल्हखंड या आल्हा सबसे अधिक सौभाग्य-शाली हुआ। यद्यपि इस प्रचाराधिक्य के कारण उसका पूर्व स्वरूप बहुत कुछ विकृत होकर विस्मृत भी हो गया, पर अपने नवीन रूप में वह आज भी उत्तर भारत की जनता का कंठहार हो रहा है। आषाढ़ और श्रावण के महीनों में जब वर्षा होने पर ग्रीष्म ऋतु का ताप बहुत कुछ कम हो जाता है और जब बादलों की गरज से हृदय एक अलौकिक उल्लास का अनुभव करने लगता है, तब ग्रामों में आज भी ढोल की गंभीर ध्वनि के साथ अल्हैतों के तारस्वर में "आल्हा" के किसी प्रसंग का सुन पड़ना सबके साधारण अनुभव की बात है। युक्त प्रांत के बैसवाड़ा आदि प्रदेशों में आल्हा का बहुत अधिक प्रचार है और वहाँ संभवतः गोस्वामीजी के रामचरितमानस को छोड़कर दूसरा सर्वप्रिय ग्रंथ आल्ह-खंड ही है। हम इन दोनों वीर गीतों का विवेचन आगे करते हैं—

वीसलदेवरासो

इस छोटे से काव्य की रचना, वीर गीत की शैली पर, विक्रम संवत् १२१२ में हुई थी। इसका रचयिता नरपति नाल्ह नामक कवि अपने आश्रयदाता वीसलदेव का समकालीन और संभवतः राजकवि था। वीसलदेव उपनाम धारण

करनेवाले विग्रहराज चतुर्थ बड़े वीर क्षत्रिय नृपति थे और उन्होंने इस्लामी शक्ति के प्रतिकूल सफलतापूर्वक कई युद्ध किए थे। परंतु उनकी इस गाथा में उनके युद्धों आदि का वर्णन नहीं है। इसमें जैसलमेर की राजकन्या राजमती से उनके विवाह करने और विवाहोपरांत अपनी नवविवाहिता पत्नी की किसी बात से चिढ़कर उड़ीसा चले जाने का उल्लेख है। अनेक वर्षों के बाद राजमती के संदेश भेजने पर उनके ससम्मान लौटने और लौटकर अपने कुटुंबियों से आनंदपूर्वक मिलने तथा फिर से राज्य-सिंहासन ग्रहण करने के साथ कथा का अंत हो जाता है।

इस प्रेम-प्रसंग को वीर गीत स्वीकार करने में कुछ विद्वानों को संकोच होता है। उनका यह संकोच बहुत अंशों में ठीक भी है, परंतु स्मरण रखने की बात यह है कि वीर गीतों में वीरों की जीवनगाथाएँ नहीं होतीं, वरन् जीवन की किसी साधारण अथवा असाधारण घटना का चित्रण मात्र होता है। वे सदा वीररसात्मक ही नहीं हो सकते, क्योंकि वीरों का युद्ध से अभिन्न संबंध नहीं रहता, वीरों के हृदय में यद्यपि उत्साह सदा उपस्थित रहता है, परंतु इसका यह आशय नहीं है कि वे निरंतर युद्ध ही करते रहें। उनके जीवन में हृदय की कोमल वृत्तियों का प्रदर्शन भी हुआ करता है, और वीसलदेवरासो में ऐसी ही वृत्तियों का चित्रण किया गया है। यह वीसलदेवरासो की एक विशेषता है कि प्रेम-प्रधान होने पर भी उसे वीर गीत कहे जाने का गौरव मिला है।

अपने उल्लिखित संवतों के आधार पर तो यह वीसलदेव की समसामयिक रचना ठहरती है, पर अन्य वीर गीतों की भाँति इसके भी अनेक मौखिक संस्करण हुए होंगे। इसके कथानक में भोज, माघ, कालिदास आदि नाम ऐसे घुस गए हैं कि इस गाथा के वीसलदेव के जीवनकाल में उसके दरबारी कवि द्वारा रचे जाने में संदेह होने लगता है, परंतु इन अंशों को प्रक्षिप्त मान लेने से शेषांश को नाल्हरचित स्वीकार किया जा सकता है।

आल्हखंड

कुछ विद्वानों ने इसे चंद बरदाई कृत पृथ्वीराजरासो ग्रंथ का ही एक खंड बतलाया है और इस दृष्टि से इसे स्वतंत्र ग्रंथ के रूप में ग्रहण नहीं किया है; परंतु यह बात ठीक नहीं जान पड़ती। पृथ्वीराजरासो तथा आल्हखंड में सबसे प्रधान भेद यह है कि पहला ग्रंथ दिल्ली के अधिपति पृथ्वीराज के दरबारी कवि का लिखा होने के कारण उसके कृत्यों को बहुत अधिक उत्कर्ष प्रदान करता है; परंतु आल्हखंड में यह बात नहीं पाई जाती।

इस वीर गीत में न तो पृथ्वीराज के चरित की प्रधानता और न उसकी वीर कृतियों की प्रशंसा है। ऐसा अनुमान किया जाता है कि यह ग्रंथ प्राचीन रूप में जगनिक का लिखा हुआ था जो महोवे के चंदेल शासक परमाल के दरवार में रहता था। यह चंदेल शासक पृथ्वीराज का समकालीन और कन्नौज के अधिपति जयचंद का मित्र तथा सामंत था।

इस पुस्तक में प्रधानतः आल्हा और ऊदल (उदयसिंह) नामक वीर क्षत्रियों तथा साधारणतः उनके अनेक भाइयों और कुटुंबियों की वीर गाथाएँ हैं। आल्हा और ऊदल वनाफर शाखा के क्षत्रियों के वंशज थे और महोवे के तत्कालीन चंदेल अधिपति परमाल के सामंतों तथा सेनापतियों में थे। यद्यपि परमाल अशक्त तथा भीरु शासक था परंतु उसकी स्त्री मल्हना अपने वीर सामंतों की सहायता से कई वार पृथ्वीराज तक के आक्रमणों को विफल करने में समर्थ हुई थी। आल्हा, ऊदल, लाखन, सुलखे आदि वीर भ्राताओं की धाक तत्कालीन छोटे छोटे राज्यों पर तो थी ही, कन्नौज जैसे विस्तृत साम्राज्य का अधिपति जयचंद भी उनकी वीरता के आगे सिर झुकाता था। आल्हखंड के वीर गीतों में इन्हीं वीर भ्राताओं के अनेक विवाहों तथा प्रायः वावन लड़ाइयों का वर्णन है। उस समय की कुछ ऐसी स्थिति हो गई थी कि प्रत्येक विवाह में वीर क्षत्रियों के लिये अपनी वीरता का प्रदर्शन करना आवश्यक होता था और कन्यापक्ष वालों को पराजित करने पर ही उन्हें कन्या से विवाह करने का अधिकार मिलता था। यद्यपि इस पुस्तक में युद्धों का जितना विशाल रूप प्रदर्शित किया गया है, उसमें वहुत कुछ अतिशयोक्ति भी है; परंतु यह निश्चित है कि महोवे के इन वीर सरदारों ने सफलतापूर्वक अनेक युद्ध किए थे और उनमें विजयी होकर उन्होंने राजकन्याओं का अपहरण भी किया था। पुस्तक के अंत में अत्यंत करुणाजनक दृश्य उपस्थित होता है। सब वीर वनाफर युद्ध में मारे जाते हैं, उनकी रानियाँ सती होने के लिये अग्नि की शरण लेती हैं और वचे हुए केवल दो व्यक्ति, आल्हा और उसका पुत्र इंदल, गृह परित्याग कर, किसी कजरीवन में जा वसते हैं। इस कजरीवन का ठीक ठीक पता अभी तक नहीं लग सका है। यह कोई कविकल्पित स्थान जान पड़ता है जिससे निर्जनता तथा अंधकार की व्यंजना होती है।

इस वीर गीत में अनेक युद्धों का वर्णन वहुत कुछ एक ही प्रकार से हुआ है, साथ ही इसमें अनेक भौगोलिक अशुद्धियाँ भी पाई जाती हैं, परंतु साधारण पाठकों के लिये इसके वर्णनों में वड़ा आकर्षण है। यद्यपि इसमें साहित्यिक गुणों की वहुत कुछ न्यूनता पाई जाती है, पर

कोई अधिक आश्चर्य की बात नहीं है। पर साथ ही भाषाओं के क्रमिक विकास का ध्यान करके हमें यह कहने में भी संकोच नहीं हो सकता कि अवश्य पीछे से भी इनकी रचनाओं का परिमार्जन हुआ होगा।

जिस प्रकार चंदवरदाई आदि वीरगाथाकारों की रचना में तत्कालीन हिंदू-मनोवृत्ति का परिचय मिलता है और हिंदुओं के राज-दरबारों की अवस्था का अभिज्ञान होता है, उसी प्रकार अमीर खुसरो की रचनाओं में हम मुसलमानों के उन मनोभावों की झलक पाते हैं जो उनके इस देश में आकर बस जाने के उपरांत यहाँ की परिस्थिति से प्रभावान्वित होकर तथा यहाँ की आवश्यकताओं का ध्यान रखकर उत्पन्न हुए थे। इस विचार से, यद्यपि हम खुसरो की कृतियों में साधारण जनता की चित्तवृत्तियों की छाप नहीं पाते परंतु तत्कालीन स्थिति से परिचित होने के लिये हमें उनकी उपयोगिता अवश्य स्वीकार करनी पड़ेगी। भाषा के विकास की दृष्टि से खुसरो की मसनवियों तथा पहेलियों का और भी अधिक महत्त्व है। खुसरो द्वारा प्रयुक्त खड़ी बोली के शुद्ध भारतीय स्वरूप में अरब और फारस के शब्दों की भरमार करके आजकल के कृत्रिम उर्दू बोलनेवाले जब आधुनिक हिंदी को उर्दू से उत्पन्न बतलाने लगते हैं, तब उनके भ्रमनिवारणार्थ खुसरो की रचनाओं का जो सहारा लेना पड़ता है वह तो है ही, भारतीय भाषाशास्त्र के एक अंग की पूर्ति के लिये उपकरण बनकर सहायता देने में भी उनकी कृतियों ने कम काम नहीं किया है।

परंतु खुसरो की कविता का वास्तविक रहस्य समझाने के लिये हमको तत्कालीन कलाओं पर भी ध्यान देना होगा। उनकी कुछ रचनाएँ फारसी में और कुछ हिंदी में पाई जाती हैं तथा कुछ रचनाओं में मिश्रित भाषा का प्रयोग भी दिखाई देता है। जब हम उस समय की वास्तु कला और संगीत कला पर ध्यान देते हैं तो उनमें हिंदू और मुसलमान आदर्शों का मेल पाते हैं। ऐसा जान पड़ता है कि उस समय हिंदू मुसलमानों में परस्पर बहुत कुछ आदान-प्रदान आरंभ हो गया था। यद्यपि साहित्य में हिंदी के वीरगाथा काल तक अपनी पूर्व परंपरा का परित्याग नहीं पाया जाता, परंतु यहाँ की भाषा में बहुत कुछ विदेशीय शब्द आने लगे थे। अमीर खुसरो ने अपना "खालिकबारी" कोश तैयार करके भाषा के आदान-प्रदान में बहुत बड़ी सहायता पहुँचाई थी। उसके कुछ काल उपरांत साहित्य में भावों का आदान-प्रदान भी आरंभ हुआ। इस प्रकार हम खुसरो की कविता में युगप्रवर्तन का बहुत कुछ पूर्वाभास पाते हैं।

वीरगाथा काल के अंतिम अंश में हमें हिंदी गद्य के आविर्भाव की भी झलक मिलती है। यद्यपि निश्चयपूर्वक यह नहीं कहा जा सकता कि हिंदी में गद्य-रचना का आरंभ कब से हुआ, पर जितनी छानबीन अब तक हुई है, उससे हिंदी गद्य का सबसे प्राचीन नमूना गोरखनाथजी के ग्रंथों में मिलता है। गोरखनाथजी का आविर्भाव विक्रम की १४वीं शताब्दी के अंत में हुआ था। अब तक उनके जितने ग्रंथों का पता लगा है, उनमें से एक में भी निर्माणकाल नहीं दिया है, किसी किसी में लिपि-काल दिया है, पर वह है संवत् १८५५ और १८५६। इनमें से एक ग्रंथ गद्य में भी है। यह तो निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि इस ग्रंथ की रचना कब हुई, परंतु भाषा में प्राचीनत्व के चिह्न अवश्य वर्त्तमान हैं। इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि यह ग्रंथ प्राचीन होगा। पृथ्वीराज के समय के कुछ पट्टे और पत्र भी राजपूतानी गद्य में लिखे हुए मिले हैं, पर अनेक विद्वानों का कहना है कि ये प्रामाणिक नहीं हैं। इस संदिग्ध अवस्था में यह कहना कठिन है कि हिंदी के गद्य का आविर्भाव कब हुआ।

गद्य का आविर्भाव

उस काल के साहित्य का साधारण दिग्दर्शन कर लेने पर स्वभावतः यह इच्छा होती है कि हम उस युग के भाषा संबंधी विकास का भी निरीक्षण करें और वीरगाथाओं में प्रयुक्त छंदों आदि से भी परिचित हों। साहित्य के भावपक्ष के साथ ही साथ उसका कलापक्ष भी विकसित होता चलता है, और दोनों का संबंध बहुत कुछ घनिष्ठ हुआ करता है। अतएव साहित्य का इतिहास जानने में भाषा के क्रमिक विकास का रूप जानना भी सहायक और उपयोगी ही नहीं होता, वरन् बहुत कुछ अनिवार्य भी होता है। यह पहले ही कहा जा चुका है कि हिंदी की उत्पत्ति प्राकृत काल की अपभ्रंश भाषाओं से हुई है। परंतु अपभ्रंश कहाँ समाप्त होती है और पुरानी हिंदी कहाँ आरंभ होती है इसका ठीक ठीक पता लगाना बहुत कठिन है। अब तक अपभ्रंश भाषाओं का जितना साहित्य उपलब्ध हुआ है, उसके आधार पर तो केवल यह कहा जा सकता है कि अपभ्रंश के पिछले स्वरूप में और हिंदी के प्रारंभिक स्वरूप में बहुत अधिक एकरूपता है, और इन दोनों भाषाओं में इतना कम अंतर है कि उनके बीच में समय-भेद अथवा देश-भेद बतलानेवाली कोई रेखा नहीं खींची जा सकती। कुछ उदाहरण ऐसे हैं जिन्हें अपभ्रंश भी कह सकते हैं और पुरानी हिंदी भी। अपभ्रंश के उत्तर काल में भी देश की प्रायः वैसे ही स्थिति थी, जैसी हिंदी के आदि काल में थी, अतः

प्रगति

वीर भावों की प्रधानता व्यक्त करनेवाले इन पद्यों को हम उत्तरकालीन अपभ्रंश मान सकते हैं— •

भल्ला हुआ जु मारिया बहिणि महारा कंतु।
लज्जेज्जं तु वयंसिअह जइ भग्गा घरु एंतु॥ १॥
पुत्तें जाए कवणु गुणु अवगुणु कवणु मुएण।
जा बप्पी की भुंहडी चम्पिज्जइ अवरेण॥ २॥

इसके साथ यदि हम चंद बरदाई के निम्नलिखित पद्यों को मिलाकर देखें तो दोनों की समता का बहुत कुछ ज्ञान हो सकता— .

उच्चिष्ठ छंद चंदह बयन सुनत सुजंपिय नारि।
तनु पवित्त पावन कविय उकति अनूठ उधारि॥
ताड़ी खुल्लिय ब्रह्म दिक्खि इक असुर अदब्भुत।
दिग्घ देह चख सीस मुष्ष करुना जस जप्पत॥

इन पद्यों के रचनाकाल में हिंदी का रूप स्थिर हो चुका था और उसका विकास भी होने लगा था। विक्रम की तेरहवीं शताब्दी के प्रथम चरण में चंद का आविर्भाव हो चुका था और इस बात का ध्यान रखते हुए यह कहा जा सकता है कि हिंदी की उत्पत्ति उसके सौ डेढ़ सौ वर्ष पहले हो गई होगी। यदि ऐसा न होता तो पृथ्वीराजरासो जैसे महाकाव्य की रचना नितांत सद्यःप्रसूत भाषा में करने की कल्पना भी किसी को न हो सकती। प्रसिद्ध इतिहासवेत्ता श्री काशीप्रसाद जायसवाल महोदय ने बुद्धिसेन नामक जैन कवि की, विक्रम के दसवें शतक की, अपभ्रंश कविता के साथ पुरानी हिंदी का साम्य दिखाते हुए उसकी उत्पत्ति उसी काल में बतलाई है। यदि हिंदी की उतनी अधिक प्राचीनता न भी स्वीकार की जाय, तो भी यह निश्चय है कि विक्रम के ग्यारहवें शतक में हिंदी का बीजारोपण अवश्य हो गया था और इसके उपरांत उसका रूप बहुत कुछ स्थिर होता रहा और उसके व्याकरण की प्रतिष्ठा भी होती रही। उसके बहुत कुछ विकसित हो जाने पर उसमें कविता भी रची जाने लगी, और चंद बरदाई के पृथ्वीराजरासो महाकाव्य रचने के समय तक उसका पर्याप्त विकास हो गया था।

देशभेद के कारण जिस प्रकार प्राकृत के शौरसेनी, मागधी, महाराष्ट्री, पैशाची आदि तथा अपभ्रंश के नागर, उपनागर, व्राचड़ आदि अनेक विभेद हो गए थे, उसी प्रकार प्रारंभिक हिंदी भी किसी एक रूप में नहीं रही होगी। परंतु साहित्य-ग्रंथों की अधिकता आदि के कारण जिस प्रकार प्राकृतों में महाराष्ट्री प्राकृत और अपभ्रंशों में नागर अपभ्रंश को प्रधानता मिली थी और वैयाकरणों ने उन्हीं का

मुख्यतः उल्लेख करके शेष के संबंध में बहुत साधारण विवेचन किया था, उसी प्रकार हिंदी के भी एक सामान्य साहित्यिक रूप की प्रतिष्ठा हो गई और साहित्य-ग्रंथों की प्रचुरता होने के कारण उसी की प्रधानता मान ली गई और उसमें व्याकरण आदि का नियमित निरूपण भी हो गया। हिंदी के उस साहित्यिक रूप को उस काल में "पिंगल" कहते थे और अन्य रूपों की संज्ञा "डिंगल" थी। 'पिंगल' भाषा में अधिकतर वे विद्वान् रचना करते थे जो अपने ग्रंथों में संयत भाषा तथा व्याकरण-सम्मत प्रयोगों के निर्वाह में समर्थ होते थे। पिंगल की रचनाओं में धीरे धीरे साहित्यिकता बढ़ने लगी और नियमों के बंधन भी जटिल होने लगे। इसके विपरीत डिंगल भाषा का प्रयोग करनेवाले राजपूताने के आसपास के भट्ट, चारण आदि थे जिन्हें न तो भाषा के शुद्ध रूप का ज्ञान था और न उसका प्रयोग करने की आवश्यकता ही थी। पिंगल और डिंगल के इस भेद के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि चंद बरदाई का "पृथ्वीराजरासो" पिंगल भाषा में लिखा गया है और नाल्ह का "बीसलदेवरासो" डिंगल की रचना है।

अमीर खुसरो ने अपनी मसनवियों और पहेलियों में जिस भाषा का प्रयोग किया, उसके संबंध में यहाँ केवल इतना और कह देना पर्याप्त होगा कि वह दिल्ली और आसपास की प्रचलित देशभाषा थी और मुसलमान विजेताओं का केंद्र भी उसी प्रांत में होने के कारण उन्होंने उसको ही ग्रहण किया। पीछे से इसी भाषा में अरबी फारसी के शब्दों को ठूस ठूसकर उसका स्वरूप ही बदल दिया गया और राजभाषा होने के कारण उसके नए स्वरूप की उन्नति भी होती रही। जातीय वैमनस्य ने भी नई भाषा को अधिकाधिक अपरिचित बना देने में सहायता पहुँचाई। खुसरो द्वारा प्रयुक्त खड़ी बोली की उत्पत्ति के संबंध में अब तक कुछ निश्चित रीति से नहीं कहा जा सकता। कुछ विद्वान् उसका जन्म पैशाची प्राकृत से मानते हैं जो पंजाब (पंचनद) प्रदेश में बोली जाती थी; और कुछ विद्वान् उसकी उत्पत्ति शौरसेनी प्राकृत तथा नागर अपभ्रंश से मानते हैं। यहाँ हम इस वाद में नहीं पड़ेंगे और केवल इतना कहकर संतोष कर लेंगे कि शब्दों की उत्पत्ति तथा वाक्यविन्यास आदि की दृष्टि से तथा व्याकरण के अन्य प्रतिबंधों का पालन करने के कारण खुसरो की भाषा इसी देश के एक विशेष भूभाग की प्रचलित भाषा थी। वह न तो खुसरो द्वारा गढ़ी गई थी और न विदेश से ही लाई गई थी। वह तो साधारणतः ब्रजभाषा और पंजाबी के मिश्रण से उत्पन्न जान पड़ती है।

हिंदी की शैशवकाल की रचनाओं में दोहा छंद की सबसे अधिक प्रधानता थी। यद्यपि पृथ्वीराजरासो में सोरठा, छप्पय, कवित्त, पद्धरी आदि प्राकृत काल के तथा साटक, शार्दूलविक्रीड़ित आदि संस्कृत छंदों का प्रयोग भी पाया जाता है, परंतु जिस प्रकार संस्कृत में अनुष्टुपों तथा प्राकृत में गाथाओं की ही प्रधानता रही है, उसी प्रकार पुरानी हिंदी का सर्वप्रिय छंद दोहा ही रहा है। पुरानी हिंदी ही क्यों, अपभ्रंशों में भी दोहों का अधिकता से व्यवहार हुआ है और उस काल की मुक्तक रचना के लिये दोहा छंद विशेष उपयोगी जान भी पड़ता है। "दोहा" का नामकरण कुछ संस्कृत-पक्षपातियों ने दोधक किया है, परंतु संस्कृत के दोधक से इस छंद का कुछ भी संबंध नहीं है। पृथ्वीराजरासो में भी भाषा का जितना सुष्ठु रूप दोहा छंद में देख पड़ता है, उतना अन्य छंदों में नहीं देख पड़ता, पर यह भी जान लेना चाहिए कि प्राचीन हिंदी के जितने अधिक चिह्न चंद के छप्पयों में, जिन्हें कवित्त का नाम दिया गया है, मिलते हैं, उतने दोहों में नहीं मिलते। कुछ छंदों में तो उसकी भाषा संस्कृत और प्राकृत की खिचड़ी सी बन गई है और व्याकरण तथा भाषाशास्त्र के नियमों का कहीं पता ही नहीं लगता।

बीसलदेवरासो तथा आल्हखंड आदि वीर गीतों के छंदों में एक प्रकार का बंधनरहित मुक्त प्रवाह मिलता है। न तो उनमें अंत्यानुप्रास का ही प्रतिबंध रखा गया है और न संस्कृत के वर्णवृत्तों की सी कठोर नियम-बद्धता आई है। अन्य दृष्टियों से भी ये छंद वीरभावों के अभिव्यंजन तथा भाषा की स्वाभाविकता और स्वच्छंदता के रक्षण में सहायक हुए हैं।

अनुप्रासों आदि के द्वारा भाषा को सजाने तथा आलंकारिक उक्तियों द्वारा भावों को चमत्कारपूर्ण बनाने का जितना प्रयत्न पृथ्वीराजरासो में देख पड़ता है, उतना उस काल की अन्य रचनाओं में कहीं नहीं देख पड़ता। संभवतः यह कार्य पीछे से किया गया है।

वीरगाथाओं का द्वितीय उत्थान

जब देश का शासनाधिकार मुसलमानों के हाथ में जाकर स्थिर हो गया और जब रणथंभौर तथा चित्तौड़ आदि दो एक स्थानों को छोड़कर शेष सभी देशी रजवाड़ों ने विदेशियों को आत्मसमर्पण कर दिया, तब वीर गाथाओं की रचना में शिथिलता आ गई और धीरे धीरे उनका ह्रास भी हो गया। स्वतंत्रता का सम्मान खोकर भारत नत-मस्तक हो चुका था। जनता आतंकित और विलासिनी होकर आत्म-

विस्मृत सी हो गई। विदेशी शासन से राष्ट्र का जो अधःपतन होता है, विजातीय और विधर्मी शासक से उसको जो क्षति पहुँचती है, परतंत्रता में जो अभिशाप उसे मिलते हैं, उन पर तथा ऐसी ही अन्य बातों पर ध्यान देने की समझ भी जाती रही थी। विदेशी शासन को उलट देने की न किसी में शक्ति थी और न इच्छा। प्रसिद्ध क्षत्रिय नृपति हम्मीर-देव ने हिंदुओं के देश में हिंदुओं का राज्य बनाए रखने की जो प्रबल चेष्टा की थी, और सफलतापूर्वक विपक्षियों का जो अनेक बार सामना किया था, वही हिंदू वीरता का अंतिम निदर्शन था। इस दृष्टि से 'हम्मीरचरित्र' उस युग की अंतिम वीरगाथा है। उसके उपरांत कई सौ वर्षों तक हिंदुओं की ओर से राज्यस्थापन का कोई उल्लेख योग्य सामूहिक प्रयत्न नहीं हुआ। महाराणा प्रताप के उत्कट स्वदेशानुराग ने एक बार शिथिल और निष्प्राण हिंदू जाति को नवजीवन से संचरित करके उसकी नसों में उष्ण रक्त का तेजी से संचार अवश्य कर दिया, पर महाराणा की कार्यप्रणाली में राष्ट्रीय चेतना का सहयोग नहीं था। महाराणा की वीरता उनकी निजी वीरता थी, अथवा अधिक से अधिक वह स्वतंत्रताप्रिय चित्तौड़निवासी क्षत्रियों की वीरता थी, समस्त राष्ट्र का उसमें सहयोग नहीं था। इसका कारण स्पष्ट है। उस समय तक देश सो रहा था। विलासिता का प्रवाह उस समय तक बंद नहीं हुआ था, वरन् प्रबल ही होता जा रहा था। हिंदू जाति उस समय तक परतंत्रता के कष्टों का अनुमान नहीं कर सकी थी, मुसलिम शासन की नृशंसता का पूरा पूरा अनुभव उस समय तक नहीं हो सका था। अकबर, जहाँगीर और शाहजहाँ के शासनकाल में हिंदूजाति बराबर पतनोन्मुख रही। वह उसकी सुषुप्ति की अवस्था थी। महात्मा तुलसीदास ने मंथरा के मुख से "कोउ नृप होय हमैं का हानी" कहलाकर उस समय के शासन के संबंध में प्रचलित जनता के विचारों की सच्ची अभिव्यंजना की है। जिस प्रकार शराबी मदिरा पीकर अपनी स्थिति भूल जाता है और आत्मविस्मृति की अवस्था में एक प्रकार की निर्द्वंद्वता का अनुभव करता है, उसी प्रकार समस्त भारतीय राष्ट्र उपर्युक्त मुगलशासकों की कूटनीति में फँसकर अपने को भूल गया था और अपनी स्थिति पर संतोष किए हुए बैठा था।

जब किसी जाति के विचारों में इस प्रकार की शिथिलता-जन्य स्थिरता आ जाती है, तब उसके लिये वह काल बड़ा भयावह हो जाता है। ऐसी स्थिरता का ही दूसरा नाम मृत्यु है। भारतीय जनता भी लगभग ऐसी ही अवस्था में थी; परंतु औरंगज़ेब के मुसलिम शासन

की बागडोर अपने हाथ में लेते ही परिस्थिति बदली। इतिहास की यह एक अद्भुत शिक्षा है कि कठोर अत्याचारी और अन्यायी नृपतियों के शासनकाल में ही जनता को अपने कल्याण का मार्ग दिखाई पड़ता है। हिंदू जाति, हिंदू धर्म तथा समस्त भारतीय राष्ट्र के लिये औरंगजेब का शासन सबसे अधिक कठोर तथा नृशंस था। जनता के लिये चरम निराशा का काल यही था। देश के बड़े बड़े मंदिरों और उच्च कोटि की कला के निदर्शनों को ढाकर उनके स्थान में मसजिदें खड़ा करना, शासनकार्य में अधिक से अधिक पक्षपात दिखाना, जज़िया जैसे कर लगाकर तथा अनेक प्रकार के भय और प्रलोभन दिखाकर हिंदुओं को बलपूर्वक धर्मभ्रष्ट करना, हिंदुओं की मान-प्रतिष्ठा, धन-संपत्ति, इज्जत-आबरू सबको द्विविधा में डाल देना प्रभृति अत्याचारों का फल वही हुआ जो ऐसी स्थिति में हो सकता था और जो सदा हुआ है। हिंदू जाति बहुत दिनों तक सोती न रह सकी। वह जाग उठी। उसने अपनी भयानक स्थिति का अनुमान किया। वह सब कुछ सहन कर सकती थी, परंतु धर्म पर होनेवाले अत्याचार सहन करना उसकी शक्ति के बाहर था। हिंदू आदि से ही धर्मप्राण थे, दो तीन सौ वर्षों की भक्त कवियों की वाणी के फल-स्वरूप उनकी धर्मप्रियता और भी दृढ़ हो गई थी। सच बात तो यह है कि उस निस्सहाय अवस्था में उन्हें एक धर्म का ही सहारा रह गया था। जब उनका एक मात्र यह अवलंबन भी उनसे छीना जाने लगा, तब सारी हिंदू जाति विकल हो उठी। उसने सच्ची स्थिति को समझ लिया। फलतः राजनीतिक क्षेत्र में एक हलचल सी मच गई और इस हलचल में एक जाग्रत राष्ट्र की सम्मिलित चेतना दिखाई दी। पंजाब में गुरु गोविंदसिंह, महाराष्ट्र में छत्रपति शिवाजी और बुंदेलखंड में वीर छत्रसाल इस जागर्ति का मूर्तिमान् स्वरूप धारण कर भारत के रंगमंच पर रणचंडी का नृत्य दिखाने लगे। इस नवीन जागर्ति के मूल में धर्म-भावना ही थी। मुसलमानों के पाप का घड़ा भर चला था। यही जागर्ति हिंदी कविता में वीरगाथाओं के नवीन उत्थान के मूल में है। इसी काल में वीर कवियों का दूसरी बार प्रादुर्भाव हुआ था।

परंतु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि वीर हम्मीरदेव से लेकर छत्रपति शिवाजी के समय तक वीरगाथाएँ लिखी ही नहीं गईं। हाँ, यह बात अवश्य है कि उस काल में वीर-पूजा की सच्ची भावना से प्रेरित होकर वीर काव्यों की रचना नहीं हुई। ऐसे तो तत्कालीन विलास-प्रिय नृपतियों की मनस्तुष्टि के लिये कितने ही स्वार्थसाधक खुशामदी कवियों ने अर्थ-लोलुपतावश कविवाणी के तिरस्कार-स्वरूप अनेक वीर

काव्य बनाए होंगे, जो या तो अब कालकवलित हो गए या रजवाड़ों के पुस्तकालयों के किसी कोने में जीर्ण-शीर्ण अवस्था में पड़े हुए होंगे। ऐसे काव्यों को न तो हम वीरगाथात्मक काव्य कह सकते हैं और न उनके रचयिताओं को वीरगाथाकार कह सकते हैं। ऐसे कवियों की रचनाओं में और सच्चे वीर कविताकारों में स्पष्ट भेद दिखाई पड़ता है। सच्चे वीरों की प्रशस्ति लिखनेवाले कवि सत्य का आश्रय लेते हैं, अतः उनकी रचनाएँ चिरकाल तक जनता की कंठहार बनी रहती हैं। उनमें समस्त जाति और समस्त देश का गौरव अंतर्निहित रहता है। उनका सार्वदेशिक प्रचार होता है और उनके निर्माता कवि यशस्वी तथा अमर हो जाते हैं। इसके विपरीत स्वार्थलोलुप खुशामदी कवियों की कृतियों में शब्द-चातुर्य की सहायता से कुछ काव्यगुण भले ही आ जायँ, पर उनका बहुत शीघ्र लोप हो जाता है। मिथ्या स्तुति पर अवलंबित होने के कारण थोड़े ही दिनों में वे रचनाएँ आलमारियों से बाहर निकलने के योग्य नहीं रह जातीं; क्योंकि मानव-प्रकृति सत्य को ग्रहण करती और असत्य से घृणा करती है। महाराणा प्रतापसिंह जैसे सच्चे वीर का सम्मान उस समय देश न कर सका, उनकी एक भी उल्लेखनीय गाथा नहीं लिखी गई, एक यही बात पुकार पुकारकर कह रही है कि वह समय वीरगाथाओं का नहीं था, वह समय जाति के पतन का और खुशामदी कवियों की वासना-तृप्ति का था। मुगल दरबारों में अनेक हिंदू कवि रहते थे और अपने आश्रयदाताओं की स्तुति करने में ही अपने जीवन की सार्थकता समझते थे। जातीय जीवन की पूर्ण विस्मृति का यह एक श्रेष्ठ उदाहरण है। यह स्थिति औरंगजेब के समय तक रही। उसके उपरांत हवा बदली। औरंगजेब की प्रशंसा करनेवाले किसी प्रसिद्ध हिंदू कवि का पता आज नहीं लगता, यद्यपि कुछ कवि उसके दरबार में रहते अवश्य थे। इसका कारण यही है कि हिंदुओं में राष्ट्रीय चेतना का प्रादुर्भाव हो रहा था और मुगल शासन की ओर से धीरे धीरे आकर्षण हटता जा रहा था, चकाचौंध दूर हो रही थी और दृष्टि के आगे से मोह तथा अज्ञान का परदा धीरे धीरे उठ रहा था।

जब हम द्वितीय उत्थानकाल की वीर गाथाओं की तुलना आदि युग की वीर रचनाओं से करते हैं, तब उनमें कुछ बातों में समता और कुछ में विभेद दिखाई पड़ता है। इस समता और विभेद पर ध्यान देना अत्यावश्यक है; क्योंकि समता में तो हम वीरगाथाओं की सामान्य प्रवृत्ति देखते हैं और विभेद में विभिन्न कालों की परिस्थिति का विवरण पाते हैं। दोनों कालों की वीरगाथाएँ अद्भुत ओज से भरी हुई हैं।

दोनों की भाषा में जो कठोरता है, वह वीरकाव्योचित है। इस साधारण समता के अतिरिक्त कई दृष्टियों से दोनों कालों की रचनाओं में विभेद भी है। पहला विभेद भाषा संबंधी है। आदि युग की वीरगाथाएँ अपभ्रंश-भाषाओं और पुरानी हिंदी के सम्मिश्रण-काल की हैं। उस समय हिंदी का कोई स्थिर रूप निश्चित नहीं हो सका था, अतः उस काल की रचनाओं में भाषा की प्रौढ़ता कहीं देख नहीं पड़ती। दूसरी बात यह भी है कि प्रारंभिक काल की वीर रचनाओं का केंद्र राजपूताने के आस पास का प्रांत था, अतः उन रचनाओं में वहाँ की भाषा की गहरी छाप पड़ी है। इसके विपरीत द्वितीय उत्थान काल की वीरगाथाओं में साहित्यिक व्रजभाषा अपने प्रौढ़ रूप में प्रयुक्त हुई है। एक प्रौढ़ भाषा के प्रतिष्ठित हो जाने के कारण, अथवा अन्य किसी कारण से उत्तरकालीन वीरगाथाओं को हम या तो प्रबंधकाव्य के रूप में देखते हैं या सुगठित मुक्तकों के रूप में देखते हैं। इस काल में हम आदि युग के से वीर गीतों का अभाव पाते हैं।

इस समता और विभेद के साथ हम सामूहिक रूप से दोनों कालों की वीरगाथाओं का चित्र थोड़ा बहुत देख सकते हैं, परंतु कवियों की वैयक्तिक विशेषताओं का पता नहीं लगा सकते। वीरगाथा काल के प्रायः सभी कवि राजाश्रित थे और अपने अपने वीर आश्रयदाताओं की स्तुति में काव्य-रचना करते थे। यद्यपि उनके आश्रयदाताओं में अधिकांश सच्चे वीर थे और उन्होंने जातीयता की भावना से प्रेरित होकर मुसलमानों से लोहा लिया था, परंतु राजपूत नृपति आपस में भी लड़ा करते थे और उनकी शक्ति गृह-कलह में भी क्षीण होती रहती थी। उनमें संघटित होकर मुसलमानों से युद्ध करने की इच्छा उतनी अधिक बलवती नहीं थी जितनी अलग अलग शौर्य प्रदर्शन की थी। अतः हमें उनके प्रयासों में समस्त राष्ट्र के प्रयास नहीं मिलते। इसी प्रकार उनकी प्रशंसा करनेवाले कवियों में जातीय या राष्ट्रीय भावना की प्रधानता नहीं देख पड़ती। इस दृष्टि से हम उत्तरकालीन वीर कविताकार "भूषण" को अन्य सब कवियों से विभिन्न श्रेणी में पाते हैं। उसकी कृतियों में जातीयता की भावना सर्वत्र व्याप्त मिलती है, उसकी वाणी हिंदू जाति की वाणी है, वह हिंदुओं का प्रतिनिधि कवि है।

औरंगजेब के धार्मिक कट्टरपन के कारण जब हिंदू जाति का अस्तित्व ही संकटापन्न हो गया, तब आत्मरक्षा और प्रतिकार की प्रेरणा से महाराष्ट्र शक्ति का अभ्युदय हुआ। इस शक्ति को संघटित करनेवाले छत्रपति शिवाजी हुए जिनके मार्ग-प्रदर्शन का कार्य समर्थ गुरु

रामदास ने किया था। शिवाजी के अतिरिक्त बुँदेलखंड के प्रसिद्ध अधिपति छत्रसाल ने भी स्थानीय राजपूत शक्ति को उत्तेजित करने का सफल प्रयास किया था। इस प्रकार महाराष्ट्र और मध्यदेश की शक्ति का जो उत्थान हुआ, उसमें राष्ट्रीयता की पूरी पूरी झलक दिखाई पड़ी। संयोग से इन दोनों राष्ट्रोन्नायकों को भूषण तथा लाल जैसे सुकवियों का सहयोग भी प्राप्त हुआ, जिससे शक्ति-संघटन में बड़ी सहायता मिली। जातियों के उत्थान में जब कभी महात्माओं, योद्धाओं तथा कवियों की सम्मिलित सहायता मिलती है, तब वह बड़े ही सौभाग्य की सूचना होती है और उससे उनके कल्याण का पथ बहुत कुछ निश्चित और निर्धारित हो जाता है। इसी काल में सिखों की वीरता का भी उदय हुआ और उन्होंने राष्ट्रहित की साधना में पूरा पूरा सहयोग दिया। पर सिख धर्म का आरंभ संतों की वाणी तथा उन्हीं की प्रवृत्ति और प्रकृति के अनुकूल हुआ था। पीछे से समय की स्थिति ने इस धर्म पर ऐसा प्रभाव डाला कि वह संत-साधुओं के धर्म का बाना उतारकर वीरों की वेषभूषा तथा कृतियों से सुसज्जित और अलंकृत हो गया। यद्यपि गुरु गोविंदसिंह के समय में हिंदी काव्यों की रचना हुई पर वे वीर-गाथात्मक नहीं थे वरन् उस समय के साहित्य की प्रगति के अनुकूल थे।

भूषण और लाल की रचनाओं पर विचार करते हुए हमें यह भूल न जाना चाहिए कि इनका आविर्भाव उस काल में हुआ था जिस काल में रीति-ग्रंथों की परंपरा ही सर्वत्र देख पड़ती थी। नायिका-भेद की पुस्तकों, नखशिख-वर्णनों और श्रृंगाररस के फुटकर पद्यों का जो प्रबल प्रवाह उस समय चला था, उससे बचकर रहना तत्कालीन किसी कवि के लिये बड़ा ही कठिन था। भूषण और लाल भी उस सर्वतो-मुखी प्रवाह से एकदम बचे न रह सके। यद्यपि भूषण की सभी रच-नाएँ प्रायः वीररस की हैं परंतु उन्होंने अपने शिवराजभूषण नामक ग्रंथ में उन रचनाओं को विविध अलंकारों आदि के उदाहरण-स्वरूप रखा है। यह काल-दोष था। उस समय इससे बच सकना असंभव था। इसी प्रकार लाल कवि ने भी यद्यपि वीर व्रत धारण किया था, तथापि विष्णुविलास नामक नायिका-भेद की एक पुस्तक उन्होंने लिख ही डाली। कविवर लाल के छत्रप्रकाश नामक ग्रंथ में प्रसिद्ध छत्रसाल की वीरगाथा अंकित है, और प्रबंधकाव्य के रूप में होते हुए भी उसकी रचना अत्यंत प्रौढ़ और मार्मिक हुई है। महाकवि भूषण की ही भाँति कविवर लाल के इस ग्रंथ में जातीयता की भावना मिलती है और उनकी इस रचना में श्रृंगाररस नहीं आने पाया है।

वीरगाथाओं के इस युग के दो प्रधान कवि भूषण और लाल ही माने जाते हैं; परंतु सूदन के सुजानचरित्र में भी वीररस की अच्छी झलक मिलती है। सूदन ने अपने आश्रयदाता सूरजमल का चरित्र फड़कती हुई भाषा में लिखा है। सूरजमल ने संवत् १८०२ के लगभग मेवाड़ जीता था और १८०४ में तत्कालीन जयपुर-नरेश की सहायता से मराठों पर विजय पाई थी। यही नहीं, उसने दिल्ली के मुगल सम्राट् से भी युद्ध किया था और कई बार उसने मुगल सरदारों को पराजित किया था। सूरजमल के इसी वीरचरित का वर्णन सुजानचरित्र में मिलता है। यद्यपि इस पुस्तक में वीररस का अच्छा परिपाक हुआ है, पर इसके मूल में जातीयता की वह चेतना नहीं देख पड़ती जो भूषण और लाल की 'रचनाओं में मिलती है। यद्यपि इसका नायक सूरजमल ऐतिहासिक व्यक्ति है, पर राष्ट्रोन्नति के कार्य में उससे कोई विशेष सहायता नहीं मिली थी। इसी प्रकार प्रसिद्ध शृंगारी कवि पद्माकर की हिम्मतबहादुर-विरदावली नामक वीर रस की प्रसिद्ध पुस्तक भी इसी काल में लिखी गई थी; पर उसके नायक हिम्मतबहादुर नामक व्यक्ति अवध के तत्कालीन बादशाह के यहाँ नौकर थे और उनका कुछ भी ऐतिहासिक महत्त्व नहीं है। चंद्रशेखर वाजपेयी नामक कवि ने संवत् १८९० के लगभग हम्मीरहठ नामक एक वीरगाथा लिखी और वह अवश्य उल्लेखनीय है। उसके नायक हम्मीरदेव प्रसिद्ध क्षत्रिय नृपति थे जिन्होंने कितनी ही बार मुसलिम शासन को उखाड़ फेंकने का प्रयत्न किया था और जो हिंदुत्व की रक्षा में जी-जान से लगे रहते थे। हम्मीरहठ में यद्यपि उन नवीन उद्भावनाओं की कमी है जो प्रतिभाशाली कवियों की कृतियों में होती हैं, परंतु प्रौढ़ भाषा में लिखे हुए इस वीरकाव्य का महत्त्व अन्य दृष्टियों से बहुत अधिक है। "तिरिया तेल हमीरहठ चढ़ै न दूजी बार" वाली प्रसिद्ध पंक्ति के रचयिता चंद्रशेखर का हम्मीरहठ अवश्य इस युग की वीर-गाथाओं में उच्च स्थान का अधिकारी है। इस काल में अनेक वीरगाथाएँ लिखी गई थीं, जिनमें से मुख्य मुख्य कृतियों का उल्लेख ऊपर कर दिया गया है। अन्य साधारण कृतियों का विवरण यहाँ नहीं दिया जा सकता। अंत में हम एक बार फिर यह कह देना आवश्यक समझते हैं कि इस युग के अनेक वीरगाथाकारों में भूषण और लाल ही सर्वश्रेष्ठ हैं।

महाकवि भूषण का रचनाकाल विक्रम की अठारहवीं शताब्दी का मध्य भाग माना जाता है। यद्यपि इनके जन्म और रचनाकाल के संबंध में कुछ लोगों ने अनुसंधान करने की चेष्टा की है, परंतु उनकी खोज

अभी तक पुष्ट प्रमाणों पर अवलंबित नहीं है। भूषण का मतिराम और चिंतामणि का भाई होना और उनका शिवाजी का समकालीन होना लोकप्रसिद्ध बात है। इसके विरुद्ध जो कुछ प्रमाण दिए जायँ जब तक वे असंदिग्ध न हों, तब तक इस लोक-प्रसिद्ध बात का तिरस्कार नहीं किया जा सकता। भूषण की वीर-दर्पपूर्ण रचनाओं के देखने से ऐसा जान पड़ता है कि वे स्वयं अनेक युद्धों में शिवाजी के साथ उपस्थित थे और उन्होंने अपनी वाणी से वीर मराठों को प्रोत्साहित और उत्तेजित किया था।

भूषण

यद्यपि भूषण की अनेक रचनाओं का उल्लेख मिलता है, पर इस समय शिवराजभूषण, शिवाबावनी और छत्रसालदशक ये ही तीन पुस्तकें प्राप्य हैं। इनमें से शिवराजभूषण सबसे बड़ा ग्रंथ है और यह रीतिकाल की परंपरा के अनुसार अलंकारों के उदाहरण-क्रम से लिखा गया है। निश्चय ही इसके छंदों की रचना भिन्न भिन्न कालों में हुई होगी, और अंत में उनका संकलन कर दिया होगा। इसी प्रकार शिवाबावनी के बावन छंद भी समय समय पर बनते रहे और पीछे से एकत्र कर दिए गए होंगे। छत्रसालदशक में बुँदेलखंड के राजपूत अधिपति छत्रसाल की प्रशंसा में बनाए हुए दस छंद हैं।

यों तो भूषण की सभी रचनाएँ ओजस्विनी और वीरदर्प से भरी हुई हैं, परंतु उनकी शिवाबावनी में उपर्युक्त गुणों की पराकाष्ठा देख पड़ती है। भूषण की सत्यप्रियता उनकी रचनाओं में स्पष्ट दिखाई देती है। राष्ट्रीयता की जिस भावना से प्रेरित होकर उन्होंने वीर कविता की, वह तो उनके प्रत्येक छंद में वर्तमान है। शिवाजी का आतंक चारों ओर फैलाने और विपक्षियों में उनकी धाक जमाने में भूषण की कविता ने बड़ा काम किया। उनकी कविताएँ बहुत शीघ्र प्रचलित हुईं और उनका सम्मान भी सर्वत्र हुआ। कविता द्वारा जितनी ख्याति, जितना सम्मान और जितना धन भूषण को मिला, उतना बहुत थोड़े कवियों को प्राप्त हुआ। राजदरबारों में इनका बड़ा सम्मान था। कहा जाता है, एक बार छत्रसाल ने उनकी पालकी अपने कंधे पर रख ली थी। आदर-सम्मान की यह पराकाष्ठा ही कही जायगी।

मऊ (बुँदेलखंड) निवासी गोरेलाल पुरोहित उपनाम लाल कवि का छत्रप्रकाश प्रबंधकाव्य के रूप में दोहा चौपाइयों में रचा गया है। इसमें संवत् १७६४ के उपरांत की घटनाओं का उल्लेख नहीं है जिससे जान पड़ता है कि कवि की मृत्यु उसके आश्रयदाता छत्रसाल के जीवनकाल में ही हो गई थी।

लाल

इस प्रकार पूरी जीवन-गाथा न होते हुए भी वीर छत्रसाल का यह चरित्र बड़ा ही उत्तम हुआ है। लंबे प्रबंधों में संबंध-निर्वाह और अरोचकता-निवारण आदि का जो ध्यान रखना आवश्यक होता है, इसमें उसका पूरा पूरा पालन हुआ है। रसपरिपाक में भी त्रुटि नहीं होने पाई है। वीर छत्रसाल महाराज शिवाजी को अपना नेता और पथप्रदर्शक मानते थे। कवि ने उनके इस संबंध की रक्षा करके अपनी सत्यप्रियता का परिचय तो दिया ही है, साथ ही उस राष्ट्रोत्थान में सहायता भी पहुँचाई है जिसका संचालन शिवाजी कर रहे थे। कवि की इस बात में बड़ी महत्ता है क्योंकि उसमें जातीय उन्नायकों के प्रति पूर्ण सहानुभूति है, और वैयक्तिक ऊँच नीच भाव को अलग रखने की दूरदर्शिता भी है। उस युग के किसी कवि में ऐसी तत्त्वग्राही प्रवृत्ति नहीं देख पड़ती।

भूषण और लाल दोनों ही कवियों में हम यह एक सामान्य प्रवृत्ति देखते हैं कि वे क्लिष्ट कल्पनाओं और टेढ़ी बातों के फेर में न पड़कर सीधी और सरल भावव्यंजना करते हैं। उनका यह गुण उन्हें उस युग के प्रायः सभी अन्य कवियों से अलग एक ऊँची श्रेणी में ला बैठाता है। वास्तव में जो कवि जनता के हितैषी होते हैं और जिन्हें अपने युग का कुछ संदेश देना होता है वे कभी वाणी का इंद्रजाल नहीं रचते, प्रत्युत सरल से सरल शब्दों में अपना संदेश कह सुनाते हैं। रीतिकाल के कवियों की तो यह एक प्रसिद्ध विशेषता थी कि वे अत्यंत मधुर भाषा में पुरानी पिष्टपेषित बातों को एक नए ढंग से कह डालते थे। उन्हें मौलिक बहुत कम कहना रहता था; अतः सीधी और स्वाभाविक उक्तियों से उनके कथन में विशेषता नहीं आ सकती थी। भूषण और लाल की रचनाएँ रीतिकाल की सामान्य प्रवृत्ति के अपवाद-स्वरूप हैं। उनमें न तो भाषा की स्वच्छता पर और न काव्योत्कर्ष की वृद्धि करनेवाले अन्य कृत्रिम साधनों पर उतना ध्यान दिया गया है। इन दोनों कवियों ने बड़े ही सीधे किंतु प्रभावशाली ढंग से अपने अपने चरित्रनायकों की यशोगाथा लिखी और राष्ट्र को इस प्रकार संघटन और स्वतंत्रता का दिव्य संदेश सुनाकर वे अपने युग के और हिंदू जाति के प्रतिनिधि कवि हुए।

भारत पर ब्रिटिश शासन के प्रतिष्ठित हो जाने पर अँगरेजी की पढ़ाई प्रारंभ हुई। इसके परिणाम-स्वरूप अँगरेजी शिक्षा प्राप्त एक दल तैयार हुआ और धीरे धीरे उसमें राष्ट्रीय उन्नति के भाव उदय हुए। राष्ट्रीय उन्नति की कल्पना सर्वतोमुखी थी। सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, आदि प्रत्येक क्षेत्र में सुधार का आयोजन होने लगा। यद्यपि अन्य प्रांतों

आधुनिक समय की वीर कविताएँ

में भी शीघ्र ही राष्ट्रोन्नायकों का प्रादुर्भाव हुआ पर बंगाल के राजा राम-मोहन-राय ने पथप्रदर्शक का काम किया। हिंदी-भाषा-भाषी प्रांतों में स्वामी दयानंद का कार्य सर्वथा प्रशंसनीय था। उनके अन्य विचारों से चाहे कोई सहमत हो या न हो, पर इतना तो मानना ही पड़ता है कि सुषुप्त देश को जगाने और गिरी हुई दशा पर ध्यान दिलाने का उनका प्रयत्न हमारे लिये कल्याणकर हुआ। स्वामी दयानंद अँगरेजी भाषा के विद्वान् नहीं थे; फिर भी उनमें देशोन्नति की उच्चाकांक्षा किसी अँगरेजी शिक्षा प्राप्त व्यक्ति से कम नहीं थी; और उनका उद्योग तो सर्वाधिक सफल हुआ। हिंदी कविता के क्षेत्र में देशोन्नति संबंधी उत्साहवर्द्धक वीररसात्मक कविता का प्रारंभ स्वामी दयानंद के कुछ काल उपरांत हो गया था; पर वीररस का कोई प्रसिद्ध उल्लेखयोग्य कवि नहीं हुआ। इस काल में थोड़ी सी फुटकर रचनाओं में वीरता की अच्छी झलक देख पड़ती है; पर किसी कवि को एकमात्र वीररस की कविता करने का श्रेय नहीं दिया जा सकता। थोड़े समय पीछे महात्मा गांधी के देशव्यापी असहयोग आंदोलन का प्रारंभ हुआ और हिंदी को राष्ट्र-भाषा कहलाने का गौरव प्राप्त हुआ। जब हिंदी राष्ट्रभाषा मानी गई, तब उसमें राष्ट्र के विचारों और आकांक्षाओं की छाप अवश्य मिलनी चाहिए। इधर थोड़े दिनों से हिंदी में वीर कविता भी प्रारंभ हुई है। ये कविताएँ या तो वर्तमान परिस्थिति में प्रोत्साहन के रूप में हैं, या प्राचीन वीरों की प्रशस्तियों के रूप में हैं। आधुनिक समय के वीर कविताकारों के संबंध में यह बात स्वीकार करनी पड़ती है कि उनमें से अधिकांश ऐसे हैं जो कविता लिखकर ही अपने कर्तव्य की इतिश्री समझ बैठते हैं, वास्तविक कार्यक्षेत्र में साहसपूर्वक प्रवेश करने की प्रवृत्ति उनमें नहीं दिखाई पड़ती। आजकल ऐसे कवियों की एक अलग श्रेणी बन गई है, जिन्हें हम साहित्यिकों की श्रेणी कह सकते हैं और जिनका राष्ट्र की वर्तमान कार्य-प्रणाली से केवल मौखिक संबंध है। वीर कवियों के लिये यह बात वांछनीय नहीं। उनकी कविताओं का विशेष प्रचार न होने का यही कारण है। जनता के हृदय में तो वे ही स्थान पा सकते हैं जो उसके सुख-दुःख के साथी हों, उसकी स्थिति अपनी आँखों से देखते और समझते हों। कविता द्वारा प्रोत्साहन देना तभी सार्थक हो सकता है जब कार्यक्षेत्र में आकर वास्त-विक प्रोत्साहन भी दिया जाय। यूरोप के आधुनिक राष्ट्रोन्नायकों में महात्मा टाल्सटाय ऐसे महापुरुष हो गए हैं जिनकी वाणी और उपदेश स्वयं उन्हीं के कार्यों में चरितार्थ होते थे। वे जो कुछ कहते थे वही

करते भी थे। फलतः उनके देशनिवासियों ने उनकी कृतियों का सम्मान धार्मिक पुस्तकों का सा किया और वे स्वयं सबकी दृष्टि में पूजनीय हुए। हमको इस समय ऐसे ही कवियों की आवश्यकता है। हिंदी में अभी ऐसे कवि नहीं हैं। वीर-कविताकारों में उल्लेख योग्य नाम माखनलालजी चतुर्वेदी, बालकृष्णजी शर्मा, गयाप्रसादजी शुक्ल, अनूप, वियोगी हरि, माधव शुक्ल आदि के हैं। लाला भगवानदीन का वीर-पंचरत्न और वियोगी हरि की वीर-सतसई इस प्रकार के काव्यों की अर्वाचीनतम उत्तम कविताएँ हैं। इस प्रकार की आधुनिक रचनाओं का थोड़ा-बहुत प्रभाव राष्ट्रीय जीवन पर पड़ा है, पर अभी इस क्षेत्र में विशेष उन्नति की आवश्यकता है।

पाँचवाँ अध्याय

योग-धारा

वीर काव्य के साथ ही साथ हमारे साहित्य के इतिहास में एक धारा और बहती रही जिसका पाट आध्यात्मिकता के जल से भरा था।

धार्मिक लहर

विदेशियों के भीषण आक्रमणों से भी भारतीय योगियों की शांति भंग नहीं हुई। उनके यम-नियम, आसन-प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारण और समाधि बिना किसी विघ्न-बाधा के चलते रहे। बाहरी दुनिया को छोड़कर ध्यानावस्थित होकर वे भीतरी दुनिया को देखते रहे। आत्मा की स्वतंत्रता के आगे देश की स्वतंत्रता का महत्त्व उनके मन में बैठ नहीं सकता था। आत्मा को परतंत्रता में डालने के बहुत से उपादान उस समय की स्थिति में विद्यमान थे। सांसारिक माया-मोह के बंधन से मुक्ति पाना स्वतः ही बहुत कठिन कार्य है, उस पर यदि स्वयं धर्म में उन उपायों को ग्रहण करना विधेय बताया जाय जो सामान्यतः माया-मोह के दृढ़ बंधन माने जाते हैं तो मुक्ति का प्रश्न उठ ही नहीं सकता। हिंदी के उस आरंभिक युग में भारतीय धार्मिक स्थिति वस्तुतः ऐसी ही थी। बुद्ध के कट्टर विरक्ति-विधायक नियमों के प्रत्या-

वज्रयान

वर्तन में बौद्धों ने अश्लील बातों को धर्म में ग्रहण कर लिया। जिन बातों से बुद्ध भगवान् अपने गिने चुने विरक्त अनुयायियों को बचाए रखना चाहते थे, उन्हीं को उनके अनुयायी धर्म समझकर करने लगे थे। मंत्र-यान के मार्ग से बौद्ध धर्म ने वह विरूप आकृति धारण की जिसमें अकरणीय भी करणीय और निषिद्ध भी विधेय ठहराया गया। यम-नियमादि का उल्लंघन किया जाने लगा। हिंसा, असत्य-भाषण, मद्यपान, स्त्रियों से दुराचार अध्यात्म-सिद्धि के लिये आवश्यक उपादान समझे जाने लगे थे (गुह्य समाज तंत्र, पृष्ठ १२०, गायकवाड़ ओरियंटल सिरीज)। और तो और, साधन-मार्ग में माता, सास, बहिन, पुत्री आदि भी वर्जनीय नहीं समझी जाती थीं। दुराचारी राजा इस धर्म के प्रसार में सहायक हुए। मनुष्य की निम्न प्रकृति को उभाड़नेवाला यह धर्म दावाग्नि की तरह फैला। पाप को पुण्य का रूप देनेवाले इन 'सिद्धों' को जनसाधारण

की नजर में सिद्ध बनने के लिये योग की साधारण सी प्रक्रियाओं का ही ज्ञान लेना काफी था। यह धर्म वज्रयान कहलाया।

इस वज्रयानी 'सिद्धई' से जनता का उद्धार करना भारतीय आध्यात्मिक जीवन की सबसे बड़ी आवश्यकता थी। जान पड़ता है कि वज्रयान की प्रतिक्रिया स्वरूप एक ऐसे आंदोलन ने जन्म लिया जिसने योग-सिद्धि के लिये स्त्री को आवश्यक उपादान नहीं प्रत्युत परीक्षा का साधन बतलाया। मछंदरनाथ योग की क्रियाओं में निपुणता प्राप्त कर अपनी 'सिद्धि' की पूर्णता के प्रदर्शन के उद्देश से सिंहल की पद्मिनी स्त्रियों के बीच गए पर पूरे न उतरे। अपने गुरु की शिक्षा का पूर्ण प्रदर्शन गोरखनाथ के द्वारा संभव हुआ। गोरखनाथ ही ने भोगलिप्सा में पड़े हुए अपने गुरु को इस मायिक निद्रा से उठाकर अपनी योगशक्ति को उद्बुद्ध किया। "जाग मछंदर गोरख आया" एक बहुत प्रसिद्ध उक्ति है जो इसी घटना की ओर संकेत करती है। कैवल्य की प्राप्ति के उद्देश से साधना करनेवालों के लिये गोरख ने ऐसी जीवन-शैली का उपदेश दिया जिसमें योग की नेती, धोती, आसन, बंध, मुद्रा इत्यादि के साथ साथ बिंदु-धारण का विशेष महत्त्व था। सामान्य जीवन-व्यवहार तथा रहन-सहन के लिये भी उन्होंने अपने अनुयायियों के लिये जो नियम बनाए उनमें विनम्रता और सौम्य तथा निष्काम भाव का विशेष महत्त्व रहता था। युक्तायुक्त विहार का गोरखनाथ को अत्यधिक ध्यान था। अध्यात्म-जगत् में असंयम और दुराचार के विरुद्ध उन्होंने जो घोर युद्ध छेड़ा वह उस भयंकर युद्ध से किसी दशा में कम नहीं था जो पश्चिमोत्तर प्रदेशों से बढ़कर आते हुए शत्रु-दलों को रोकने के लिये हिंदू नृपतियों को करना पड़ रहा था।

योगमार्ग

योगियों का यह संप्रदाय, जो महात्मा गोरखनाथ के गुरु मत्स्येंद्रनाथ से आरंभ होकर फैला, हठयोगियों का संप्रदाय कहलाता है। यह हठयोग यद्यपि प्राचीन शास्त्रों में प्रतिपादित योग-मार्ग से भिन्न नहीं है और मौलिक रूप से महात्मा पतंजलि के योग-शास्त्र के ही अंतरगत है तथापि एक शाखा के रूप में इसका स्वतंत्र विकास भी सांप्रदायिक तथा ऐतिहासिक दोनों ही दृष्टियों से स्वीकार किया गया है। इस हठयोग के प्रवर्तकों ने प्रारंभ से ही हिंदी भाषा के तत्कालीन रूप को अपने मार्ग के विकास के लिये प्रयुक्त किया और उनकी परंपरा में भी हिंदी भाषा का त्याग नहीं किया गया। इस कारण हठयोग हिंदी का आश्रय लेकर अपनी स्वतंत्र सत्ता और भी अधिक प्रतिष्ठित कर सका।

योग-संबंधी अन्य संप्रदाय संस्कृत, पाली तथा प्राकृत आदि भाषाओं का आधार लेकर चढ़े परंतु हठयोग की अभिव्यक्ति हिंदी भाषा द्वारा ही हुई।

यह हठयोग क्या वस्तु है और अन्य योग सिद्धांतों से किस प्रकार भिन्न है इसका भी संक्षिप्त परिचय पाठकों को प्राप्त कर लेना चाहिए। हठयोग वास्तव में योग संबंधी साधना का एक व्यावहारिक मार्ग है। योग का अर्थ यद्यपि भिन्न भिन्न विद्वान् अपनी अपनी दृष्टि से करते हैं परंतु प्रायः सभी इस बात में सहमत हैं कि मनुष्य की सांसारिक सत्ता और तत्संबंधी द्वैत भाव का खो जाना तथा उसे खोकर परमात्म सत्ता या अद्वैत में युक्त हो जाना ही योग की व्यापक व्याख्या हो सकती है। जब तक मनुष्य संसार के कार्यों में लिप्त होकर जीवन का उच्च उद्देश नहीं समझता तब तक वह योगी नहीं कहा जा सकता। जब तक उसका मन और इन्द्रियाँ उसके वश में नहीं हैं तब तक मनुष्य के कार्य योग-सम्मत नहीं हो सकते। इसलिये महात्मा पतंजलि ने अपने सुप्रसिद्ध योगशास्त्र के आरंभ में ही योग की व्याख्या करते हुए चित्त-वृत्ति के निरोध अर्थात् मन, बुद्धि अथवा इंद्रियों के संयमपूर्वक साधन को ही योग की संज्ञा दी है।

संसार की अनेकमुखी प्रवृत्तियों के अनुसार योग की भी अनेक शाखाओं का होना स्वाभाविक है परंतु उनके मूल में यह साम्य अथवा लक्ष्य अवश्य रहता है कि मनुष्य सांसारिक विकारों के बंधन से छूटकर निर्बंध हो जाय। जो मनुष्य प्रवृत्ति-प्रधान या कर्मी हैं उनके लिये कर्मयोग की व्यवस्था की गई है। संसार के कार्य करते हुए भी किस प्रकार उनसे अपनी आत्मा को स्वतंत्र रखा जाय और अंत में किस प्रकार कर्म-बंधन से विनिर्मुक्त होकर मनुष्य मोक्ष प्राप्त करे यह इस कर्मयोग में उपदिष्ट है। इसी प्रकार जो भावना-प्रधान व्यक्ति हैं उनके लिये भक्ति-योग की व्यवस्था की गई है। ऐसी ही अनेक योग-शाखाएँ भारतवर्ष में प्रचलित हुईं तथा फलीं-फूलीं। इन्हीं में एक हठयोग की शाखा भी है।

यह हठयोग एक प्रकार से योग-संबंधी निवृत्ति-प्रधान या संन्यास मार्ग है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, बौद्ध तांत्रिक मतों की बढ़ती हुई काम-प्रेरणा के विरुद्ध इसका आविर्भाव हुआ। अतः प्रतिक्रिया-स्वरूप इसका निवृत्ति-प्रधान होना स्वाभाविक ही था। यह योग-मार्ग ब्रह्मचर्य या बिंदुरक्षा का उत्कट उपदेश देता है और स्त्री-संसर्ग को दूषित ठहराता है। योग की प्रक्रियाओं में हठयोगी जिन यम-नियम, प्राणायाम-प्रत्याहार आदि का उपदेश करते हैं उनमें स्त्री-संग त्याग का

प्राधान्य है। एक प्रकार से उन्होंने काम-लिप्सा के आत्यंतिक त्याग को ही अपने योग की कसौटी स्वीकार किया है। महात्मा गोरखनाथ के गुरु मत्स्येंद्रनाथ पूरे सिद्ध होते हुए भी सिंहल की कामिनियों से अपने योग की रक्षा न कर सके थे। यह उनकी त्रुटि कही गई है।

परंतु नाथ-पंथ या हठयोगियों के कतिपय सांप्रदायिक ग्रंथों और बाणियों के निरीक्षण से यह भी अनुमान किया जा सकता है कि उनकी निवृत्ति-मूलक साधना बहुत कुछ परिस्थितियों का ही परिणाम थी, एकांत मत न था। इसका प्रमाण इस बात से मिलता है कि नाथ-मतावलंबियों ने सांसारिक योग-क्षेम का तिरस्कार नहीं किया वरन् अत्यधिक शारीरिक आयास या कष्ट-सहन को वे योग-मार्ग में अनावश्यक समझते थे। इस दृष्टि से हम उन्हें आत्यंतिक प्रवृत्ति और निवृत्ति के मध्य-मार्ग का अवलंबन करनेवाले मान सकते हैं। तथापि परिस्थिति-वश उन्होंने निवृत्ति का अधिक उपदेश किया।

यद्यपि योग व्यक्तिगत साधना का मार्ग कहा गया है परंतु उसका यह अर्थ नहीं है कि संसार के कार्यों से अलग होकर वनों में जा रहना ही सच्चा या एक मात्र योग है। योग वास्तव में व्यक्तिगत साधना उसी अर्थ में है जिस अर्थ में सभी विद्याओं की साधना व्यक्तिगत होती है। अन्य सांसारिक विद्याओं की साधना और योग की साधना में अंतर यह है कि सांसारिक विद्याएँ अपना लक्ष्य संसार को ही मानती हैं परंतु योग-विद्या अपना लक्ष्य संसार से पृथक्, परमात्मा या अलौकिक सत्ता को मानती है। उस अलौकिक सत्ता की प्राप्ति के अनेक उपाय भारतीय शास्त्रों में कहे गए हैं। वे सभी योग के अंतरगत हैं। उन्हीं में एक हठयोग भी है।

हठयोग का अर्थ आग्रहपूर्वक अथवा अविचलित भाव से योग-मार्ग की साधना करना है। जिस विशेष प्रकार की योग-साधना का आग्रह हठयोगियों ने किया वही उस संप्रदाय की विशेषता स्वीकार की जा सकती है। चित्त को एकाग्र करना, विशिष्ट यम-नियमों का पालन करना, स्थिर आसन की साधना करना ये अत्यंत व्यापक शास्त्रीय प्रवचन हैं जो सभी योगों के लिये अनिवार्य हैं। हमें देखना यह चाहिए किस संप्रदाय ने किन आचरणों को अपने यहाँ प्रधानता दी है।

अत्यंत विपरीत प्रकार के आचरण भी भिन्न भिन्न योग-संप्रदायों में पाए जाते हैं और वे उन संप्रदायों से समर्थित भी हुए हैं। एक प्रकार से समस्त साधना अथवा संसार के सभी क्रिया-कलाप, जिनका लक्ष्य सांसारिक द्विविधाओं के ऊपर उठने का है, योग कहे जा सकते

हैं; परंतु उनका स्वरूप, उनकी प्रवृत्तियाँ आदि जानकर ही हम उनके संबंध में अपना मत निरूपित कर सकते हैं।

गुरु गोरखनाथ का यह हठ-वादी योग-संप्रदाय कबीर आदि परवर्ती साधकों के मार्ग से भिन्न है। इस योगाश्रयी शाखा तथा कबीर की ज्ञानाश्रयी शाखा में सबसे प्रधान अंतर यह है कि योग-मार्ग उपाय या आचरण या जीवन की साधना का मार्ग है जो उन साधनाओं को पार करता हुआ अलौकिक सत्ता की ओर ले जाता है परंतु ज्ञानमार्ग योग की चरम-कोटि पर पहुँचकर ही प्रतिष्ठित होता है। जब योगी अपनी साधना के परिणाम-स्वरूप ज्ञान प्राप्त कर लेता है तब योग की क्रिया छूट जाती है। कबीर ने स्थान स्थान पर योग या साधना की प्रशंसा की है परंतु जहाँ वे ज्ञानी की दृष्टि से देखते हैं वहाँ योग की निंदा भी करते हैं। इस योग की निंदा से उनके दो अर्थ हो सकते हैं। एक तो मिथ्या योगियों की प्रवंचना से जनता को सावधान करना और दूसरे तात्त्विक रूप से भी योग या क्रिया मात्र का मायिक रूप सिद्ध करना। यद्यपि कबीर स्वयं अपने को योगी समझते थे तथापि ज्ञान के उच्च स्तर से वे योग की विगर्हणा भी करते थे।

योग-मार्ग और निर्गुण-मार्ग में भेद

यह तो हुई ज्ञानी कबीर की बात। योग या साधना के मार्ग में भी उनकी प्रणाली हठयोगियों से भिन्न थी। हठयोग पूर्णतः भारतीय योग-पद्धति है। इसका संसर्ग मुसलमानी अथवा सूफी योग की प्रक्रियाओं से एकदम नहीं है। कबीर तथा उनके अनुयायियों पर सूफी प्रेम-वाद तथा इस्लामी एकेश्वरवाद की जो छाप दिखाई देती है वह नाथ-संप्रदाय में नाम को भी नहीं है। इसके अतिरिक्त कबीर का जितना अधिक संसर्ग वैष्णव संप्रदाय तथा भक्ति की आवेगपूर्ण धारा से था उतना इन साधुओं का नहीं था। वैष्णव मत का यह भक्ति-प्रवाह अपने साथ सरल और सात्त्विक जीवन के तथ्यों को लेकर तो आया ही था, साथ ही वह सांख्य और वेदांत शास्त्रों की दार्शनिक दिव्यता भी दिखा रहा था। इससे भी कबीर ने यथेष्ट लाभ उठाया और अपने उद्गारों को अधिक दार्शनिक तथा व्यापक स्वरूप देने में समर्थ हुआ। गोरखनाथ आदि का योग-संप्रदाय इस व्यापक क्षेत्र में प्रवेश न कर सका। इसलिये इन योग-मार्गियों की चर्चा इस पुस्तक के एक स्वतंत्र प्रकरण में करना अनुचित न होगा तथापि कबीर के 'निर्गुण' मत की इस नाथ-संप्रदाय के योग-मार्ग से एकदम भिन्नता ही नहीं है, जैसा कि हम आगे देखेंगे, दोनों में पारस्परिक सामरस्य भी है। दोनों ही संसार-त्यागी

संन्यास-मार्ग की साधना की शिक्षा देते हैं। अहिंसा और स्वच्छाचरण का पाठ दोनों ही पढ़ाते हैं। योगांगों के निरूपण में गोरखनाथ प्रभृति हठयोगी प्राणायाम की पद्धति को प्रमुख स्थान देते हैं। शास्त्रों के श्रवण-कीर्तन के द्वारा प्राप्त होनेवाले वैराग्य का अधिक उल्लेख नहीं करते। इससे स्पष्ट है कि इस हठयोगी नाथ-संप्रदाय के अनुयायी शास्त्रज्ञ और पंडित न होकर साधक ही अधिक हुए। जड़ी-बूटी और मंत्रों का भी अभ्यास इसमें किया गया है परंतु एक ओर जहाँ रस या ओषधि को ही मुक्ति का हेतु माननेवाले 'रसेश्वर-संप्रदाय' से यह हठयोग भिन्न है वहाँ संसार के व्यापक और सार्वजनीन जीवन से निवृत्ति पाकर तटस्थ हो जाने से भी यह कुछ दूर ही रहा। इस दृष्टि से भी हठयोग मध्यमार्ग ही ठहरता है। कबीर के संप्रदाय में जड़ी-बूटी और मंत्र-तंत्र का प्रवेश उनके जीवन-काल में संभवतः नहीं हुआ था, यद्यपि पीछे से कुछ ग्रहण अवश्य किया गया।

गुरु गोरखनाथ ने हिंदी के ही द्वारा अपने योग-मार्ग के प्रसार का अनुष्ठान किया। उनके दिल की मस्ती सीधे गानों के रूप में व्यक्त हुई जिनमें कैवल्यानुभूति के आनंदोद्रेक के साथ साथ उन उपायों तथा क्रियाओं की भी महिमा गाई जिनके द्वारा उसकी प्राप्ति संभव हुई थी।

योग-धारा

गोरखनाथ अपने ढंग के एक ही कवि नहीं हुए हैं। उनके साथ हिंदी साहित्य को एक धारा-विशेष का जन्म होता है जो लगातार शताब्दियों तक चलती चली और संभवतः अब भी रुकी नहीं है। इस धारा का पूर्ण दर्शन कराने का श्रेय मेरे शिष्य डा० पीतांबरदत्त बड़थ्वाल को है जो गोरखनाथ का समय विक्रम के ग्यारहवें शतक में मानते हैं। श्री राहुल सांकृत्यायन तथा श्री काशीप्रसाद जायसवाल का मत है कि योग की यह धारा हिंदी-काव्यक्षेत्र में गोरखनाथ के काल के पहले ही से बहती चली आ रही है। वे सरह-पा अर्थात् सरोज-वज्र से इस धारा का आरंभ मानते हैं जिनका समय विक्रमाब्द के आसपास माना जाता है। परंतु मैं समझता हूँ कि ऐसा करने से वे हिंदी के क्षेत्र को छोड़कर अपभ्रंश के क्षेत्र में प्रवेश करेंगे। उनकी रचनाओं में से चुन चुनकर जैसे उदाहरण दिए गए हैं वैसे अंश उनकी कविताओं में अधिक नहीं हैं। इसमें संदेह नहीं है कि हिंदी के वर्तमान रूपों का बनना उस समय आरंभ हो गया था, परंतु इतने ही के आधार पर हम उनकी रचनाओं को हिंदी की नहीं मान सकते। यदि अपभ्रंश और हिंदी में भेद ही न मानें तो बात दूसरी है। परंतु भाषा-विकास के इतिहास में अलग अलग अवस्थाओं के अलग अलग नामकरण हुए

हैं जिनकी मर्यादा की रक्षा, विचारों के सौकर्य तथा स्पष्टता के लिये आवश्यक है। अतएव गोरखनाथ ही से हम हिंदी की योग-धारा का आरंभ मानने को बाध्य हैं।

नागरी-प्रचारिणी सभा की रिपोर्ट में उस समय तक प्राप्त तथ्यों के आधार पर गोरखनाथ का समय विक्रम की पंद्रहवीं शताब्दी माना गया है। डाक्टर शहीदुल्ला उनका समय आठवीं शताब्दी मानते हैं और डाक्टर फर्कुहर बारहवीं शताब्दी। परंतु उपलब्ध प्रमाणों को देखते हुए उनका समय ग्यारहवीं शताब्दी का मध्यभाग मानना उचित जान पड़ता है। गोरखनाथ ऐसे समय में हुए थे जब कि शंकराचार्य का अद्वैतमत बहुत कुछ प्रचार पा चुका था। शंकराचार्य का समय ८४५ से ६४७ तक माना जाता है। अतएव गोरखनाथ को उनसे सौ डेढ़ सौ वर्ष बाद का मानना अनुचित नहीं। गोरखनाथ के उपलब्ध ग्रंथों की भाषा भी इसी मत की पुष्टि करती है। वह न इतनी अर्वाचीन है कि पंद्रहवीं शताब्दी में रखी जा सके और न इतनी प्राचीन कि आठवीं शताब्दी में पहुँच जाय।

मछंदर और गोरख

गोरखनाथ के गुरु मछंदरनाथ ने भी हिंदी में कविता की या नहीं इसका कुछ पता नहीं। मछंदरनाथ आसाम के रहनेवाले मछुए थे। मछली मारकर अपना निर्वाह करते थे। अभ्यास से ये बड़े प्रसिद्ध योगी हुए और गोरखनाथ सदृश शिष्य को पाकर यश के भागी भी हुए। 'मछंदर गोरखबोध' नाम के एक ग्रंथ में मछंदर और गोरखनाथ का संवाद दिया हुआ है। गोरखनाथ प्रश्न करते हैं और मछंदर उसका उत्तर देते हुए योग का उपदेश देते हैं। यह ग्रंथ भी मछंदर का न होकर गोरखनाथ का बतलाया जाता है। मीननाथ के नाम से संस्कृत के कुछ ग्रंथों का उल्लेख 'केटेलोगस केटेलेगोरम' में किया गया है; परंतु ये भी मछंदरनाथ के हैं या नहीं, नहीं कहा जा सकता। क्योंकि जहाँ कुछ लोग मीननाथ और मछंदरनाथ को एक मानते हैं, वहाँ कुछ ऐसे भी हैं जो उन्हें अलग अलग मानते हैं और उनके बीच में भाई भाई अथवा पिता-पुत्र का संबंध स्थापित करते हैं। मछंदरनाथ नैपाल में अधिदेवता के रूप में पूजे जाते हैं। स्वयं गोरखनाथ ने हिंदी में कई ग्रंथों की रचना की। सबदी पद, अभैयात्रा जोग, संख्या दर्शन, प्राण संकली, आत्मबोध, मछींद्र गोरखबोध, जाती भौरांवली, गोरख-गणेश-संवाद, गोरखदत्त-संवाद, सिद्धांत जोग, ज्ञानतिलक, कंथड़बोध उनके ग्रंथ माने जाते हैं जिनमें कुछ तो—गोरख गणेश संवाद, गोरखदत्त-संवाद तथा कंथड़बोध—स्पष्ट ही उनके नहीं जान पड़ते।

गोरखनाथ की रचनाओं में ससिहर, मछियल, पयाल, अजरावर आदि शब्द उनकी प्राचीनता के द्योतक हैं। इनकी भाषा में कई प्रांतों का प्रभाव दिखलाई देता है। 'पायल नी डीबी सुन्न चढ़ाई' में 'नी' गुजराती का है। 'सबै कमाई खोई गुरु बाघनी चे बोलै' में चै मराठी का है। इसके अतिरिक्त राजस्थानीपन उसमें सर्वत्र दिखलाई देता है। 'पवन गोटिका रहणि अकास' की 'रहणि' में का 'ण' उसी का द्योतक है। बोलिबा, चलिबा, रहिबा, करिबा, राजस्थानीपन और प्राचीनता दोनों के द्योतक हैं:—

हबकि न बोलिबा, ठबकि न चलिबा धीरे धरिबा पावँ।
गरब न करिबा, सहजैं रहिबा, भणत गोरख रावँ॥

इसका कारण यह जान पड़ता है कि योगियों को नित्य भ्रमण करना पड़ता। था वे स्नेह-बंधन के डर से अधिक समय तक एक स्थान पर नहीं रहा करते थे। उन्हें प्रांत प्रांत में घूमना पड़ता था, जिसके फल-स्वरूप अन्य प्रांतों की भाषा का भी उनकी रचनाओं में अपने आप मिश्रण हो गया। यह भी संभव है कि यह प्रभाव गोरखनाथ के अनुयायी अन्य प्रांत के लेखकों की करतूत हो।

गोरखनाथ के ही समय में जालंधरनाथ, कणेरीपाव, चौरंगीनाथ तथा सिद्ध घोड़ाचोली आदिकों ने भी योग-काव्य की रचना की।

जालधर, कणेरी आदि

चौरंगीनाथ और घोड़ाचोली गोरखनाथ के गुरुभाई थे। जालंधरनाथ मछंदरनाथ का गुरु-भाई और कणेरी जालंधर का शिष्य था। भोटिया परंपराओं में जालंधरनाथ को आदिनाथ की उपाधि दी गई है और वे गोरखनाथ के गुरु मछंदरनाथ के गुरुभाई माने गए हैं। कहते हैं कि तंजूर में इनके मगही भाषा के सात ग्रंथ मिलते हैं।

कणेरी का असली नाम आर्यदेव था। ये बिहार के रहनेवाले थे। भिक्षु होने के बाद कुछ समय तक नालंदा में भी रहे थे। ये नागार्जुन के शिष्य थे। हो सकता है कि मछंदरनाथ से भी इन्होंने उपदेश ग्रहण किया हो। इनकी एक कविता में ये 'आदिनाथ नाती मछिंद्रनाथ पूता' कहे गए हैं। आजकल के सँपेरे इन्हीं की शिष्य परंपरा में बतलाए जाते हैं।

समरह लहरया पार पाइए मनबानी लहरया पार न पाइए रे लो।
आदिनाथ नाती मछिंद्रनाथ पूता जती कणेरी हम बोल्या रे लो॥

इन लोगों की कविता के संबंध में भी वही बातें कही जा सकती हैं जो गोरखनाथ की कविता के संबंध में ऊपर कही गई हैं। अन्य प्रांतीय भाषाओं के प्रयोग इत्यादि इनमें भी पाए जाते हैं।

चरपटनाथ—मराठी परंपराओं में चरपटनाथ गोरखनाथ के शिष्य (?) गहनीनाथ (१२८०—१३३०) के समकालीन तथा गुरुभाई माने गए हैं। गोरख शतक में वे मछंदरनाथ के शिष्य (१०५०) बतलाए गए हैं, और भाटिया परंपराओं में मछंदरनाथ के पिता मीननाथ के गुरु और पाल राजा देवपाल (८६६—६०६ वि०) से पहले के। इनकी कविता की भाषा से इनको गहनीनाथ का समकालीन मानना ही उचित प्रतीत होता है। भोटिया परंपरा में ये चंपादेश के निवासी कहार माने गए हैं। परंतु भारतीय संत परंपरा में ये जाति के चारण कहे गए हैं।

चर्पट

इनकी कविता संस्कृत चर्पटमंजरी की ही तरह प्रांजल तथा मोहक है। पता नहीं कि उसके भी रचयिता यही हैं कि नहीं। जो लोग योग को भोग का आवरणमात्र बनाने का प्रयत्न कर रहे हैं तथा मौज के लिये योग धारण करते हैं उनको इन्होंने आड़े हाथों लिया है। योग को ये पूर्ण संन्यास व्रत मानते हैं।

चुणकरनाथ भी चरपट के ही समकालीन जान पड़ते हैं। उन्होंने योग मार्ग में सिद्धि प्राप्त करने के साधन स्वरूप प्राण-वायु की बड़ी महिमा गाई है।

बालानाथ और देवलनाथ की भी थोड़ी सी फुटकर रचनाएँ मिलती हैं। इन्होंने योग-मार्ग में से पाखंड के निष्कासन का बड़ा प्रयत्न किया। इसी बात पर इन्होंने अपनी वाणी में जोर दिया है। वार्धक्य में इंद्रियों के थक जाने पर योग धारण करनेवालों की ये हँसी उड़ाते थे। ये दोनों भी तेरहवीं अथवा चौदहवीं शताब्दी के मालूम होते हैं। सोलहवीं शताब्दी में जायसी ने बालानाथ के टीले का उल्लेख किया है।

बालानाथ

सिद्ध धूँधली और गरीबनाथ—इन गुरु-चेले का उल्लेख नैणसी ने लाखड़ी में घोघाओं के राज्य के नष्ट होने पर जाड़ेचा भीम के राज्य की स्थापना के संबंध में किया है। घोघा करन की मृत्यु का कारण गरीबनाथ का शाप बताया गया है, जो धीणोद में आश्रम बनाकर रहता था। जाड़ेचा भीम की विजय का कारण धूँधलीमल का आशीर्वाद कहा जाता है। भीम का १४४२ वि० में वर्तमान होना निश्चित है। इसी के आसपास इन दोनों गुरु-शिष्य का भी समय होना चाहिए।

धूँधलीमल

पृथ्वीनाथ—पृथ्वीनाथजी उन योगियों में सबसे अंतिम हैं जिनकी वाणी प्रसिद्ध है। ये कबीर के पीछे हुए थे। इन्होंने कबीर के उपदेशों पर चलने का उपदेश दिया है। इससे स्पष्ट है कि ये कबीर के पीछे हुए थे।

पृथ्वीनाथ

कबीर का समय सोलहवीं शताब्दी है। अतएव पृथ्वीनाथजी का समय यदि सत्रहवीं शताब्दी मानें तो अनुचित न होगा। साध प्रकास जोग नाम का एक ग्रंथ इनका बनाया बताया जाता है। साधुओं की इन्होंने खूब महिमा गाई है और योग की रहनि पर अच्छा प्रकाश डाला है।

पृथ्वीनाथजी के बाद योग काव्य की रचना बंद हो गई हो, सो बात नहीं। परंतु हिंदी के आध्यात्मिक साहित्य-क्षेत्र में उसकी वह प्रधानता न रही जो उस समय तक थी। पृथ्वीनाथजी के पहले ही कबीर ने आध्यात्मिक साहित्य की धारा को एक नया वेग तथा रूप दे डाला था। यही नवीन रूप हिंदी साहित्य-जगत् में निर्गुण काव्य के नाम से प्रसिद्ध है। इन दोनों धाराओं में जो अंतर है वह हम ऊपर प्रदर्शित कर चुके हैं। योग की अनेक बातें निर्गुण काव्य में आ गई हैं। किंतु इसके साथ साथ वैष्णव संप्रदाय तथा सूफी विचार-प्रणाली से भी उसमें कुछ ग्रहण किया गया है। जिन लोगों का यह विचार है कि कबीर आदि संतों ने योग से घृणा दिखलाई है और उसका बहिष्कार किया है, उन्होंने संत-विचार-धारा का अच्छी तरह अध्ययन नहीं किया है। कबीरपंथ में स्वीकृत वे जनश्रुतियाँ, जिनके अनुसार कबीर और गोरखनाथ के बीच शास्त्रार्थ हुआ था जिसमें गोरखनाथ की हार हुई थी, न ऐतिहासिक दृष्टि से सही हैं न तात्त्विक दृष्टि से। उनकी गढ़ंत सांप्रदायिक दंभ के कारण हुई जान पड़ती है। कबीर की निर्गुण शाखा वास्तव में योग का ही परिवर्त्तित रूप है जो सूफी, इस्लामी तथा वैष्णव मतों से भी प्रभावित हुई थी। कबीर ने वास्तव में योग का खंडन नहीं किया है।

छठा अध्याय

भक्तिकाल की ज्ञानाश्रयी शाखा

मध्यकालीन धार्मिक उत्थान के संबंध में लिखते हुए हम उस समय की राजनीतिक, सामाजिक आदि स्थितियों का पहले उल्लेख कर चुके हैं, और यह भी बतला चुके हैं कि शंकर स्वामी के अद्वैतवाद को इने गिने चिंतनशील महात्माओं के ही उपयुक्त मानकर स्वामी रामानुज ने लोकोपयोगी भक्ति का आविर्भाव किया था। साथ ही हम यह भी दिखला चुके हैं कि शंकराचार्य के अद्वैत मत और रामानुज के विशिष्टाद्वैत मत में कोई तात्विक अंतर नहीं है। रामानुज के उपरांत भक्ति का एक व्यापक आंदोलन उठ खड़ा हुआ जिसके मुख्य उन्नायकों में मध्वाचार्य, निंबार्काचार्य, चैतन्य, रामानंद, वल्लभाचार्य और विट्ठलनाथ जैसे महात्मा हुए। इनके स्निग्ध सरस हृदय का अवलंबन पाकर भक्ति की एक प्रखर और पवित्र धारा बह चली। भक्ति की इस धारा में अनेक उपास्य देवों और उपासनाभेदों के रूप में अनेक स्रोतों का प्रादुर्भाव हुआ, परंतु मूल धारा में कुछ भी अंतर न पडा, वह एकरस बहती रही। विष्णु, गोपाल, कृष्ण, हरि, राम, बालकृष्ण आदि विभिन्न उपास्य देवों के सम्मिलित प्रभाव से भक्ति अधिकाधिक शक्तिसंपन्न होती गई, साथ ही जनता का विशेष मनोरंजन और दुःख निवारण भी होता गया। इन अनेक भक्ति-संप्रदायों का हमारे साहित्य पर भी प्रभाव पड़ा, और वीरगाथा काल की एकांगिता दूर होकर हिंदी में एक प्रकार की व्यापकता और आध्यात्मिकता का समावेश हुआ। मध्य युग का हिंदी साहित्य हिंदी के इतिहास में तो उत्कृष्टता की दृष्टि से अतुलनीय है ही, उसकी तुलना संसार के अन्य समृद्ध साहित्यों से भी भली भाँति की जा सकती है। हिंदी के इस उत्कर्षवर्द्धन में तत्कालीन भक्ति-अभ्युत्थान ने विशेष सहायता पहुँचाई थी।

भक्ति प्रवाह

तत्कालीन भक्ति-आंदोलन के साथ हिंदी साहित्य का तारतम्य ढूँढ़ लेना विशेष कठिन नहीं है। रामानुज और मध्वाचार्य का प्रचार-क्षेत्र अधिकतर दक्षिण में ही था, और उन्होंने संस्कृत भाषा में ही अपने

उपदेश दिए थे, अतः हिंदी साहित्य पर उनका कोई स्पष्ट और प्रत्यक्ष प्रभाव नहीं देख पड़ता। महात्मा नामदेव ने देशभाषा का आश्रय लिया था परंतु वे महाराष्ट्र प्रांत के निवासी थे, इसलिये हिंदी में उनकी बहुत थोड़ी वाणी मिलती है। हिंदी में वैष्णव साहित्य के प्रथम कवि प्रसिद्ध मैथिल कोकिल विद्यापति हुए जिनकी रचनाएँ उत्कृष्ट कोटि की हुई। परंतु जब महात्मा रामानंद ने भक्ति को लोकव्यापक बनाकर और जाति-पाँति का भेद मिटाकर जनता की भाषा में अपने उपदेश दिए, तब हिंदी साहित्य की श्रीवृद्धि का विशेष अवसर प्राप्त हुआ और बड़े बड़े महाकवियों के आविर्भाव से उसका उत्कर्ष साधन हुआ। महात्मा रामानंद की शिष्य-परंपरा में एक ओर तो कबीर हुए, जिन्होंने ज्ञानाश्रयी भक्ति का उपदेश देकर एक नवीन संप्रदाय खड़ा किया, और दूसरी ओर कुछ दिनों बाद महात्मा तुलसीदास हुए जिनकी दिव्यवाणी का हिंदी को सबसे अधिक गर्व है। इसी समय भारतीय अद्वैतवाद तथा सूफी प्रेमवाद के सम्मिश्रण से हिंदी में कुतुबन, जायसी आदि प्रेमगाथाकारों का भी आविर्भाव हुआ जिनकी रचनाओं से हिंदी साहित्य को कम लाभ नहीं पहुँचा। महात्मा वल्लभाचार्य और उनके पुत्र विट्ठलनाथ की प्रेरणा से सूरदास आदि कृष्ण-भक्त कवियों का आविर्भाव भी इसी काल में हुआ। इस प्रकार हम देखते हैं कि एक ओर तो कबीर आदि संत कवियों की परंपरा चली और दूसरी ओर महात्मा तुलसीदास की राम-भक्ति का मार्ग प्रशस्त हुआ। साथ ही जायसी आदि की प्रेमगाथाएँ भी रची गई और महाकवि सूरदास जैसे कृष्ण-भक्त कवियों का संप्रदाय भी चला। यद्यपि इस अध्याय में हम कबीर आदि संत कवियों की निर्गुण भक्तिपरंपरा का ही विवेचन करेंगे, पर इसके पहले हम संक्षेप में हिंदी के भक्तियुग के मुख्य मुख्य कवि-संप्रदायों और उनकी मुख्य मुख्य विशेषताओं पर विचार कर लेंगे।

काल की पूर्वापरता का ध्यान रखते हुए हम यह कह सकते हैं कि विद्यापति ही हिंदी में भक्ति काव्य के प्रथम बड़े कवि हैं। उनकी

विद्यापति

रचनाएँ राधा और कृष्ण के पवित्र प्रेम से ओत-प्रोत हैं जिनसे कवि की भावमग्नता का परिचय मिलता है। यद्यपि संयोग शृंगार का वर्णन करते हुए विद्यापति कहीं कहीं असंयत भी हो गए हैं, पर उनकी अधिकांश रचनाओं में भावधारा बहुत ही निर्मल और सरस हुई है। यह सब होते हुए भी विद्यापति के पीछे हिंदी में थोड़े दिनों तक कृष्णभक्ति की कविता नहीं हुई। हमारा अनुमान है कि उस समय विद्यापति की कविता का उत्तर भारत में

उतना प्रचार नहीं हुआ जितना बंगाल आदि में हुआ। उनकी कविता से बंगाल के वैष्णव-भक्ति-आंदोलन को बहुत कुछ सहायता पहुँची, पर हिंदी भाषा-भाषी प्रांतों में उसका अधिक प्रचार उस समय नहीं हुआ। विद्यापति की भाषा में मैथिली का पुट बहुत गहरा चढ़ा हुआ है। इससे कुछ लोग हिंदी कवियों में उन्हें गिनने में आगा पीछा करते हैं। दूसरे लोगों का यह कहना है कि जब वीरगाथा काल के राजस्थानी कवियों को हम हिंदी साहित्य के अंतर्गत मानते हैं, तब कोई कारण नहीं है कि विद्यापति की रचनाओं को भी हम हिंदी साहित्य में सम्मिलित न करें। भावों और विचारों की दृष्टि से तो विद्यापति की रचनाओं को हिंदी साहित्य के अंतर्गत मानने में संकोच नहीं होना चाहिए, यद्यपि हिंदी भाषा के विकास का विवेचन करते समय मैथिली को उपभाषा मानने में संकोच हो सकता है। यह तो पूर्वी हिंदी का एक रूप है। बँगला भाषा से उसका जितना मेल है उसकी अपेक्षा कहीं अधिक हिंदी से उसका मेल है; और इसी लिये विद्यापति की रचनाओं के लिये बँगला साहित्य की अपेक्षा हिंदी साहित्य में कहीं अधिक उपयुक्त और न्यायसंगत स्थान है।

ज्ञानाश्रयी संत

विद्यापति के उपरांत हिंदी में दूसरे बड़े भक्त कवि महात्मा कबीरदास हुए जिनकी उपासना निर्गुण उपासना थी और जिनकी प्रेरणा से हिंदी में ज्ञानाश्रयी भक्त कवियों की एक शाखा चल पड़ी। कबीर, नानक, दादू, जगजीवन, सुंदर आदि इस शाखा के प्रधान कवि हुए थे। ये सब संत और महात्मा थे। इन्होंने पारमार्थिक सत्ता की एकता निरूपित करके हिंदुओं और मुसलमानों के द्वेष भाव की निंदा की और दोनों में एकता स्थापित करने का उद्योग किया। ये संत सभी जातियों के थे और उनके उपदेशों में भी जाति-पाँति के भेद मिटाकर "हरि को भजे सो हरि को होई" के आधार पर मानव मात्र की एकता स्थापित करने की चेष्टा की गई। अध्यात्म पक्ष में तो इन संतों ने निर्गुण ब्रह्म को ही ग्रहण किया, पर उपासना के लिये निर्गुण में भी गुणों का आरोप करना पड़ा। तात्त्विक दृष्टि से ऐसा करने में कोई हानि नहीं है। उपासना में निर्गुण की प्रतिष्ठा करके और वेदों, पुराणों तथा कुरान आदि की निंदा करके मानो हिंदू और मुसलमानों में एकता-स्थापन का दोहरा प्रयत्न किया गया। इन संत कवियों ने लौकिक जीवन को भी अत्यंत सरल, निर्मल और स्वाभाविक बनाने के उपदेश दिए तथा सदाचार आदि पर विशेष जोर डाला। इस सबका फल यह हुआ कि एक सामान्य भक्ति-मार्ग

उठ खड़ा हुआ जिसका आधार परोक्ष सत्ता की एकता और लौकिक जीवन की सरलता हुआ। जनता इस ओर बहुत कुछ खिंची।

इन संत कवियों के संप्रदाय से भक्ति का जिस रूप में विकास हुआ, उससे लोकरंजन न हो सका। एक तो निर्गुण ब्रह्म स्वयं लोक-व्यवहार से अलग था; तिस पर कबीर आदि की वाणी से उसमें और भी जटिलता सी आ गई। इन संत कवियों में विधि-विरोध की जो धुन थी उससे भी उच्छृंखलता ही फैली। सभ्य समाज वेदों और पुराणों की निंदा सुनने को तैयार नहीं था, संभवतः इसी लिये संतों को निम्न समाज में ही अपनी वाणी का विस्तार करना पड़ा। यह सब होते हुए भी हमको यह न भूल जाना चाहिए कि हमारे संत कवियों ने परमार्थ तत्त्व की एकता का प्रतिपादन करके और सरल तथा सदाचारपूर्ण सामाजिक जीवन की व्यवस्था देकर हिंदुओं और मुसलमानों का कट्टरपन दूर किया और उनमें परस्पर हेल-मेल बढ़ाया। इन संत कवियों के ही समय से हिंदी में सूफी कवियों की भी एक परंपरा चली जिसमें अधिकतर मुसलमान संत कवि ही सम्मिलित हुए। इन कवियों ने भारतीय अद्वैतवाद में प्रेम का संयोग करके बड़ी ही सुंदर और रहस्यमयी वाणी सुनाई। इस श्रेणी के कवियों ने अधिकतर प्रबंधकाव्य के रूप में प्रेम गाथाएँ लिखी हैं। वे प्रेमगाथाएँ हिंदुओं से ही संबंध रखती हैं और पूरी सहानुभूति के साथ गाई गई हैं। व्यावहारिक जीवन में हिंदुओं और मुसलमानों में एकता स्थापित करने में इन कवियों ने विशेष सहायता पहुँचाई। इनकी रचनाओं में मानव मात्र को स्पर्श करनेवाली, मानवमात्र से सहानुभूति रखनेवाली उदार भावनाएँ थीं, जिनसे तत्कालीन सामाजिक संकीर्णता बहुत कुछ कम हुई। कबीर आदि संत कवियों के शुष्क निर्गुण ब्रह्म को भी इन कवियों ने बहुत कुछ सरस बना दिया, यद्यपि वह सरसता बहुत कुछ अस्पष्ट और रहस्य-मूलक ही रही।

प्रेममार्गी-संत

जहाँ एक ओर हिंदू और मुसलमान संतों तथा फकीरों की कृपा से हिंदुओं में नीच कहलानेवाली जातियों के प्रति उदारता बढ़ी और मुसलमानों के प्रति द्वेष कम हुआ, वहाँ दूसरी ओर प्राचीन भक्ति-परंपरा का आश्रय लेकर कृष्ण-भक्ति और रामभक्ति का विकास भी उनमें हुआ। हम पहले ही कह चुके हैं कि महात्मा रामानंद ने "सीताराम" को अपना उपास्य देव माना था और अपनी अलग शिष्य-परंपरा चलाई थी, जिसमें रामोपासना का ही आश्रय लिया जाता रहा। इसी प्रकार हम वल्लभाचार्य

कृष्णभक्त कवि

की कृष्णभक्ति का भी ऊपर उल्लेख कर चुके हैं। वल्लभाचार्य के पुत्र और उत्तराधिकारी विट्ठलनाथ हुए जिन्होंने चार अपने और चार अपने पिता के शिष्यों को लेकर उन पर कृष्णभक्ति की छाप लगा दी। यही हिंदी साहित्य के इतिहास में अष्टछापवाले कवि कहलाते हैं जिनमें से प्रधान कवि महात्मा सूरदास कहे जाते हैं। अष्टछाप के कवियों ने यद्यपि कृष्ण की पूरी जीवनचर्या अंकित की है, पर प्रधानता उनके लोकरंजक बालस्वरूप की ही पाई जाती है। इसका कारण यह है कि स्वामी वल्लभाचार्य स्वयं कृष्ण के बालरूप के उपासक थे। भक्त कवियों ने कृष्ण का वह मधुर मनोरंजक स्वरूप हृदयंगम किया था जो बाल-लीलाएँ करनेवाला और गोपिकाओं को रिझाने-खिझानेवाला था। कृष्ण के उस स्वरूप की इन कवियों ने सर्वथा उपेक्षा की जिसका मनोरम चित्र महाभारत में उपस्थित किया गया है। कृष्ण के लोकरक्षक स्वरूप की जो अभिव्यक्ति पूतना-संहार, बकासुर-बध, कंस-नाश आदि में देख पड़ती है, उसकी ओर कृष्णभक्त कवियों का बहुत कम ध्यान गया, फलतः उसके वर्णन भी कम हैं और वे हैं भी नीरस, मानों कवियों की वृत्ति उनमें रमी ही न हो। इन कृष्णभक्त कवियों की कृपा से हिंदू जनता का अभूतपूर्व मनोरंजन हुआ, पर इनसे उसको तत्कालीन निराशा का पूरा पूरा परिहार न हो सका।

रामभक्त कवि

इसी समय मानों हिंदू जनता की निराशा का उन्मूलन करने तथा हिंदी कविता के उत्कर्ष को चरम सीमा तक पहुँचाने के लिये महात्मा रामानंद की शिष्यपरंपरा में महाकवि गोस्वामी तुलसीदास का आविर्भाव हुआ। गोस्वामीजी राम-भक्त थे और उन्होंने अपने उपास्य देव श्रीराम को निस्सीम शील, सौंदर्य और शक्ति से संपन्न अंकित किया है। रामचरितमानस में श्रीरामचंद्र के इस स्वरूप के हमको पूरे पूरे दर्शन मिलते हैं, यद्यपि गोस्वामीजी की अन्य रचनाओं में भी राम की वही मूर्त्ति देख पड़ती है। लोकव्यवहार में राम को खड़ा करके और उनमें शक्ति, शील तथा सौंदर्य को चरम सीमा तक पहुँचाकर गोस्वामी तुलसीदास ने रामभक्ति को अत्यंत उदार तथा कल्याणकर और आकर्षक बना दिया। यदि वे चाहते तो कृष्णभक्त कवियों की भाँति राम की बालक्रीड़ाओं को ही प्रधानता देकर उन्हें केवल नेत्ररंजक बना सकते थे; पर गोस्वामीजी के उदार हृदय में जो लोक-भावना समाई हुई थी, उसकी अवहेलना वे कहाँ तक कर सकते थे? राम के उत्पन्न होते ही "भए प्रकट कृपाला दीनदयाला कौसल्या हितकारी" आदि कहकर गोस्वामीजी ने मानों

राम का लोकरंजक स्वरूप उनके लोकरक्षक तथा अनिष्टनाशक स्वरूप के पीछे रख दिया है। जो समालोचक गोस्वामीजी का यह भाव न समझकर उनको वर्णित राम की बाल-लीला की तुलना सूरदास आदि कवियों के बाल-लीला-वर्णन से करते हैं, वे गोस्वामीजी के साथ अन्याय करते हैं। गोस्वामीजी लोक-धर्म के कट्टर समर्थक थे और उनके राम भी वैसे ही प्रदर्शित किए गए हैं। जनता इस नवीन भक्ति-मार्ग की ओर बड़ी उत्सुकता से खिंची और रामभक्त कवियों की परंपरा भी चली। परंतु यह कहना पड़ता है कि गोस्वामीजी ने अपनी अद्भुत प्रतिभा से हिंदू जनता तथा हिंदी साहित्य में जो आलोक फैला दिया था, उसके कारण अन्य रामभक्त कवि चकाचौंध में पड़ गए और जनता उन्हें बहुत कम देख और समझ सकी।

कबीरआदि के आवि-र्भाव काल की परिस्थिति

प्रसिद्ध वीरशिरोमणि हम्मीरदेव के पतन के उपरांत हिंदी साहित्य में वीरगाथाओं की रचना शिथिल पड़ गई थी। हिंदुओं की सारी आशाएँ मिट्टी में मिल गई थीं, वे अपनी प्रशंसा सुनने का साहस भी नहीं कर सकते थे। तैमूर के आक्रमण ने देश को जहाँ तहाँ उजाड़कर नैराश्य की चरम सीमा तक पहुँचा दिया। हिंदू जाति में से जीवन-शक्ति के सब लक्षण मिट गए। विपत्ति की सीमा पर पहुँचकर मनुष्य पहले तो परमात्मा की ओर ध्यान लगाता है, और अपने कष्टों से त्राण पाने की आशा करता है, पर जब स्थिति में सुधार नहीं होता तब परमात्मा की भी उपेक्षा करने लगता है—उसके अस्तित्व पर भी उसका विश्वास नहीं रह जाता। कबीर आदि संत कवियों के जन्म के समय हिंदू जाति की यही दशा हो रही थी। वह समय और परिस्थिति अनीश्वरवाद के लिये बहुत ही उपयुक्त थी। यदि उसकी लहर चल पड़ती तो उसका रुकना कदाचित् कठिन हो जाता। परंतु कबीर आदि ने बड़े ही कौशल से इस अवसर से लाभ उठाकर जनता को भक्तिमार्ग की ओर प्रवृत्त किया और भक्ति-भाव का प्रचार किया। प्रत्येक प्रकार की भक्ति के लिये जनता इस समय तैयार नहीं थी। मूर्तियों की अशक्तता वि० सं० १०८१ में बड़ी स्पष्टता से प्रकट हो चुकी थी, जब कि महमूद गजनवी ने आत्मरक्षा से विरत, हाथ पर हाथ रखे हुए श्रद्धालुओं के देखते देखते सोमनाथ का मंदिर नष्ट करके उनमें से हजारों को तलवार के घाट उतारा था और लूट में अपार धन प्राप्त किया था। गजेंद्र की एक ही टेर सुनकर दौड़ आनेवाले और ग्राह से उसकी रक्षा करनेवाले सगुण भगवान् जनता के घोर से घोर संकट-काल में भी उसकी रक्षा के लिये आते हुए न

दिखाई दिए। अतएव उनकी ओर जनता को सहसा प्रवृत्त कर सकना असंभव था। पंढरपुर के भक्तशिरोमणि नामदेव की सगुण भक्ति जनता को आकृष्ट न कर सकी। लोगों ने उसका वैसा अनुसरण न किया जैसा आगे चलकर कबीर आदि संत कवियों का किया और अंत में उन्हें भी ज्ञानाश्रित निर्गुणभक्ति की ओर झुकना पड़ा। उस समय परिस्थिति केवल निराकार और निर्गुण ब्रह्म की भक्ति के ही अनुकूल थी, यद्यपि निर्गुण की शक्ति का भली भाँति अनुभव नहीं किया जा सकता था, उसका आभास मात्र मिल सकता था। पर प्रबल जलधारा में बहते हुए मनुष्य के लिये वह कूलस्थ मनुष्य या चट्टान किस काम की जो उसकी रक्षा के लिये तत्परता न दिखलावे? उसकी ओर बहकर आता हुआ तिनका भी जीवन की आशा पुनरुद्दीप्त कर देता है और उसी का सहारा पाने के लिये वह अनायास हाथ बढ़ा देता है। संत कवियों ने अपनी निर्गुण भक्ति के द्वारा भारतीय जनता के हृदय में यही आशा उत्पन्न की और उसे कुछ अधिक समय तक विपत्ति की इस अथाह जलराशि के ऊपर बने रहने की उत्तेजना दी, यद्यपि सहायता की आशा से आगे बढ़े हुए हाथ को वास्तविक सहारा सगुण भक्ति से ही मिला और केवल रामभक्ति ही उसे किनारे पर लगाकर सर्वथा निरापद कर सकी। पर इससे जनता पर होनेवाले कबीर, दादू, रैदास आदि संतों के उपकार का महत्त्व कम नहीं हो जाता। कबीर यदि जनता को भक्ति की ओर न प्रवृत्त करते तो क्या यह संभव था कि लोग इस प्रकार आँखें मूँद करके सूर और तुलसी को ग्रहण कर लेते? सारांश यह कि इन संत कवियों का आविर्भाव ऐसे समय में हुआ जब मुसलमानों के अत्याचारों से पीड़ित भारतीय जनता को अपने जीवित रहने की आशा तक नहीं रह गई थी और न उसमें अपने आपको जीवित रखने की इच्छा ही शेष थी। उसे मृत्यु या धर्मपरिवर्तन के अतिरिक्त और कोई उपाय ही नहीं देख पड़ता था। यद्यपि धर्मशील तत्त्वज्ञों ने सगुण उपासना से आगे बढ़ते बढ़ते निर्गुण उपासना तक पहुँचने का सुगम मार्ग बतलाया है और वास्तव में यह तत्त्व युक्तिसंगत भी जान पड़ता है, पर उस समय जनता को सगुण उपासना की निस्सारता का परिचय मिल चुका था और उस पर से उसका विश्वास भी उठ चुका था। अतएव कबीर को अपनी व्यवस्था उलटनी पड़ी। मुसलमान भी निर्गुणोपासक थे। अतएव उनसे मिलते-जुलते पथ पर लगाकर कबीर आदि ने हिंदू जनता को संतोष और शांति प्रदान करने का उद्योग किया। यद्यपि इस उद्योग में उन्हें पूरी पूरी सफलता नहीं हुई, तथापि यह स्पष्ट है कि

कबीर के निर्गुणवाद ने तुलसी और सूर के सगुणवाद के लिये मार्ग प्रशस्त किया और उत्तरीय भारत के भावी धर्ममय जीवन के लिये उसे बहुत कुछ संस्कृत और परिष्कृत कर दिया।

जिस समय निर्गुण संत कवियों का आविर्भाव हुआ था, वह समय ही भक्ति की लहर का था। उस लहर को बढ़ाने के प्रबल कारण प्रस्तुत थे। भारत में मुसलमानों के आ बसने से परिस्थिति में बहुत कुछ परिवर्तन हो गया था। हिंदू जनता को अपना नैराश्य दूर करने के लिये भक्ति का आश्रय ग्रहण करना आवश्यक था। इसके अतिरिक्त कुछ लोगों ने हिंदू और मुसलमान दोनों विरोधी जातियों को एक करने की आवश्यकता का भी अनुभव किया। इस अनुभव के मूल में एक ऐसे सामान्य भक्तिमार्ग का विकास गर्भित था जिसमें परमात्मा की एकता के आधार पर मनुष्यों की एकता का प्रतिपादन हो सकता और जिसके परिणाम-स्वरूप भारतीय ब्रह्मवाद तथा मुसलमानी खुदावाद की स्थूल समानता स्थापित हो सकती। भारतीय अद्वैतवाद और मुसलमानी एकेश्वरवाद के भेद की ओर ध्यान नहीं दिया गया और दोनों के विचित्र मिश्रण के रूप में निर्गुण भक्तिमार्ग चल पड़ा। रामानंद के बारह शिष्यों में से कुछ इस मार्ग के प्रवर्तन में प्रवृत्त हुए जिनमें से कबीर प्रमुख थे। शेष में सेना, पन्ना, भवानंद, पीपा और रैदास थे परंतु उनका उतना प्रभाव न पड़ा, जितना कबीर का।

मुसलमानों के आगमन से हिंदू समाज पर एक और प्रभाव पड़ा। पददलित शूद्रों की दृष्टि का उन्मेष हो गया। उन्होंने देखा कि मुसलमानों में द्विजों और शूद्रों का भेद नहीं है। सहधर्मी होने के कारण वे सब एक हैं, उनके व्यवसाय ने उनमें कोई भेद नहीं डाला है; न उनमें कोई छोटा है और न कोई बड़ा। अतएव इन ठुकराए हुए शूद्रों में से कुछ ऐसे महात्मा निकले जिन्होंने मनुष्यों की एकता उद्घोषित करने का विचार किया। इस नवोत्थित भक्ति-तरंग में सम्मिलित होने के कारण हिंदू समाज में प्रचलित भेद-भाव के विरुद्ध आंदोलन होने लगा। रामानंदजी ने सबके लिये भक्ति का मार्ग खोल दिया। नामदेव दरजी, रैदास चमार, दादू धुनिया, कबीर जुलाहा आदि समाज की नीची श्रेणी के ही थे पर उनका नाम आज तक आदर से लिया जाता है।

सामाजिक उदारता

इस निर्गुण भक्ति ने वर्णभेद से उत्पन्न उच्चता और नीचता को ही नहीं, वर्ग-भेद से उत्पन्न उच्चता-नीचता को भी दूर करने का प्रयत्न किया। स्त्रियों का पद स्त्री होने के ही कारण नीचा न रह गया। पुरुषों के ही समान वे भी भक्ति की अधि-

कारिणी हुईं। रामानंद के शिष्यों में से दो स्त्रियाँ थीं, एक पद्मावती और दूसरी सुरसरी। आगे चलकर सहजोबाई और दयाबाई भी भक्त संतों में से हुईं। वर्णाश्रम की मर्यादा के पक्षपाती और घर की चहारदीवारी में ही स्त्रियों को कैद रखनेवाले उच्च वर्गीय समाज के प्रतिनिधि तुलसीदासजी भी जो मीराबाई को "जिनके प्रिय न राम वैदेही। तजिए तिन्हें कोटि वैरी सम जद्यपि परम सनेही" का उपदेश दे सके, उसे निर्गुण भक्ति के ही अलक्ष्य और अनिवार्य प्रभाव का प्रसाद समझना चाहिए। ज्ञानी संतों ने स्त्री की जो निंदा की है वह दूसरी ही दृष्टि से। वहाँ उनका अभिप्राय स्त्री पुरुष के कामवासनापूर्ण संसर्ग से है। कबीर से बढ़कर कदाचित् ही और किसी ने स्त्री की निंदा की हो, परंतु फिर भी उनकी पत्नी लोई का आजन्म उनके साथ रहना प्रसिद्ध है।

धार्मिक सिद्धांत

कबीर इस निर्गुण भक्तिप्रवाह के प्रवर्तक थे, परंतु भक्त नामदेव इनसे भी पहले हो गए थे। नामदेवजी जाति के दरजी थे और दक्षिण के सतारा जिले में नरसी बमनी नामक स्थान में उत्पन्न हुए थे। पंढरपुर में विठोबाजी का मंदिर है। ये उनके बड़े भक्त थे। पहले ये सगुणोपासक थे, परंतु आगे चलकर इनका झुकाव निर्गुण भक्ति की ओर हो गया, जैसा कि इनके कुछ पदों से प्रकट होता है। कबीर के पीछे तो संतों की मानो बाढ़ सी आ गई और अनेक मत चल पड़े। पर सब पर कबीर का प्रभाव परिलक्षित होता है। नानक, दादू, शिवनारायण, जगजीवनदास आदि जितने प्रमुख संत हुए, सबने कबीर का अनुकरण किया और अपना अपना अलग मत चलाया। इनके विषय की मुख्य बातें ऊपर आ गई हैं, फिर भी कुछ बातों पर ध्यान दिलाना आवश्यक है। सबने नाम, शब्द, सद्गुरु आदि की महिमा गाई है और मूर्तिपूजा, अवतारवाद तथा कर्मकांड का विरोध किया है, तथा जाति-पाँति का भेद-भाव मिटाने का प्रयत्न किया है। परंतु हिंदू जीवन में व्याप्त सगुण भक्ति और कर्मकांड के प्रभाव से इनके प्रवर्तित मतों के अनुयायियों द्वारा वे स्वयं परमात्मा के अवतार माने जाने लगे हैं, और उनके मतों में भी कर्मकांड का आडंबर भर गया है। कई मतों में केवल द्विज लिए जाते हैं। केवल नानकदेवजी का चलाया सिख संप्रदाय ही ऐसा है जिसमें जाति-पाँति का भेद नहीं आने पाया, परंतु उसमें भी कर्मकांड की प्रधानता हो गई है और ग्रंथ साहब का प्रायः वैसा ही पूजन किया जाता है, जैसा मूर्तिपूजक मूर्ति का करते हैं। कबीर-पंथी मठों में भी कबीरदास

के मनगढ़ंत चित्र बनाकर उनकी पूजा होने लगी है और सुमिरनी आदि का प्रचार हो गया है।

यद्यपि आगे चलकर निर्गुण संत मतों का वैष्णव संप्रदायों से बहुत भेद हो गया, तथापि इसमें संदेह नहीं कि संतधारा का उद्गम भी वैष्णव भक्तिरूपी स्रोत से ही हुआ है। श्रीरामानुज ने संवत् ११४४ में यादवाचल पर नारायण की मूर्ति स्थापित करके दक्षिण में वैष्णव धर्म का प्रवाह चलाया था, पर उनकी भक्ति का आधार ज्ञानमार्गी अद्वैतवाद था। उनका अद्वैत, विशिष्टाद्वैत हुआ। गुजरात में मध्वाचार्य ने द्वैतमूलक वैष्णव धर्म का प्रवर्तन किया। जो कुछ कहा जा चुका है, उससे पता चलेगा कि संतधारा अधिकतर ज्ञानमार्ग के ही मेल में रही। पर उधर बंगाल में महाप्रभु चैतन्यदेव और उत्तर भारत में वल्लभाचार्यजी के प्रभाव से भक्ति के लिये परमात्मा के सगुण रूप की प्रतिष्ठा की गई, यद्यपि सिद्धांत रूप से ज्ञान-मार्ग का त्याग नहीं किया गया। और तो और, तुलसीदासजी तक ने ज्ञानमार्ग की बातों का निरूपण किया है, यद्यपि उन्होंने उन्हें गौण स्थान दिया है। संतों में भी कहीं कहीं अनजान में सगुणवाद आ गया है, और विशेषकर कबीर में, क्योंकि गुणों का आश्रय लेकर ही भक्ति की जा सकती है। शुद्ध ज्ञानाश्रयी उपनिषदों तक में उपासना के लिये ब्रह्म में गुणों का आरोप किया गया है। फिर भी तथ्य की बात यह जान पड़ती है कि जब वैष्णव संप्रदायों ने आगे चलकर व्यवहार में सगुण भक्ति का आश्रय लिया, तब भी संत मतों ने ज्ञानाश्रयी निर्गुण भक्ति से ही अपना संबंध रखा।

संत कवियों के धार्मिक सिद्धांतों और सामाजिक व्यवस्था के संबंध में उपर्युक्त बातें कहकर उनके व्यावहारिक सिद्धांतों पर भी ध्यान देना आवश्यक है; क्योंकि इन कवियों ने इतने प्रभावोत्पादक ढंग से सरल सदाचारपूर्ण लौकिक जीवन का उपदेश दिया और स्वयं इतनी सचाई से उसका पालन किया कि जनता पर उन उपदेशों का विशेष प्रभाव पड़ा और तत्कालीन सामाजिक दंभ बहुत कुछ कम हुआ। उन्होंने देखा कि लोग नाना प्रकार के अंधविश्वासों में फँसकर हीन जीवन व्यतीत कर रहे हैं। इसी से उन्हें मुक्त करने का उन्होंने प्रयत्न किया। मुसलमानों के रोजा, नमाज, हज, ताजियेदारी और हिंदुओं के श्राद्ध, एकादशी, तीर्थव्रत, मंदिर सबका उन्होंने विरोध किया। इस बाहरी आडंबर के लिये उन्होंने हिंदू मुसलमान दोनों को खूब फटकार बतलाई। धर्म को वे आडंबर से परे एक मात्र सत्य सत्ता मानते थे जिसमें हिंदू मुसलमान आदि

व्यावहारिक सिद्धांत

विभाग नहीं हो सकते। उन्होंने किसी नामधारी धर्म के बंधन में अपने आपको नहीं डाला और स्पष्ट शब्दों में संकीर्ण सांप्रदायिकता का खंडन किया। पर समय पाकर हिंदुओं के पौराणिक विचारों का प्रभाव इन सब संत महात्माओं के संप्रदायों पर पड़ा। क्रमशः इन आचार्यों के कल्पित या वास्तविक चित्र बनाए गए और विधिवत् उनकी पूजा अर्चा होने लगी, साथ ही सगुणोपासना के अन्य उपचारों—जैसे, माला, आसन, कमंडल आदि—का भी इन संप्रदायों में उपयोग होने लगा। सारांश यह कि हिंदू धर्म की जिन बातों का इन संत-संप्रदायों के आचार्यों ने बड़ा तीव्र खंडन किया उन्हें ही पीछे से उनके अनुयायियों ने ग्रहण किया और उन्हें भिन्न भिन्न संप्रदायों के अंग के रूप में प्रतिष्ठित किया।

अलोकोपयोगी प्रवृत्ति

क्रमशः कबीर, दादू आदि संतों के अनेक संप्रदाय चल पड़े जिनमें धार्मिक संकीर्णता का पूरा पूरा प्रवेश हुआ। यद्यपि संत कवियों के उपदेशों में बड़ी उदारता और तात्त्विक व्यापकता है, परंतु उनके अनुयायियों की दृष्टि उसे ग्रहण नहीं कर सकी। इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है। इन महात्माओं की वाणी में वैयक्तिक साधना के उपयुक्त ऊँचे से ऊँचे सिद्धांत हैं, पर वैयक्तिक साधना के उपयुक्त होने के कारण ही वे लोक-बाह्य भी हैं। सामान्य सामाजिक व्यवस्था में जो ऊँच नीच के भेद होते हैं, उसमें जो अनेक विधि-निषेध रखे जाते हैं, उनसे समाज के संचालन में सहायता ही नहीं मिलती, राष्ट्रीय विकास के लिये भी वे परमोपयोगी हैं। उनका समुचित पालन न होने से समाज में उच्छृंखलता फैल जाती है जिससे उसका ह्रास होता है। संत कवियों की वाणी में लोकभावना पर उतनी दृष्टि नहीं रखी गई है जितनी व्यक्तिगत विकास पर। परंतु व्यक्तिगत विकास का वास्तविक आशय थोड़े से लोग ही समझ सकते हैं, सारा समाज उसका अधिकारी नहीं होता। भक्त संतों के उपदेशों से अनुचित लाभ उठाकर "हरि को भजे सो हरि का होई" के सिद्धांत को साधारण सामाजिक जीवन में व्यवहृत करने की चेष्टा की जाने लगी जिससे कोई शुभ परिणाम नहीं निकल सका। गोस्वामी तुलसीदास ने इस प्रकार की चेष्टाओं का तीव्र प्रतिवाद किया था।

इन संत कवियों की उपासना निराकारोपासना थी; अतएव उनकी वाणी में अपने उपास्य के प्रति जो संकेत मिलते हैं, वे केवल आभास के रूप में हैं और रहस्यात्मक हैं। जब भक्ति का आलंबन

व्यक्त होता है, तब तो भक्त की वाणी स्वभावतः स्पष्ट और निश्चित होती है, परंतु जब भक्त चिंतन के क्षेत्र में प्रवेश करके आकार का परित्याग कर अगोचर की ओर अग्रसर होता है तब उसे रहस्यात्मक शैली का आश्रय ग्रहण करना पड़ता है। इस प्रकार काव्य में रहस्यवाद की उत्पत्ति होती है। रहस्यवाद के मूल में अज्ञात शक्ति की जिज्ञासा काम करती है। इस बात का अनुभव मनुष्य अनादि काल से करता चला आया है कि संसारचक्र का प्रवर्तन किसी अज्ञात शक्ति के द्वारा होता है, परंतु वह शक्ति उस प्रकार स्पष्टता से नहीं दिखाई देती, जिस प्रकार जगत् के अन्य दृश्य रूप दिखाई पड़ते हैं, और न उसका ज्ञान ही उस प्रकार साधारण विचारधारा के द्वारा हो सकता है जिस प्रकार इन दृश्य रूपों का होता है। जो लोग अपनी लगन से इस क्षेत्र में सिद्ध हो चुके हैं, उन्होंने जब जब अपनी अनुभूति के निरूपण करने का प्रयत्न किया है, तब तब उन्होंने अपनी उक्तियों को स्पष्टता देने में अपने आपको असमर्थ पाया है। कबीर ने स्पष्ट कह दिया है कि परमात्मा का प्रेम और उसकी अनुभूति गूँगे का सा गुड़ है। यही रहस्यवाद का मूल है। वेदों और उपनिषदों में रहस्यवाद की झलक विद्यमान है। जहाँ कहीं ब्रह्म की निर्गुण सत्ता का उल्लेख किया गया है, वहाँ बराबर इसी रहस्यात्मक शैली का प्रयोग किया गया है। गीता में भगवान् के मुँह से उनकी विभूति का जो वर्णन कराया गया है, वह अत्यंत रहस्यपूर्ण है।

रहस्यवाद

संतों की रहस्यमयी उक्तियाँ स्थान स्थान पर बड़ी ही मनोमोहिनी हुई हैं। प्रकृति के नाना रूपों में एक नित्य चेतन शक्ति की झलक देखकर भावमग्न होने की कल्पना भी कितनी मधुर और कितनी मोहक है। समस्त दृश्य जगत् आनंद के प्रवाह से आप्लावित हो रहा है, इसके अणु अणु उस आनंद से अपना संबंध चरितार्थ कर रहे हैं, आदि भावनाएँ जितनी रहस्यमयी हैं, उतनी ही हृदयहारिणी भी हैं। प्रसिद्ध भक्त कवयित्री मीराबाई ने संसार को पुरुष-विहीन बतलाकर सबके एकमात्र स्वामी "गिरिधर गोपाल" को ही अपना पति स्वीकार किया है। परमात्मा पुरुष है, प्रकृति उसकी पत्नी है—यह कल्पना बड़ी ही रहस्यात्मक परंतु अत्यंत सत्य है। संतों ने इसकी अनुभूति की थी। कबीर ने भी एक स्थान पर अपने को "राम की बहुरिया" बतलाया है। संसार ने स्त्री पुरुष के जो भेद बना रखे हैं, तात्त्विक दृष्टि से उनका विशेष मूल्य नहीं, वे कृत्रिम हैं। वास्तव में सारी प्रकृति—सारा दृश्य जगत् परम पुरुष की पत्नी है। यही तथ्य है। इसी प्रकार परमात्मा

की माता, पिता, स्वामी, सखा तथा पुत्र आदि रूपों में भी उपासना की गई है। "हरि जननी मैं बालिक तेरा" कहकर कबीर ने हरि को माता बतलाया है। इसी भाँति अन्य रूपकों द्वारा भी ब्रह्म और जीव के संबंधों की व्यंजना की गई है। ये सभी संबंध भावना में रहस्यात्मक हैं क्योंकि लौकिक अर्थ में तो परमात्मा पिता, माता, प्रिया, प्रियतम आदि कुछ भी नहीं। ऐसे ही कहीं "वे दिन कब आवैंगे भाइ। जा कारनि हम देह धरी है मिलिबौ अंग लगाइ" कहकर परमात्मा से जीवात्मा के वियुक्त होने, और कहीं "मो को कहाँ ढूँढ़ै बंदे मैं तो तेरे पास में" कहकर दोनों के मिल जाने आदि का संत कवियों ने बड़े ही रहस्यात्मक ढंग से वर्णन किया है।

शुद्ध साहित्यिक दृष्टि से देखने पर भी हम संत कवियों का एक विशेष स्थान पाते हैं। यह ठीक है कि बिहारी और केशव आदि की सी भाषा की प्रांजलता का अभिमान ये कवि नहीं कर सकते; और न सूर और तुलसी की सी सरसता और व्यापकता ही इनकी कविता में पाई जाती है। जायसी ने प्रकृति के नाना रूपों के साथ अपने हृदय की जैसी एकरूपता दिखाई है, अनेक निर्गुण संत कवि उतनी सफलता से वह नहीं दिखा सके। यह सब होते हुए भी इन कवियों का स्थान हिंदी साहित्य में अत्यंत उत्कर्षपूर्ण तथा उच्च समझा जायगा। भाषा की प्रांजलता कम होते हुए भी उसमें प्रभावोत्पादकता बहुत अधिक है और उनकी तीव्रता से भावों में व्यापकता की बहुत कुछ कमी हो जाती है। उनके संदेशों में जो महत्ता है, उनके उपदेशों में जो उदारता है, उनकी सारी उक्तियों में जो प्रभावोत्पादकता है वह निश्चय ही उच्च कोटि की है। कविता के लिये उन्होंने कविता नहीं की है। उनकी विचारधारा सत्य की खोज में बही है, उसी का प्रकाश करना उनका ध्येय है। उनकी विचारधारा का प्रवाह जीवन-धारा के प्रवाह से भिन्न नहीं। उसमें उनका हृदय घुला मिला है। उनकी प्रतिभा हृदय-समन्वित है। उनकी बातों में ऐसा बल है जो दूसरों पर प्रभाव डाले बिना नहीं रह सकता। हार्दिक उमंग की लपेट में जो सहज विदग्धता उनकी उक्तियों में आ गई है, वह अत्यंत भावापन्न है। उसी में उनकी प्रतिभा का चमत्कार है। शब्दों के जोड़-तोड़ से चमत्कार लाने के फेर में पड़ना उनको प्रकृति के प्रतिकूल था। दूर की सूझ जिस अर्थ में केशव बिहारी आदि कवियों में मिलती है, उस अर्थ में उनमें मिलना असंभव है। प्रयत्न उनकी कविता में कहीं देख नहीं पड़ता।

साहित्यिक समीक्षा

अब हम कुछ प्रसिद्ध प्रसिद्ध संत कवियों की वैयक्तिक विशेषताओं का संक्षेप में उल्लेख करते हैं।

अब तक के अनुसंधानों के अनुसार महात्मा कबीरदास का जन्म संवत् १४५६ और मृत्यु संवत् १५७५ माना जाता है। यद्यपि निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता, फिर भी सब बातों पर विचार करने से इस मत के ठीक होने की अधिक संभावना है कि ये ब्राह्मणी या किसी हिंदू स्त्री के गर्भ से उत्पन्न और मुसलमान परिवार में लालित पालित हुए। कदाचित् उनका बाल्यकाल मगहर में बीता था और वे पीछे से काशी में आकर बसे थे जहाँ से अंतकाल के कुछ पहले उन्हें पुनः मगहर जाना पड़ा हो। प्रसिद्ध स्वामी रामानंद को उन्होंने अपना गुरु स्वीकार किया था। कुछ लोगों का यह भी मत है कि उनके गुरु शेख तकी नामक कोई सूफी मुसलमान फकीर थे। धर्मदास और सुरत गोपाल नाम के उनके दो चेले हुए। कबीर की मृत्यु के पीछे धर्मदास ने छत्तीसगढ़ में कबीरपंथ की एक अलग शाखा चलाई और सुरत गोपाल काशीवाली शाखा की गद्दी के अधिकारी हुए। कबीर के साथ प्रायः लोई का नाम भी लिया जाता है। संभवतः लोई उनकी पत्नी और कमाल उनका पुत्र था।

कबीर

कबीर बहुश्रुत थे। उनको सत्संग से वेदांत, उपनिषदों और पौराणिक कथाओं का थोड़ा बहुत ज्ञान हो गया था परंतु वेदों का उन्हें कुछ भी ज्ञान नहीं था। योग की क्रियाओं के विषय में उन्हें जानकारी थी। इंगला, पिंगला, सुषुम्ना, षट्चक्र आदि का उन्होंने उल्लेख किया है, पर वे योगी नहीं थे। उन्होंने योग को भी माया में सम्मिलित किया है। उन्होंने केवल हिंदू और मुसलमान धर्मों का मुख्यतया उल्लेख किया है, पर अन्य धर्मों से भी उनका परिचय था। कबीरदास सरल जीवन के पक्षपाती तथा अहिंसा के समर्थक थे। उन्होंने शास्त्रों की बड़ी निंदा की है।

जैसे कबीर का जीवन संसार से ऊपर उठा हुआ था, वैसे ही उनका काव्य भी साधारण कोटि से ऊँचा है। अतएव सीखकर प्राप्त की हुई रसिकता को उनमें काव्यानंद नहीं मिलता। परंपरा से बँधे हुए लोगों को काव्य-जगत् में भी इंद्रिय-लोलुपता का अखाड़ा खड़ा करना अच्छा लगता है। कबीर ऐसे लोगों की परितुष्टि की परवा कैसे कर सकते थे, जिनको निरपेक्षी के प्रति होनेवाला उनका प्रेम भी शुष्क लगता है? प्रेम की पराकाष्ठा आत्मसमर्पण का मानो काव्यजगत में कोई मूल्य ही नहीं है!

कबीर ने अपनी उक्तियों पर बाहर बाहर से अलंकारों का मुलम्मा नहीं लगाया है। जो अलंकार उनमें मिलते भी हैं वे उन्होंने खोजकर नहीं बैठाए हैं। मानसिक कलाबाजी और कारीगरी के अर्थ में कला का उनमें सर्वथा अभाव है, परंतु सच्ची कला के लिये तो तथ्य की आवश्यकता है। भावुकता के दृष्टिकोण से कला आडंबरों के बंधन से निर्मुक्त तथ्य है। एक विद्वान् कृत इस परिभाषा को यदि काव्यक्षेत्र में प्रयुक्त करें तो बहुत कम कवि सच्चे कलाकारों की कोटि में आ सकेंगे। परंतु कबीर का आसन उस ऊँचे स्थान पर अविचल दिखाई देता है। यदि सत्य के खोजी कबीर के काव्य में तथ्य को स्वतंत्रता न मिली हो, तो और कहीं नहीं मिल सकती। कबीर के महत्त्व का अनुमान इसी से हो सकता है।

कबीरदास छंदशास्त्र से अनभिज्ञ थे, यहाँ तक कि वे दोहों को भी पिंगल की खराद पर न चढ़ा सके। डफली बजाकर गाने में जो शब्द जिस रूप में निकल गया, वही ठीक था। मात्राओं के घट बढ़ जाने की चिंता उनके लिये व्यर्थ थी। परंतु साथ ही कबीर में प्रतिभा थी, मौलिकता थी। उन्हें कुछ संदेश देना था और उसके लिये शब्द की मात्रा या वर्णों की संख्या गिनने की आवश्यकता न थी। उन्हें तो इस ढंग से अपनी बातें कहने की आवश्यकता थी जिसमें वे सुननेवालों के हृदय में पैठ जायँ और पैठकर जम जायँ। इसके अतिरिक्त वह काल भाषा के प्राथमिक विकास का था, तब तक उसमें विशेष मार्जन नहीं हो पाया था।

कबीर की भाषा का निर्णय करना टेढ़ी खीर है; क्योंकि वह खिचड़ी है। कबीर की रचना में कई भाषाओं के शब्द मिलते हैं परंतु भाषा का निर्णय प्रायः शब्दों से नहीं होता। भाषा के आधार क्रियापद, संयोजक शब्द तथा कारक-चिह्न हैं जो वाक्यविन्यास की विशेषताओं के कारण होते हैं। कबीर में केवल शब्द ही नहीं, क्रियापद, कारक-चिह्नादि भी कई भाषाओं के मिलते हैं। क्रियापदों के रूप अधिकतर ब्रजभाषा और खड़ी बोली के हैं। कारक-चिह्नों में से, कै, सन, सा आदि अवधी के हैं, कौ ब्रज का है और थे राजस्थानी का। यद्यपि उन्होंने स्वयं कहा है—"मेरी बोली पूरबी," तथापि खड़ी, ब्रज, पंजाबी, राजस्थानी, अरबी-फारसी आदि अनेक भाषाओं का पुट उनकी उक्तियों पर चढ़ा हुआ है। "पूरबी" से उनका क्या तात्पर्य है, यह नहीं कह सकते। काशीनिवास उनकी पूरबी से अवधी का अर्थ लेने के पक्ष में है, परंतु उनकी रचना में बिहारी का भी पर्याप्त मेल है, यहाँ तक

कि मृत्यु के समय मंगहर में उन्होंने जो पद कहा है, उसमें मैथिली का भी कुछ संसर्ग दिखाई देता है। यदि बोली का अर्थ मातृभाषा लें और "पूरबी" का "बिहारी" तो कबीर के जन्म के संबंध में एक नया ही प्रकाश पड़ता है। उनका अपना अर्थ जो कुछ हो, पर पाई जाती हैं उनमें अवधी और बिहारी दोनों बोलियाँ। इस पँचमेल खिचड़ी का कारण यह है कि उन्होंने दूर दूर के साधु संतों का सत्संग किया था जिससे स्वभावतः उन पर भिन्न भिन्न प्रांतों की बोलियों का प्रभाव पड़ा।

कबीर पढ़े लिखे नहीं थे, इसी से उन पर बाहरी प्रभाव बहुत अधिक पड़े। भाषा और व्याकरण की स्थिरता उनमें नहीं मिलती। यह भी संभव है कि उन्होंने जान बूझकर अनेक प्रांतों के शब्दों का प्रयोग किया हो, अथवा शब्दभांडार की कमी के कारण जब जिस भाषा का सुना सुनाया शब्द उनके सामने आ गया हो तब वही उन्होंने अपनी कविता में रख दिया हो। शब्दों को उन्होंने तोड़ा मरोड़ा भी बहुत है। इसके अतिरिक्त उनकी भाषा में अक्खड़पन है और साहित्यिक कोमलता का सर्वथा अभाव है। कहीं कहीं उनकी भाषा बिलकुल गँवारू लगती है, पर उनकी बातों में खरेपन की मिठास है, जो उन्हीं की विशेषता है और उसके सामने यह गँवारपन खटकता नहीं।

कबीर ही हिंदी के सर्वप्रथम रहस्यवादी कवि हुए। सभी संत कवियों में थोड़ा बहुत रहस्यवाद मिलता है, पर उनका काव्य विशेषकर कबीर का ही ऋणी है। बँगला के वर्तमान कवींद्र रवींद्र को भी कबीर का ऋण स्वीकार करना पड़ेगा। अपने रहस्यवाद का बीज उन्होंने कबीर में ही पाया। परंतु उनमें पाश्चात्य भड़कीली पालिश भी है। भारतीय रहस्यवाद को उन्होंने पाश्चात्य ढंग से सजाया है। इसी से यूरोप में उनकी इतनी प्रतिष्ठा हुई है। हिंदी की वर्तमान काव्यप्रगति में भी कबीर के रहस्यवाद की कुछ छाप देख पड़ती है।

कबीर पहुँचे हुए ज्ञानी थे। उनका ज्ञान पोथियों की नकल नहीं था और न वह सुनी सुनाई बातों का बेमेल भांडार ही था। पढ़े लिखे तो वे थे नहीं, परंतु सत्संग से भी जो बातें उन्हें मालूम हुईं, उन्हें वे अपनी विचारधारा के द्वारा मानसिक पाचन से सर्वथा अपनी ही बना लेने का प्रयत्न करते थे। उन्होंने स्वयं कहा है 'सो ज्ञानी आप विचारै'। फिर भी कई बातें उनमें ऐसी मिलती हैं जिनका उनके सिद्धांतों के साथ मेल नहीं मिलता। उनकी ऐसी उक्तियों को समय और परिस्थितियों का तथा भिन्न भिन्न मतावलंबियों के संसर्ग का अलक्ष्य प्रभाव समझना चाहिए।

निर्गुण संत कवियों में प्रचार की दृष्टि से, प्रतिभा की दृष्टि से तथा कवित्व की दृष्टि से भी कबीर का स्थान सर्वोपरि है, उनके पीछे के प्रायः सब संतों ने अधिकतर उनका ही अनुगमन किया है।

प्रसिद्ध सिख संप्रदाय के संस्थापक तथा प्रथम गुरु नानकजी जाति के खत्री थे। इनके पिता कालूचंद खत्री लाहौर के निवासी थे। इन्होंने प्रारंभ में वैवाहिक जीवन व्यतीत किया था और इन्हें श्रीचंद और लक्ष्मीचंद नाम के दो पुत्र भी हुए थे। गुरु नानक ने घर बार छोड़कर जब संन्यास ग्रहण किया, तब कहा जाता है कि उनकी भेंट महात्मा कबीर से हुई थी। कबीर के उपदेशों का उन पर विशेष प्रभाव पड़ा था। उनके ग्रंथ साहब में कबीर की वाणी भी संगृहीत है। नानकजी पंजाब के निवासी थे और पंजाब मुसलमानों का प्रधान केंद्र था। इसलाम और हिंदू धर्म के संघर्ष के कारण पंजाब में जो अशांति फैलने की आशंका थी, उसे नानकजी ने दूर करने का सफल प्रयास किया। उनकी वाणी में हिंदुओं और मुसलमानों के विचारों का मेल प्रशंसनीय रीति से हुआ है।

नानकदेव

कबीर की ही भाँति नानक भी अधिक पढ़े लिखे नहीं थे, पर साधुओं के संसर्ग तथा पर्यटन के अनुभव से नानक के उपदेशों में एक प्रकार की विशेष प्रतिभा तथा प्रभावोत्पादकता पाई जाती है। वास्तव में इन संत कवियों की वाणी उनकी आत्मा की वाणी है; अतः उसका प्रभाव सीधा हृदय पर पड़ता है। यह ठीक है कि काव्य की कृत्रिम दृष्टि से नानक की कविता साधारण कोटि की ही समझी जायगी, परंतु कला में जो स्वाभाविकता तथा तीव्रता अपेक्षित होती है, नानक में उसकी कमी नहीं है। महात्मा नानक की भाषा में पंजाबीपन स्पष्ट देख पड़ता है, जो उनके पंजाबनिवासी होने के कारण है। परंतु साथ ही अन्य प्रांतीय प्रयोग भी कम नहीं हैं, जो उनके पर्यटन के परिचायक हैं। नानक के पद प्रसिद्ध सिख ग्रंथ "ग्रंथ साहब" में एकत्र किए गए हैं। यह ग्रंथ सिखों का धर्मग्रंथ है और अत्यंत पूज्य दृष्टि से देखा जाता है।

दादूदयाल का जन्म संवत् १६०१ में गुजरात के अहमदाबाद नामक स्थान में बतलाया जाता है। इनकी जाति का ठीक ठीक पता नहीं चलता। कुछ लोग इन्हें ब्राह्मण बतलाते हैं और कुछ इन्हें मोची या धुनिया मानते हैं। संभवतः ये नीची जाति के ही थे। ये स्पष्टतः कबीर के शिष्य तो नहीं थे, पर इन्होंने अपने सभी सिद्धांतों को कबीर से ही ग्रहण किया है। दादू का एक अलग संप्रदाय चला था और अब भी अनेक दादूपंथी पाए जाते हैं। इनकी मृत्यु

दादूदयाल

जयपुर प्रांत के अंतर्गत भराने की पहाड़ी नामक स्थान में हुई थी और यही स्थान अब तक दादूपंथियों का मुख्य केंद्र बना हुआ है।

दादू का प्रचारक्षेत्र अधिकतर राजपूताना तथा उसके आसपास का प्रांत था; अतः उनके उपदेशों की भाषा में राजस्थानी का पुट पाया जाता है। संत कवियों की भाँति दादू ने भी साखियाँ तथा पद आदि कहे हैं जिनमें सतगुरु की महिमा, ईश्वर की व्यापकता, जाति-पाँति की अवहेलना आदि के उपदेश दिए गए हैं। इनकी वाणी में कबीर की वाणी से सरसता तथा तत्त्व अधिक है, यद्यपि ये कबीर के समान प्रतिभाशाली नहीं थे। कबीर तर्कप्रिय थे; अतः उन्हें तार्किक की सी कठोरता भी धारण करनी पड़ी थी, परंतु दादू ने हृदय की सच्ची अनुभूतियों का ही अभिव्यंजन किया है। इनकी मृत्यु संवत् १६६० में हुई थी। आरंभ-काल के संत कवियों में ये पढ़े-लिखे जान पड़ते हैं।

मलूकदास

मलूकदास औरंगजेब के समकालीन निर्गुण भक्त-कवि थे। "अजगर करै न चाकरी पंछी करै न काम" वाला प्रसिद्ध दोहा इन्हीं की रचना है। इनकी भाषा साधारण संत कवियों की अपेक्षा अधिक शुद्ध और संस्कृत होती थी और इनको छंदों का भी ज्ञान था। रत्नखान तथा ज्ञानबोध नाम की इनकी दो पुस्तकें प्रसिद्ध हैं, जिनमें वैराग्य तथा प्रेम आदि की मनोहर वाणी व्यक्त की गई है। एक सौ आठ वर्ष की अवस्था में इनकी मृत्यु सं० १७३६ में हुई थी। ये कड़ा जिला इलाहाबाद के निवासी थे।

सुंदरदास

इन संत कवियों में सबसे अधिक विद्वान् तथा पंडित कवि सुंदरदास हुए। सुंदरदास दादूदयाल की शिष्य-परंपरा में थे। इनका अध्ययन विशेष विस्तृत था। इन्होंने काशी में आकर शिक्षा प्राप्त की थी। सुंदरदास की भाषा शुद्ध काव्य-भाषा है और उनकी वाणी में उनके उपनिषदों आदि से परिचित होने का पता चलता है, परंतु कबीर आदि की भाँति उनमें स्वभाव-सिद्ध मौलिकता तथा प्रतिभा अधिक नहीं थी, इससे उनका प्रभाव भी विशेष नहीं पड़ा। सुंदरदास के अतिरिक्त संतों में अक्षर अनन्य, धर्मदास, जगजीवन आदि का नाम भी लिया जाता है, साथ ही तुलसी साहब, गोविंद साहब, भीखा साहब, पलटू साहब आदि अनेक संत हुए जिनमें से अधिकांश का साहित्य पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा। परंतु संतों की परंपरा का अंत नहीं हो गया और न्यूनाधिक रूप में वह बराबर चलती रही, और अब तक चली जा रही है।

यद्यपि साहित्यिक समीक्षा में निर्गुण संत कवियों को उच्चतम स्थान नहीं दिया जाता, पर इससे हम उनके किए हुए उपकार को नहीं भूल सकते। मुसलमान और हिंदू संस्कृतियों के उस संघर्ष-काल में जिस शांतिमयी वाणी की आवश्यकता थी, संतों ने उसी की अभिव्यंजना की। यह ठीक है कि हिंदू समाज के उच्च वर्ण इस निर्गुण संप्रदाय की ओर अधिक आकृष्ट नहीं हुए, प्रत्युत उसके विरोध में ही बने रहे, पर समाज की निम्न श्रेणी का जो भारी कल्याण इन कवियों ने किया, वह इस देश के इतिहास में स्मरणीय रहेगा। अब भी हिंदी के प्रधान कवियों में कबीर आदि का उच्च स्थान है और प्रचार की दृष्टि से तो महात्मा तुलसीदास के बाद इन्हीं का नाम लिया जा सकता है। एक बात और ध्यान देने की है। अब तक समस्त धार्मिक आंदोलन केवल संस्कृत भाषा का ही आश्रय लेकर होता था, यहाँ तक कि वल्लभाचार्य और रामानंद ने भी जो कुछ लिखा, संस्कृत में ही लिखा था। इनके अनंतर यह प्रवृत्ति बदली और देश-भाषाओं का अधिकाधिक उपयोग होने लगा। इसी का यह परिणाम हुआ कि साधारण जनता इस ओर आकृष्ट हुई और उनमें जागर्ति उत्पन्न हुई। संत महात्माओं के उद्योग का यह फल हुआ कि दलित और अस्पृश्य जातियों में भी जीवन के आदर्श को ऊँचा करने और उच्च जातियों के समकक्ष होने की कामना हुई। जिस प्रकार आजकल एक अस्पृश्य जाति का पुरुष मुसलमान या क्रिस्तान होने पर समाज में सम्मान का भाजन होता है उसी प्रकार मध्य युग में नीच से नीच जाति का व्यक्ति भी संत होकर और भगवद्भक्ति में लीन होकर समाज में आदर-सत्कार का अधिकारी हो जाता था। पर यह संस्कार सामूहिक रूप में न हो सका। इसका मुख्य कारण अंत्यजों की व्यावसायिक परिस्थिति ही जान पड़ती है। जो हो, इसमें संदेह नहीं कि इस युग में इन संत महात्माओं के कारण हिंदी साहित्य और भारतीय समाज का महान् उपकार हुआ।

सातवाँ अध्याय

प्रेममार्गी भक्ति शाखा

आविर्भाव-काल

जब एक जाति किसी देश से आकर अन्य देश की किसी दूसरी जाति से मिलती है तब दोनों के भावों, विचारों तथा रीति-नीति का विनिमय ऐसी विलक्षण रीति से होने लगता है कि उन जातियों की सभ्यता तथा संस्कृति में बड़े बड़े परिवर्तन हो जाते हैं। कभी कभी तो विजयिनी जाति शक्तिमती होती हुई भी अपनी अल्प संख्या अथवा हीन संस्कृति के कारण विजित जाति की बहु संख्या में विलीन हो जाती है और अपना संपूर्ण अस्तित्व खोकर विजित जाति की सभ्यता आदि ग्रहण कर लेती है। भारत पर आक्रमण करनेवाली हूण, कुशन और यूची आदि जातियों की ऐसी ही अवस्था हुई थी। कभी कभी विजेताओं के उत्साह अथवा उच्चाकांक्षाओं में विजितों के अस्तित्व को दबा देने की भी क्षमता देखी जाती है। प्राचीन यूनान पर डोरियन तथा आइओनियन आक्रमणों का यही प्रभाव पड़ा था। इसी प्रकार कभी कभी ऐसा भी देखा जाता है कि यद्यपि दोनों जातियों के संघर्ष से दोनों की रीति-नीति में अंतर पड़ते हैं, पर दोनों ही अपनी सभ्यता तथा अन्य विशेषताओं को अक्षुण्ण रखती हैं, और अलग अलग अपना विकास करती हैं। ऐसा अधिकतर उस समय होता है जब दोनों ही जातियाँ अपनी सभ्यता तथा संस्कृति को उन्नत कर चुकी हों और परिस्थिति के अनुसार उनमें साधारण परिवर्तन करके अपना स्वतंत्र अस्तित्व बनाए रखने की क्षमता रखती हों। भारतवर्ष पर मुसलमानों की विजय के अनंतर जब हिंदू और मुसलमान सभ्यताओं का संयोग हुआ तब हिंदू अपनी प्राचीन तथा उच्च सभ्यता के कारण दृढ़ बने रहे और मुसलमानों के नवीन धार्मिक उत्साह तथा विजयगर्व ने उन्हें हिंदुओं में मिल जाने से रोक रखा।

हिंदू और मुसलमान यद्यपि अलग अलग बने रहे, परंतु उनमें भावों और विचारों की एकता अवश्य स्थापित हुई। दोनों ही जातियों ने अपने धार्मिक आदि विभेदों को वहीं तक बना रहने दिया जहाँ तक उनके स्वतंत्र अस्तित्व के लिये उनकी आवश्यकता थी। इसके आगे दोनों धीरे धीरे मिलने लगे। वास्तव में मनुष्य सामाजिक जीव है।

उसके हृदय में शांति के प्रति अनुराग होता है। उसे विरोध उतना अच्छा नहीं लगता। जहाँ तक हो सकता है, मनुष्य विपत्तियों से भी प्रेम-पूर्वक व्यवहार करता है। यही मनुष्य की मनुष्यता है। इसी मनुष्यता का परिचय कबीर आदि महात्माओं ने मुसलमानी शासन के आदिकाल में दिया था। जब हिंदू और मुसलमान दोनों साथ ही बस गए और साथ ही रहने लगे, तब विरोध के आधार पर सामाजिक प्रगति नहीं हो सकती थी। दोनों को मिलकर रहने की उत्सुकता हुई। यद्यपि विजयी मुसलमान शासक अपने विजयोन्माद में धार्मिक नृशंसता के पक्के उदाहरण बन रहे थे, पर साधारण जनता उनकी सी कठोर मनोवृत्ति धारण न कर मेल की ओर बढ़ रही थी। कबीर ने मेल की बड़ी प्रबल प्रेरणा की थी। उन्होंने हिंदुओं और मुसलमानों दोनों को यह समझाने का प्रयत्न किया,कि हमको उत्पन्न करनेवाला परमेश्वर एक है, केवल नामभेद से अज्ञानवश हम उसे भिन्न भिन्न समझा करते हैं। धार्मिक विवाद व्यर्थ है, सब मार्ग एक ही स्थान को जाते हैं। इस प्रकार कबीर ने परोक्ष सत्ता की एकता स्थापित की। थोड़े समय पीछे कवियों का एक समुदाय ऐसा भी उदय हुआ जिसने व्यावहारिक जीवन की एकता की ओर अधिक ध्यान दिया।

यह समुदाय सूफी कवियों का था जो प्रेमपंथ को लेकर चला था। सूफियों का प्रेम लौकिक नहीं था, परोक्ष के प्रति था। यद्यपि इसलाम धर्म के अनुसार सूफियों के परोक्ष को भी निराकार ही रहना पड़ा, परंतु अपने उत्कट प्रेम तथा उदार हृदय के कारण सूफी संप्रदाय में अव्यक्त परोक्ष सत्ता को बहुत कुछ व्यक्त स्वरूप भी मिला। सूफी उस परमेश्वर की उपासना करते थे जो निर्गुण और निराकार तो है परंतु अनंत प्रेम का भांडार भी है। साथ ही धार्मिक प्रतिबंध के कारण सूफी कवि अपने उपास्य देव के प्रेम के संबंध में स्पष्टतः कुछ भी नहीं कह सकते थे, अतः उन्होंने प्रेम-संबंधी अनेक आख्यानों का सृजन किया और उन लौकिक आख्यानों की सहायता से ईश्वर के प्रेम की अभिव्यंजना की। यह अभिव्यंजना संकेत के ही रूप में की गई, और इसी से हिंदी में रहस्यात्मक कविता की सृष्टि हुई। सूफियों के रहस्यवाद के संबंध में तो हम आगे चलकर कहेंगे, यहाँ इतना समझ लेना चाहिए कि सूफी कवियों के आख्यान अधिकतर कल्पित होते थे पर कभी कभी उनमें ऐतिहासिक घटनाओं का भी समावेश होता था। वास्तव में वे अव्यक्त के प्रति प्रेमाभिव्यंजन के उपयुक्त कथानक का इच्छानुसार सृजन करते थे, और ऐतिहासिक तथ्यों का वहीं तक समावेश करते थे जहाँ

तक उनसे अलौकिक प्रेम की अभिव्यक्ति में सहायता मिलती थी अथवा बाधा नहीं पड़ती थी। यहाँ यह कह देना भी उचित होगा कि सूफी कवियों के अधिकांश आख्यान हिंदू समाज से लिए गए हैं और हिंदू जीवन से पूरी सहानुभूति रखते हैं। यह उन कवियों के उदार हृदय और सामंजस्य बुद्धि का परिचायक है।

कबीर आदि संतों की बानी अटपटी है। उसमें ब्रह्म की निराकार उपासना का उपदेश दिया गया है और वेदों पुराणों आदि की निंदा करके एक प्रकार के दंभरहित सरल सदाचारपूर्ण धर्म की स्थापना का लक्ष्य रखा गया है। राम और रहीम को एक ठहराकर हिंदू तथा मुसलमान मतों का अद्भुत मेल मिलाया गया है। इसी प्रकार हिंसा और मांसभक्षण का खंडन कर नमाज और पूजा का विरोध करके इन संतों ने किस मार्ग का अनुसरण किया किसका नहीं, यह साधारण जनता की समझ में नहीं आ सकता था। फिर भी कबीर आदि का देश के साधारण जनसमुदाय पर जो महान् प्रभाव पड़ा, वह कहने सुनने की बात नहीं है। ये संत पढ़े लिखे न थे, उनकी भाषा में साहित्यिकता न थी, उनके छंद ऊटपटाँग थे तथापि उन्हें जनता ने स्वीकार किया और उनकी विशेष प्रसिद्धि हुई। इसके विपरीत सूफी कवियों के उद्गार अधिकतर शृंखलित और शास्त्रानुमोदित थे, उनकी भाषा भी अच्छी मँजी हुई थी और छंद आदि का भी उन्हें ज्ञान था। इन कवियों की संख्या भी कम न थी। फिर भी यह स्वीकार करना पड़ता है कि देश में सूफी कवियों की न तो अधिक प्रसिद्धि ही हुई और न उनका अधिक प्रचार ही हुआ। इनमें से अनेक कवि तो नामावशेष ही थे और कठिनाई से उनके ग्रंथों का पता लगा है। संभवतः साहित्यिक समाज में भी इन कवियों का विशेष महत्त्वपूर्ण स्थान कभी नहीं माना गया। इनकी कविताओं के उद्धरण न तो लक्षण ग्रंथों में मिलते हैं और न धार्मिक संग्रहों में ही उन्हें स्थान दिया गया है। संभवतः सूफियों की रहस्योन्मुख भावनाएँ इस देश की जलवायु के उतनी भी अनुकूल नहीं थीं जितनी कबीर आदि की अटपटी और अव्यवस्थित वाणी थी।

सूफियों की परंपरा

प्रेमाख्यानक सूफी कवियों की परंपरा हिंदी में कुतबन के समय से चली। कुतबन शेरशाह के पिता हुसैनशाह के आश्रित थे और चिश्ती वंश के शेख बुरहान के शिष्य थे। इनके प्रेमकाव्य का नाम मृगावती है जो इन्होंने सन् ९०९ हिजरी में लिखा था। चंद्रनगर के अधिपति गणपतिदेव के राज-

कुमार तथा कंचन नगर की राजकुमारी मृगावती की प्रेमगाथा इसमें अंकित की गई है।) प्रेम-मार्ग के कष्ट तथा त्याग आदि का वर्णन करते हुए कुतबन ने अज्ञात की प्राप्ति के कष्टों का आभास दिया है। मृगावती के उपरांत दूसरी प्रेमगाथा मधुमालती लिखी गई जिसकी एक खंडित प्रति खोज में मिली है। इसके रचयिता मंझन बड़े ही सरस हृदय कवि थे। इन्होंने प्रकृति के दृश्यों का बड़ा ही मर्मस्पर्शी वर्णन किया है और उन दृश्यों के द्वारा अव्यक्त की ओर बड़े ही मधुर संकेत किए हैं। प्रेमगाथाकारों में सबसे प्रसिद्ध कवि जायसी हुए जिनका पद्मावत काव्य हिंदी का एक जगमगाता रत्न है। इस काव्य में कवि ने ऐतिहासिक तथा काल्पनिक कथानकों के संयोग से बड़ी ही रोचकता ला दी है। इसमें मानव हृदय के उन सामान्य भावों के चित्रण में बड़ी ही उदारता तथा सहानुभूति का परिचय दिया गया है जिनका देश और जाति की संकीर्णताओं से कुछ भी संबंध नहीं। प्राकृतिक दृश्यों का वर्णन करते हुए कवि की तन्मयता इतनी बढ़ जाती है कि वह अखिल दृश्य जगत् को एक निरंजन ज्योति से आभासित पाता और आनंदातिरेक के कारण उसके साथ तादात्म्य का अनुभव करता है। जायसी के उपरांत उसमान, शेख नबी, नूरमुहम्मद आदि अनेक प्रेमगाथाकार हुए पर पद्मावत का सा विशद काव्य फिर नहीं लिखा गया। सगुणोपासक तुलसी, सूर आदि भक्त कवियों के आविर्भाव से प्रेमगाथाकारों की शक्ति बहुत कुछ क्षीण पड़ गई थी।

उपर्युक्त प्रेमगाथाओं में बहुत सी बातें मिलती जुलती हैं। एक तो इनकी रचना भारतीय चरितकाव्यों की सर्गबद्ध शैली में न होकर फारसी की मसनवियों के ढंग पर हुई है। जिस प्रकार फारसी की मसनवियों में ईश्वरवंदना, मुहम्मद साहब की स्तुति, तत्कालीन राजा की प्रशंसा आदि कथारंभ के पहले होते थे, उसी प्रकार इनमें भी हैं। प्रेमगाथाओं की भाषा भी प्रायः एक सी है। यह भाषा अवध प्रांत की है। इन प्रेम की पीर के कवियों का प्रधान केंद्र अवध की भूमि ही थी। छंदों के प्रयोग में भी इस समुदाय के कवियों में समानता पाई जाती है। सबने प्रायः दोहों और चौपाइयों में ही ग्रंथरचना की है। ये छंद अवधी भाषा के इतने उपयुक्त हैं कि महाकवि तुलसीदास ने भी अपने प्रसिद्ध रामचरितमानस में इन्हीं छंदों का प्रयोग किया है। चौपाई छंद तो मानो अवधी भाषा के लिये ही बनाया गया हो, क्योंकि ब्रजभाषा के कवियों ने इस छंद का सफलतापूर्वक उपयोग कभी किया ही नहीं। समता की अंतिम बात यह है कि प्रेमगाथाकार सभी कवि

मुसलमान थे। एक तो यह संप्रदाय ही मुसलमानों के सूफी मत को लेकर खड़ा हुआ था, दूसरे हिंदू कवियों में उसी समय के लगभग सगुणोपासना चल पड़ी और वे व्यक्त के भीतर अव्यक्त का रहस्यमय साक्षात्कार करने की अपेक्षा व्यक्त को ही सब कुछ मानने और अवतार-रूप में राम और कृष्ण की जीवनगाथा अंकित करने में प्रवृत्त हुए। मुसलमान प्रारंभ से ही मूर्तिद्वेषी थे अतः उन्हें सूफियों की शैली के प्रचार का विशेष सुभीता था।

प्रेममार्गी सूफी कवियों ने प्रेम का चित्रण जिस रूप में किया है, उसमें विदेशीयता ही नहीं है, प्रत्युत भारतीय शैलियों का भी प्रभाव है। एक तो इस देश की रीति के अनुसार नायक उतना प्रेमोन्मुख नहीं होता जितनी नायिका होती है, परंतु जायसी आदि ने फारस की शैली का अनुसरण करते हुए नायक को अधिक प्रेमी तथा प्रेमपात्र की प्राप्ति के लिये प्रयत्नशील दिखाया है। वास्तव में इन कवियों का प्रेम ईश्वरोन्मुख था। सूफी अपने प्रियतम ईश्वर की कल्पना स्त्री के रूप में करते थे। इसलिये जायसी आदि को भी नायक के प्रेम को प्रधानता देनी पड़ी। परंतु भारतीय शैली के अनुसार असंख्य गोपिकाएँ कृष्ण के प्रेम में लीन, उनके विरह में व्याकुल और उनकी प्राप्ति में प्रयत्नशील रहती हैं। वास्तव में यह प्रेम भी अपने शुद्ध रूप में ईश्वरोन्मुख है; क्योंकि भारतीय दृष्टि में कृष्ण भगवान् पूरी कलाओं के अवतार, जगदुद्धारक, योगीश्वर आदि माने जाते हैं—उनके प्रति गोपिकाओं का प्रेम, पुरुष के प्रति प्रकृति का प्रेम समझा जाता है। सूफी कवियों पर इस भारतीय शैली का प्रभाव पड़ा था और उन्होंने प्रारंभ में नायक को प्रियतमा की प्राप्ति के लिये अत्यधिक प्रयत्नशील दिखाकर ही संतोष नहीं कर लिया, वरन् उपसंहार में नायिका (प्रियतमा) के प्रेमोत्कर्ष को भी दिखाया। दूसरी बात यह भी है कि इस देश में प्रेम की कल्पना अधिकतर लोकव्यवहार के भीतर ही की जाती है और कर्तव्यबुद्धि से उच्छृंखल प्रेम का नियंत्रण किया जाता है। राम और सीता का प्रेम ऐसा ही है। कृष्ण और गोपिकाओं के प्रेम में ऐकांतिकता आ गई है, परंतु सूफियों के प्रेम की तरह वह भी बिलकुल लोकबाह्य नहीं है। भारतीय सूफी कवियों ने इस देश की प्रेमपरंपरा का तिरस्कार नहीं किया, उनका प्रेम बहुत कुछ लोकव्यवहार के परे है, पर फिर भी असंयत नहीं। जायसी ने तो पद्मावत में नायिका के सतीत्व तथा उत्कट पतिप्रेम आदि का दृश्य दिखाकर अपने भारतीय होने का पूरा परिचय दिया है। इन दो मुख्य बातों के अतिरिक्त

सूफियों की भारतीयता

प्रेमवर्णनों में अश्लील दृश्यों को भरसक बचाकर, प्रकृति के सुरम्य रूपों को चित्रित कर यहाँ के प्रेममार्गी कवियों ने अपने काव्यों को भारतीय जल-वायु के बहुत कुछ अनुकूल कर दिया है।

सूफी सिद्धांत के अनुसार अंत में आत्मा परमात्मा में मिल जाता है। इसी लिये उनकी कथाओं का अंत या समाप्ति दुःखांत हुई है। आरंभ में तो यह बात बनी रही, पर आगे चलकर इस संप्रदाय के कवि यह बात भूल गए; अथवा भारतीय पद्धति का, जो आदर्शवादी थी और जिसके अनुसार दुःखांत नाटक तक नहीं बने, उन पर इतना अधिक प्रभाव पड़ा कि उन्होंने नायक और नायिका को भोग-विलास और सुख-चैन में रखकर ही अपने ग्रंथ की समाप्ति की है।

सूफी कवियों का प्रेम ईश्वरोन्मुख था। उन्होंने अपने प्रेमप्रबंधों में यद्यपि लौकिक कथा ही कही है परंतु वह लौकिक कथा उनकी हृदयानुभूति के व्यक्त करने का साधन मात्र है। उस

प्रस्तुत में अप्रस्तुत

कथा से उनका संबंध बहुत घनिष्ठ नहीं है, वहीं तक है जहाँ तक वह उनके ईश्वरोन्मुख प्रेम के अभिव्यंजन में समर्थ होती है। सूफियों का प्रेम ईश्वर के प्रति होता है; परंतु ईश्वर तो निराकार है, निर्गुण है, अतः अवर्णनीय है। हाँ, उसका आभास देने के लिये लौकिक कथाओं की सहायता लेनी पड़ी है। पद्मावत की ही कथा को ले लीजिए। उसमें यद्यपि चित्तौड़ के अधिपति रत्नसेन और सिंहलद्वीप की राजकन्या पद्मावती की कथा कही गई है, परंतु जायसी ने एक स्थान पर स्पष्ट कह दिया है कि उनकी यह कथा तो रूपक मात्र है, वास्तव में वे उस ईश्वरीय प्रेम की अभिव्यक्ति कर रहे हैं जो प्रत्येक साधक के हृदय में उत्पन्न होती है और उसे ईश्वर-प्राप्ति की ओर प्रवृत्त करती है। यही नहीं, जायसी ने तो अपने रूपक को और भी खोल दिया है और अपनी कथा के विविध प्रसंगों तथा पात्रों को ईश्वर-प्रेम के विविध अवयवों का व्यंजक बतलाया है। इस प्रकार उनकी पूरी कथा एक महान् अन्योक्ति ठहरती है। सभी प्रत्यक्ष वर्णन अप्रत्यक्ष की ओर संकेत करते हैं, कवि की दृष्टि से स्वतः उनका विशेष महत्त्व नहीं। यह ठीक है कि कवि की दृष्टि ही समीक्षक की भी दृष्टि नहीं होती, अतः साहित्य-समीक्षक सारे वर्णनों को अप्रस्तुत न मानकर बीच बीच में अप्रस्तुत की ओर संकेत मात्र मानते हैं, परंतु संत सूफियों का ठीक आशय समझने में हम भूल नहीं कर सकते। रत्नसेन और पद्मावती के लौकिक रूप से उनका उतना संबंध नहीं था जितना अपने पारमार्थिक प्रेम से था। कथा-प्रसंगों में, बीच बीच में, प्रेमी के कष्ट और त्याग आदि के वर्णन

मिलते हैं, और अव्यक्त से विशाल प्रकृति के विरह तथा मिलन का ऐसा मर्मस्पर्शी चित्रण मिलता है कि हमारी दृष्टि लौकिक सीमा से ऊँचे उठकर उस ओर जाती देख पड़ती है जिस ओर ले जाना प्रेममार्गी संत कवियों का लक्ष्य था।

यद्यपि प्रेममार्गी कवियों का उद्देश एक लौकिक कथा के आवरण में अलौकिक प्रेम प्रकट करना था परंतु इस उद्देश की प्रधानता देखते हुए भी हम उन कथाओं को कहीं उखड़ी हुई या अनियमित नहीं पाते। प्रायः ऐसा देखा जाता है कि जब कथा कहने के उद्देश से भिन्न किसी अन्य उद्देश से प्रबंधरचना की जाती है, तब वह प्रबंध आवश्यकतानुसार घुमा फिराकर बनाया जाता अथवा तोड़ मरोड़कर बिगाड़ा जाता है। हिंदी के कवि केशवदास इसके प्रमुख उदाहरण हैं। उनकी रामचंद्रिका यद्यपि रामायण की कथा को ही लेकर चलती है परंतु उसमें प्रबंध की वह एकता नहीं है जो राम की जीवनी में थी। रामचंद्रिका के विविध पात्र जब जो इच्छा होती है कहते हैं; न तो चरित्र-चित्रण की ओर ध्यान दिया जाता है और न कथा की रचना की ओर। उसमें तो कभी राम कौशल्या को पातिव्रत्य आदि की शिक्षा देते हैं, कभी पंचवटी वनधूर्जटी के गुण धारण करती और कभी प्रकृति के रमणीय दृश्य प्रलयकाल की भाँति भयानक देख पड़ते हैं। केशवदास का उद्देश रामायण की कथा लिखना नहीं था, अपने पांडित्य का प्रदर्शन करना था; इसी लिये जो कथा रामचरितमानस में आकर एक सर्वोत्तम प्रबंध के रूप में बन गई है वही रामचंद्रिका में पड़कर पूर्वापर-संबंध-रहित फुटकर पद्यों का संग्रह मात्र रह गई है। प्रेमगाथाकारों की भी यद्यपि केशवदास की सी परिस्थिति थी, उन्हें भी कथा के बहाने आध्यात्मिक तत्त्व के निरूपण की चिंता थी, परंतु केशव की भाँति उन्होंने कथा का अंग-भंग कर अपनी 'हृदय-हीनता' का परिचय नहीं दिया है, वरन् बड़ी ही सरस संघटित कथाओं का सृजन किया है और उनके निर्वाह का समुचित ध्यान रखा है। उनकी यह विशेषता प्रशंसनीय है। ऐतिहासिक कथाओं में काल्पनिकता का पुट देकर यद्यपि इतिहास की दृष्टि से इन कवियों ने कुछ अन्याय किया है परंतु साहित्यिक दृष्टि से उन्हें इसके लिये भी साधुवाद ही मिलना चाहिए; क्योंकि ऐसा करके कथा में रोचकता और रमणीयता ही लाई गई है जो साहित्य के लिये गौरव की बात है।

सूफी प्रेममार्गी कवियों के ग्रंथ अधिकतर प्रबंधशैली में ही लिखे गए थे अतः उनमें कथानक की रमणीयता तथा संबंध-निर्वाह की ओर

ध्यान दिया गया था। साथ ही हमको यह भी देखना होगा कि उन कथाओं के बीच बीच में दी हुई वस्तुवर्णना कैसी है और प्रसंगानुकूल भावों का व्यंजन कैसा है। वस्तुवर्णन की दो मुख्य शैलियाँ हो सकती हैं। एक में तो कवि अत्यंत साधारण रूप से वस्तु का उल्लेख कर देता है और आगे अपनी कथा कह चलता है, दूसरी में वह सूक्ष्मता से वस्तुओं का चित्रण करता है और उनका एक चित्र सा खड़ा कर देता है। पहली शैली में घटनाओं को प्रधानता दी जाती है और वस्तुओं का वर्णन गौण स्थान पाता है, दूसरी में वस्तुवर्णन अपना अलग अस्तित्व रखता और स्वतंत्र रीति से काव्यत्व का अधिकारी होता है। दोनों ही अपना अपना महत्त्व रखती हैं। पहली में कवि वस्तुवर्णन की ओर अधिक ध्यान न देकर घटनाओं को अधिक मर्मस्पर्शी बनाता है और पाठक भी अधिक तन्मयता से कथा सुनता है, दूसरी में कवि का काव्यचमत्कार अधिक परिलक्षित होता है और पाठक का ध्यान वर्णित वस्तुएँ भी उतना ही खींचती हैं जितना वर्णित घटनाएँ। प्रबंधकाव्यों में कुछ महान् घटनाओं का होना आवश्यक होता है, अतः उन्हें यथासंभव मर्मस्पर्शी बनाकर पाठकों का ध्यान उन्हीं की ओर खींचना जिन कवियों को अभीष्ट होता है, वे अपनी सारी शक्ति उसी ओर लगाते हैं; और कथाप्रसंग में आई हुई प्रत्येक वस्तु का स्वरूप प्रत्यक्ष करने की उतनी अभिलाषा नहीं रखते। साथ ही जिन कवियों को पद पद पर सरलता और काव्यत्व लाने का ध्यान रहता है, वे बड़ी ही सूक्ष्म दृष्टि से सृष्टि की सभी वस्तुओं का निरीक्षण करते और अपने ग्रंथों में उनका संश्लिष्ट चित्रण करते हैं। अवश्य ही ऐसा करने से उनके ग्रंथ रमणीय हो जाते हैं; पर प्रबंधकाव्य के अनुकूल जीवन की गंभीर समस्याओं से पाठकों का ध्यान बँटकर वर्णित वस्तुओं की ओर चला जाता है, जो अनेक कवियों को अभीष्ट नहीं होता। प्रेममार्गी कवियों का वस्तुवर्णन विशेष आकर्षक नहीं बन सका। उन्हें तो कथा के भीतर से किसी अन्य ही सत्य की व्यंजना करनी थी; अतः वस्तुएँ ही नहीं, सारा कथानक ही उनके लिये उसी सीमा तक महत्त्व रखता था जहाँ तक उनके उस सत्य के अभिव्यंजन में वह सहायक या उपयोगी होता। ऐसी अवस्था में उनसे रमणीय वस्तुवर्णन की आशा भी नहीं रखी जा सकती। हाँ, जहाँ कथा-प्रसंग के बीच में प्रेम के त्याग, कष्ट अथवा ईश्वरीय विरह-मिलन आदि के संकेत हैं, वहाँ वस्तुओं का वर्णन भी विशेष रोचक कर दिया गया है।

वस्तुवर्णन और भावव्यंजन

दूसरी बात भाव-व्यंजना की है। भारतीय काव्य-समीक्षा में रति, शोक, उत्साह, क्रोध आदि नौ स्थायी भाव माने गए हैं तथा इन्हें पुष्ट करनेवाले असूया, गर्व, व्रीड़ा आदि कई संचारी भावों की कल्पना की गई है। कवि की दृष्टि जितनी ही व्यापक होगी वह उतने ही अधिक विस्तृत तथा उत्कर्षपूर्ण ढंग से भावों की व्यंजना करेगा। किन प्रसंगों में कैसे भावों की कितनी तीव्रता दिखानी चाहिए, इसका ध्यान भी कवियों को रखना पड़ता है। हिंदी के सूफी कवियों की दृष्टि बड़ी व्यापक और तीव्र है। वे कहीं कहीं बड़े ही सूक्ष्म भावों तक अपनी पहुँच दिखाते हैं। उनके रति तथा शोक आदि के वर्णन अधिक भाव-पूर्ण हुए हैं। जायसी ने युद्धोत्साह की भी अच्छी झलक दिखलाई है। फिर भी हमको यह स्वीकार करना पड़ता है कि जीवन को व्यापक रीति से देखकर विविध भावों का सन्निवेश करने में ये कवि उतने सफल नहीं हुए जितने महाकवि तुलसीदास हुए, और न उनकी अंत-र्दृष्टि उतनी सूक्ष्म है जितनी महात्मा सूरदास की। परंतु इससे उनकी महत्ता कम नहीं होती, क्योंकि तुलसीदास और सूरदास तो हिंदी के दो अन्यतम कवि हैं, इनकी समता न कर सकने में सूफी कवियों के गौरव में कमी नहीं पड़ती। इन दोनों को छोड़कर विचार करने पर प्रेममार्गी कवियों की भाव-व्यंजना हिंदी के अन्य बड़े कवियों की तुलना में उच्च स्थान की अधिकारिणी है।

अलंकार, छंद, भाषा आदि साहित्यिक समीक्षा के प्रश्नों पर हम पीछे विचार करेंगे, पहले प्रेममार्गी कवि-संप्रदाय के मतों और सिद्धांतों को संक्षेप में समझ लेना ठीक होगा। ये कवि मुसलमानों के सूफी मत के माननेवाले थे। सूफी मत का प्रचलन मुहम्मद की मृत्यु के उपरांत दूसरी या तीसरी शताब्दी में हुआ था। इस मत के विकास में अनेक बाहरी प्रभाव सहायक हुए थे जिनमें मुख्य भारतीय अद्वैतवाद था। प्रारंभ में सूफी संप्रदाय सामान्य मुसलमान धर्म की एक शाखा विशेष था जिसमें सरल जीवन व्यतीत करने की प्रवृत्ति थी। पीछे से इसमें चिंतनशीलता बढ़ी और इसके अनुयायी ईश्वर के संबंध में सूक्ष्म तत्त्वों का अनुसंधान करने लगे। मुसलमानों के मत में तो ईश्वर एक है, विश्व का स्रष्टा है और सबका मालिक है। स्रष्टा और मालिक होने में यद्यपि शारीरिकता का बोध होता है, पर मुसलमानों के खुदा बराबर निराकार ही बने रहे। परंतु सूफियों के चिंतन से उनमें एक नए मत का सृजन हुआ। सूफी मुसलमानी एकेश्वरवाद से ऊँचे उठे और जीव तथा जगत् को

मत और सिद्धांत

भी ईश्वर या ब्रह्म ही समझने लगे। आत्मा और परमात्मा का अभेद प्रतिष्ठित हुआ। कट्टर मुसलमानों के मत में यह कुफ्र ठहरा, पर सूफियों का यही मत था। "अनलहक" "अनलहक" कहता हुआ सूफी मंसूर सूली पर चढ़ा था।

प्रारंभ में जब सूफियों के मत का प्रचार हुआ था तब उन्हें अनेक प्रकार के अत्याचार सहने पड़े थे। जीव और जगत् को भी ब्रह्म मान लेने के कारण वे प्रकृति के अणु अणु में उसी चेतन सत्ता का साक्षात्कार करते और भाव-मग्न होते थे। मुसलमानों के खुदा तो विहिश्त के निवासी, मनुष्यों के निर्माता और नाशकर्ता होते हुए भी निराकार निर्लेप बने रहे, पर सूफियों के नवीन संप्रदाय में प्रेम की इतनी प्रधानता हुई कि सृष्टि के रोम रोम में उन्हें आनंद की झलक देख पड़ने लगी। जब सर्वत्र ब्रह्म है, तब बुत में भी ब्रह्म का होना अनिवार्य है, अतः सूफियों को हुस्ने-बुतां के पर्दे में "वही" देख पड़ने लगा। यद्यपि खुदावाद की निराकार भावना सूफियों में बनी रही पर उनमें अत्यधिक सरसता और उदारता आदि वृत्तियाँ फैलीं और कट्टरपन का तो एकदम अंत हो गया।

नवोत्थित सूफी संप्रदाय में भारतीय अद्वैतवाद की गहरी छाप देख पड़ी। यह सूफी मत भारत में पहले पहल सिंध प्रांत में फैला, फिर देश के अन्य भागों में भी इसका प्रचार हुआ। थोड़े समय के उपरांत जब इस देश में वैष्णव धर्म की लहर चली, तब सूफियों पर उसका बड़ा प्रभाव पड़ा। प्रेमपूर्ण वैष्णव धर्म शाक्तों और शैवों के विरुद्ध उठ खड़ा हुआ था और उसने अहिंसा आदि पर विशेष जोर डाला था। "हरि को भजे सो हरि को होई" के आधार पर मनुष्य मनुष्य का साम्य स्थापित हुआ था और यही साम्य अधिक विस्तृत होकर पशुओं पक्षियों पर दया दिखाने, उनका वध न करने आदि रूपों में भी फैला था। सूफियों ने वैष्णव धर्म की यह शिक्षा ग्रहण की थी और वे भी अहिंसावादी बन गए थे।

उपनिषदों के अन्य अनेकवादों को भी सूफियों ने ग्रहण किया था। प्रतिबिंबवाद के अनुसार नाम-रूपात्मक जगत् ब्रह्म का प्रतिबिंब है। ब्रह्म बिंब है और जगत् उसका प्रतिबिंब। जायसी ने पदमावत में कई स्थानों पर प्रतिबिंबवाद से अपना मत-साम्य दिखलाया है। सृष्टि की उत्पत्ति के संबंध में यद्यपि प्रधानता मुसलमानी मतों को ही दी गई है, परंतु भारतीय शैली का भी बीच बीच में सम्मिश्रण हुआ है। भारतीय पंचभूतों के स्थान पर सूफियों को चार ही भूत मान्य थे। आकाश की

रमणीय दृश्य दिखाई पड़ते हैं, कभी जब इसका उसके साथ संयोग होता है, तब सारी प्रकृति मानों आनंदोल्लास से नाच उठती है। इस प्रकार प्रकृति की ही सहायता से जायसी का रहस्यवाद व्यक्त हुआ है। इसके विपरीत कबीर ने वेदांत के अनेक वादों तथा अन्य दार्शनिक शैलियों का अनुसरण करते हुए रहस्योद्गार व्यक्त किए हैं। कविता की दृष्टि से कबीर का रहस्यवाद ओज और प्रकाशपूर्ण है और सूफियों का माधुर्य और रसपूर्ण है। कबीर एक मात्र निर्गुणोपासक हैं और सूफी अव्यक्त के प्रेममूलक उपासक हैं। प्रेम से अव्यक्त को व्यक्त रूप में प्रकट करते हैं।

छंद और अलंकार

छंदों और अलंकारों के संबंध में संक्षेप में इतना कहा जा सकता है कि सभी सूफी कवियों के छंद अधिकतर दोहे और चौपाई तक ही सीमित रहे और अलंकार कहीं भी भार या आडंबर नहीं बन बैठे। इन दोनों ही बातों से इन कवियों की सरलता का पता चलता है और यह आभास भी मिलता है कि उन्हें भावों और विचारों को व्यक्त करने का सबसे अधिक ध्यान था और छंद अलंकार आदि भावों के उत्कर्ष में सहायक मात्र समझे गए थे, इससे अधिक उनका महत्त्व न था। प्रबंधकाव्य में विभिन्न छंदों का आधिक्य उचित होता है या नहीं, इस संबंध में मतभेद हो सकता है। संस्कृत के काव्यों में अनेक प्रकार के छंद व्यवहृत हुए हैं। कालिदास के रघुवंश, कुमारसंभव आदि काव्य इसके उदाहरण हैं। हिंदी में एक ओर केशवदास हैं जिनकी रामचंद्रिका बहुविध छंदों का आगार है और दूसरी ओर तुलसीदास का 'रामचरितमानस' है जिसमें दोहे और चौपाइयों के अतिरिक्त अन्य छंद बहुत थोड़ी संख्या में आए हैं। यदि रामचंद्रिका और रामचरितमानस में, किसी को छंदों की सुघरता और संगीतात्मक की दृष्टि से प्रधानता देनी हो तो हम रामचरितमानस को ही चुनेंगे। छंद एक सा रहने से पाठक को रसस्रोत में बहने की एक अगाध धारा सी मिल जाती है। यद्यपि कभी कभी उस धारा से निकलने के लिये जी उत्सुक होता है, कभी कभी जी ऊब भी जाता है, पर पद पद पर नए नए छंदों के प्रवाह में टकराते हुए बहना तो किसी को कदाचित् ही पसंद हो। जहाँ भावधारा एक ही गति से बह रही है वहाँ नवीन छंदों का प्रयोग तो विक्षेप ही करता है। फिर सब कवि संगीत विद्या के विशारद नहीं होते। वे प्रायः मनमाने छंदों का प्रयोग कर देते हैं और भावानुकूलता का विचार नहीं रखते। इस दृष्टि से सूफी कवियों ने केवल दोहे और चौपाई को चुनकर यद्यपि पाठकों के ऊबने की जगह रख छोड़ी है, फिर भी हमारी सम्मति में इसके लिये उन्हें दोषी ठहराना

उचित न होगा। चौपाइयों के अंत में ह्रस्व तथा दीर्घ दोनों का समावेश करके तथा दोहों में यति को विभिन्न स्थानों में रखकर मनोविनोद का साधन उपस्थित किया गया है। इसके अतिरिक्त छंदों की एकरूपता भावों की प्रचुरता के सामने बहुत कुछ दब जाती है।

एक और बात यहाँ जान लेना आवश्यक है। चौपाई में, जैसा कि उसके नाम से ही विदित होता है, चार पद होने चाहिएँ। पर इन मुसलमान कवियों ने उसे दो ही पदों का माना है क्योंकि प्रत्येक दोहे के बीच में जितनी चौपाइयाँ आई हैं, उनकी संख्या सम नहीं है। कहीं छः द्विपदियों पर, कहीं सात द्विपदियों पर और कहीं आठ द्विपदियों पर दोहे दिए गए हैं। तुलसीदासजी ने अपने रामचरितमानस में इन द्विपदियों की संख्या भी सब स्थानों पर एक सी नहीं रखी है।

अलंकारों में अर्थवाले प्रधान हैं, शब्दवाले अप्रधान। प्रेममार्गी कवियों ने शब्दालंकारों पर बहुत ही कम ध्यान दिया है—प्रायः कुछ भी नहीं। उनकी यह निरपेक्षता खटकने की सीमा तक पहुँच जाती है। परंतु इसकी कमी अर्थालंकारों में पूरी करने की चेष्टा की गई है जो सफल भी हुई है। इन कवियों ने सादृश्यमूलक उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों का अधिक प्रयोग किया है। जायसी को हेतूत्प्रेक्षा सबसे अधिक प्रिय है। हेतूत्प्रेक्षा की सहायता से वे अपनी साधारण अनुभूतियों को व्यक्त करने में, अथवा उनकी ओर संकेत करने में सफल हुए हैं। कहीं कहीं अलंकारों का ऐसा सम्मिश्रण भी किया गया है जिससे उन कवियों में सूक्ष्म शास्त्रीय अभिज्ञता का अभाव लक्षित होता है पर अधिकांश स्थलों में सुंदर अलंकार आए हैं। शब्द की लाक्षणिक शक्ति का प्रचुर उपयोग भी मिलता है। इन कवियों के प्रायः सब काव्य व्यंजना से युक्त हैं। उनकी व्यंजना परमार्थ तत्त्व की ओर है, और कहीं कहीं काव्य-धारा में आई हुई समासोक्तियाँ वास्तव में अनुपम हुई हैं। सारांश यह कि अर्थालंकार प्रायः प्रसंगानुकूल और उपयोगी हैं, केशव तथा अन्य श्रृंगारी कवियों की भाँति भरती के नहीं।

सूफी कवियों की भाषा अवध की हिंदी है। हिंदी के वीरगाथा काल में कविता का क्षेत्र राजपूताने का पश्चिमी प्रांत तथा दिल्ली के आसपास की भूमि था, अतएव उस काल की रचनाओं में वहीं की भाषा का अधिक प्रयोग हुआ।

भाषा

यह भाषा शौरसेनी प्राकृत तथा नागर अपभ्रंश से निकलकर उसी समय हिंदी में आई थी; अतः तब तक वह बहुत कुछ उखड़ी हुई, असंयत और भद्दी थी। व्याकरण के नियमों का अनुशासन तो दूर रहा, उसमें विल-

कुल बेठिकाने की उत्पत्ति के अनेक शब्दों का अनेक रूपों में प्रयोग हुआ है। भाषा की प्रारंभिक अवस्था में ऐसा होना स्वाभाविक भी है। धीरे धीरे उस भाषा का विकास होने लगा। हिंदी में वीरगाथा काल के उपरांत जब वैष्णव आंदोलन की लहर चली और कबीर आदि संतों का आविर्भाव हुआ, तब हिंदी कविता का क्षेत्र राजपूताने आदि से हट-कर पूर्व की ओर आया। कबीर की भाषा में पंजाबीपन तो है, पर उसमें अवधी क्रियाओं के रूप तथा बिहारी प्रयोग भी कम नहीं हैं। इससे यह न समझना चाहिए कि कबीर के द्वारा भाषा का भद्दापन दूर हुआ हो। हाँ, विकासक्रम के अनुसार वीरगाथाओं की भाषा से कबीर की भाषा कुछ नियमित अवश्य है। भाषा का जैसा सुंदर सुधार सूफी कवियों ने किया वैसा हिंदी में पहले कभी नहीं हुआ था। सूफियों की भाषा अवध की थी, जिसकी उत्पत्ति अर्धमागधी से मानी जाती है। जायसी आदि ने उसे परिमार्जित कर अत्यंत शुद्ध बना दिया और उसमें व्याकरण-विरुद्ध प्रयोगों को न आने दिया। यद्यपि कहीं कहीं अरबी फारसी के शब्द भी आए हैं और कहीं कहीं अवधी तोड़ी मरोड़ी भी गई है परंतु अधिकांश कवियों ने यथासंभव शुद्ध अवधी का ही प्रयोग किया है। अवधी का यह माधुर्य लोकभाषा का माधुर्य है, संस्कृत का नहीं। तुलसीदास के रामचरितमानस में जो भाषा है उसमें संस्कृत की प्रचुरता के कारण एक नवीन सौंदर्य आ गया है जो ठेठ अवधी के सौंदर्य से भिन्न है। हम कह सकते हैं कि सूफी कवियों की अवधी बोलचाल की परिमार्जित भाषा थी, तुलसीदासजी की अवधी ने साहि-त्यिक रूप धारण किया, एक का दूसरे के अनंतर विकास सर्वथा स्वाभाविक था। सूफी संप्रदाय के कुछ विशिष्ट कवियों का संक्षिप्त परिचय नीचे दिया जाता है।

कुतबन

ये विक्रम की सोलहवीं शताब्दी के मध्यभाग में शेरशाह के पिता हुसैनशाह के आश्रय में रहते थे। चिश्ती वंश के प्रसिद्ध शेख बुरहान इनके गुरु थे। हिंदी के सूफी कवियों में ये ही सबसे पहले हुए और इनकी रचित "मृगावती" का नामोल्लेख जायसी ने अपने पद्मावत में किया है। मृगावती पुस्तक में गणपतिदेव के पुत्र और मृगावती की प्रेमगाथा अंकित की गई है। गणपतिदेव चंद्रनगर के राजा हैं और मृगावती कंचनपुर की राजकन्या है। चंद्रनगर का राजकुमार कंचनपुर की राजकुमारी को देखकर मोहित हो गया पर राजकुमारी उड़ने की विद्या जानती थी, इससे वह राजकुमार को मिल न सकी। अनेक कष्ट उठाने पर अंत में मृगावती

से उसकी भेंट हुई। इसी बीच में उसने रुक्मिनी नामक एक सुंदरी को राक्षस के हाथ से बचाकर अपनी प्रेमिका बना लिया था। मृगावती और रुक्मिनी दोनों उसकी रानियाँ हुईं। एक दिन वह हाथी से गिरकर मर गया। मरने पर दोनों रानियों के सती होने का मर्मस्पर्शी चित्र दिखाया गया है। कुतबन की यह गाथा काल्पनिक है। इसके बीच बीच में प्रेम-मार्ग की कठिनाई का भीषण चित्र है और अनेक रहस्यात्मक स्थल हैं।

इनकी मधुमालती नामक प्रेमगाथा का उल्लेख भी पद्मावत में किया गया है। मधुमालती की कथा मृगावती की अपेक्षा अधिक रोचक है और इसके वर्णन भी अधिक विशद हैं। प्रकृति के अनेक सुंदर दृश्यों का इसमें वर्णन मिलता है।

मंझन

प्रेममार्गी सूफियों में ये ही सर्वप्रधान हुए। इनका रचनाकाल शेरशाह के राजत्वकाल में सोलहवीं शताब्दी का अंतिम भाग था। पद्मावत और अखरावट इनके रचे दो ग्रंथ मिले हैं जिनमें पद्मावत प्रधान है। हाल में उनकी 'आखिरी कलाम' नाम की रचना खोज में मिली है। पद्मावत की कथा में ऐतिहासिकता और काल्पनिकता का अच्छा समन्वय हुआ है। अखरावट में अक्षरक्रम से सूफी सिद्धांतों और ईश्वर तथा जगत् विषयक व्यवहारों का निरूपण है। 'आखिरी कलाम' में जायसी ने मुसलमानी मजहब की मान्यताओं का निर्देश किया है और इसमें मजहबी कट्टरता का भी पुट है।

मलिक मुहम्मद जायसी

मलिक मुहम्मद अवध प्रांत के जायस कसबे के रहनेवाले थे। इनके गुरु प्रसिद्ध सूफी फकीर शेख मोहदी थे। अनेक पंडितों और साधुओं का इन्होंने सत्संग किया था और बड़ी जानकारी प्राप्त की थी। वेद, पुराण, कुरान आदि प्रसिद्ध धर्म-ग्रंथों की अनेक बातें इन्हें साधु-संगति से ही मालूम हुई थीं क्योंकि ये बहु-पठित न थे। इनका भ्रमण भी बड़ा विस्तृत रहा होगा; क्योंकि पद्मावत में देश भर के भिन्न भिन्न स्थलों की भौगोलिक स्थिति का जो उल्लेख है, वह बहुत कुछ ठीक है।

पद्मावत में प्रेम-मार्ग की जो मर्मस्पर्शिणी कथा है वह स्वर्गीय प्रेम की अत्यंत व्यापक भावना से समन्वित है। क्या कथा के निर्वाह का ढंग, क्या प्रसंगानुकूल भावों की व्यंजना और क्या वर्णनों की उपयुक्तता, सभी प्रशंसनीय हैं। प्रकृति के नाना दृश्यों के द्वारा अज्ञात के प्रति जो संकेत हैं, वे जायसी की उच्च अनुभूति के परिचायक हैं।

अखरावट में जायसी के प्रेमसंबंधी तथा अन्य सिद्धांतों का संग्रह है इन प्रसिद्ध कवि की मृत्यु-तिथि का ठीक ठीक पता नहीं लगता।

मलिक मुहम्मद ने अपने पूर्व के जिन उपाख्यानों के नाम दिए हैं उनके अनुसार इनके निर्माण का क्रम यह होता है—सपनावती, मुगधावती, मृगावती, मधुमालती, प्रेमावती। इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि मृगावती के पहले सपनावती और मुगधावती नाम के दो काव्य रचे गए थे और मधुमालती के अनंतर प्रेमावती की रचना हुई होगी। इसके अनंतर पद्मावत की रचना हुई। इनमें से केवल मृगावती और मधुमालती का पता चला है पर खेद का विषय है कि मृगावती की प्रति अब प्राप्य नहीं है और मधुमालती खंडित मिली है।

जायसी के कुछ काल उपरांत जब तुलसीदास का आविर्भाव हुआ तब सूफियों की कविता क्षीण हो चली। हिंदुओं की सगुण भक्ति के प्रवाह में सूफियों की निर्गुण भक्ति स्थिर न रह सकी। उसमान जहाँगीर के समकालीन कवि थे। ये शाह निज़ामुद्दीन चिश्ती की शिष्यपरंपरा में थे, हाजी बाबा इनके गुरु थे। संवत् १६७० में इनका चित्रावली नामक काव्य लिखा गया। सभी प्रेमगाथाओं की भाँति इसमें भी पैगंबर, गुरु आदि की वंदना है और बादशाह जहाँगीर को भी स्मरण किया गया है।

उसमान

चित्रावली में जायसी के पद्मावत का अत्यधिक अनुकरण किया गया है, अंतर इतना ही है कि उसकी कहानी बिलकुल काल्पनिक है और जायसी की कहानी का कुछ ऐतिहासिक आधार है। कवि ने चित्रावली में अँगरेजों के देश का भी एक स्थान पर नाम लिया है जिससे पता चलता है कि उस समय अँगरेज यहाँ आ गए थे और उसमान को इसका पता था।

जायसी की ही भाँति इन्होंने भी ग्रंथ में नगर, यात्रा, षड्ऋतु आदि का वर्णन किया है और ईश्वर की प्राप्ति की साधना की ओर संकेत किया है। फिर भी पद्मावत की सी विशद वर्णना इसमें कम ही मिलती है, उसके अनुकरण की छाप इसमें देख पड़ती है।

उसमान के उपरांत शेख नबी हुए परंतु इनके उपरांत प्रेममार्गी कवि-संप्रदाय प्रायः निर्जीव सा हो गया। यद्यपि कासिमशाह, नूरमुहम्मद, फाजिलशाह आदि कवि होते रहे, पर उनकी रचनाओं में इस संप्रदाय का ह्रास साफ बोलता सा जान पड़ता है। हाँ, नूरमुहम्मद की "इंद्रावती" की प्रेमकहानी अवश्य सुंदर बन पड़ी है। यह संवत् १८०१ में लिखी गई थी।

क्या भावों के विचार से और क्या भाषा के विचार से सूफी कवियों ने हिंदी को पहले से बहुत आगे बढ़ाया। वीरगाथा काल में

केवल वीरोल्लासपूर्ण कविता का सृजन हुआ, वह भी परिणाम में अधिक नहीं। उस काल की भाषा तो बिलकुल अविकसित थी। अक्खड़ कवियों के हाथ में पड़कर वह और भी भोंड़ी बन गई। उसके उपरांत कबीर का समय आया। कबीर

उपसंहार

महात्मा थे और उनके द्वारा साहित्य में पूत भावनाओं का समावेश हुआ। किंतु कबीर की भाषा तो बहुत ही बिगड़ी हुई है। कुछ पंजाबी खड़ी बोली, कुछ ब्रजभाषा और कुछ अवधी का पुट देकर जो खिचड़ी तैयार हुई वह रमते साधुओं के काम की भले ही हो, सर्वसाधारण विशेषकर परिमार्जित रुचि रखनेवालों के लिये उसमें बड़ी कमी थी। सूफी कवियों ने अपने उदार भावों को पुष्ट भाषा में व्यक्त करके दोनों ही क्षेत्रों में अपनी सफलता का परिचय दिया। कबीर आदि संतों की बानी सामूहिक रूप से देश के लिये बड़ी हितकारिणी सिद्ध हुई, परंतु सूफियों की प्रबंध-रचनाओं ने सामाजिक हित भी किया और साहित्यिक समृद्धि में भी सहायता दी। यह ठीक है कि सूर और तुलसी आदि के प्रवेश करते ही प्रेममार्गी कवि बहुत कुछ स्थानांतरित हो गए और हिंदी भी अत्यधिक समृद्ध हुई पर इतना कहना ही पड़ेगा कि तुलसी को एक मार्जित भाषा देकर रामचरितमानस की रचना में सहायक होने में जायसी आदि सूफियों को श्रेय देना ही होगा। हिंदू सभ्यता और संस्कृति के प्रति सहानुभूति इन मुसलमान कवियों की खास विशेषता है। इनका हृदय अतिशय उदार और स्वर्गीय प्रेम की पीर से ओतप्रोत था। सबसे बड़ी वस्तु इनका कवितागत रहस्यवाद है जो हिंदी में अपनी विशेषता रखता है।

इन मुसलमान सूफी कवियों की देखा देखी हिंदू कवियों ने भी उपाख्यान-काव्यों की रचना की। किंतु इन सब काव्यों का ढंग या तो पौराणिक, ऐतिहासिक अथवा पूर्णतया साहित्यिक हुआ। सूफी कवियों की रचनाओं में धर्म की जो लहर अदृश्य रूप से व्याप्त हो रही है, उसका हिंदू कवियों की इन रचनाओं में अभाव है। ऐसे काव्यों में लक्ष्मणसेन पद्मावती कथा, ढोलामारू री चउपही, रसरतन काव्य, कनकमंजरी, कामरूप की कथा, चंद्रकला, प्रेमपयोनिधि, हरिचंद पुराण, आदि हैं। इनके संबंध में इतना कह देना आवश्यक है कि इन्हीं उपाख्यानों की परंपरा के परिणाम-स्वरूप उन अमर काव्यों की हिंदी में रचना हुई जिनके कारण हिंदी साहित्य गौरवान्वित और सम्मानित हुआ।

आठवाँ अध्याय

रामभक्ति शाखा

रामभक्ति की उत्पत्ति और विकास

विजयी मुसलिम शक्ति अदम्य उत्साह के साथ इस देश पर अपनी संस्कृति और सभ्यता की छाप डाल चुकी थी। उसका प्रथम वेग बड़ा ही प्रबल था। सामाजिक और धार्मिक क्षेत्रों में ही नहीं, साहित्यिक क्षेत्र में भी उस प्रबल वेग का साक्षात्कार किया जा सकता है। कबीर और जायसी आदि जिन कवि-संप्रदायों के प्रतिनिधि हैं, उनका विवरण हम पहले दे चुके हैं। उनमें मुसलिम विचारों और काव्य-शैलियों का प्रभाव प्रत्यक्ष है। (जायसी तो मुसलिम सूफी संप्रदाय के ही कवि हैं, यद्यपि उन्होंने हिंदुओं के घर की कहानी कही और भारतीय दृश्यों का समावेश किया।)यदि उनके मुख्य मुख्य सिद्धांतों की दृष्टि से देखें तो कह सकते हैं कि वे फारस के ही अधिक उपयुक्त हैं, इस देश के लिये उतने उपयुक्त नहीं। कबीर यद्यपि जन्म से हिंदू थे, और हिंदू पंडितों के मध्य में ही पले थे पर फिर भी उन पर मुसलिम प्रभाव कम नहीं था। यह काल मुसलिम सभ्यता के प्रथम विकास का था। जिस प्रकार वर्षा की पहाड़ी नदी पानी के पहले झोंके में तीव्र गति से तटों को तोड़ती और उमड़ती हुई चलती है, पर शीघ्र ही अपनी सीमा में आकर प्रशमित हो जाती है, उसी प्रकार मुसलमानों का प्रथम उल्लास भी बड़ा ही उद्वेगपूर्ण था पर पीछे जब इस देश की जल-वायु, आचार-विचार और सभ्यता आदि का उन पर प्रभाव पड़ा तब उनमें विचार-शीलता और गंभीरता आई। इसी समय इस देश में भी प्राचीन भक्ति का आधार लेकर नवीन विकास हो रहा था और इस नवीन विकास में तत्कालीन स्थिति ने बड़ी सहायता पहुँचाई।

भक्ति के नवीन विकास के संबंध में हम पहले कह चुके हैं कि यह प्राचीन शास्त्रीय धर्मशैली की सहायता से उत्पन्न हुआ था और इसके समर्थन में हिंदू धर्म के सहस्रों प्राचीन ग्रंथ बहुत बड़ी संख्या में उपस्थित थे। साथ ही हम यह भी कह चुके हैं कि इस नवीन उत्थान में यद्यपि अनेक प्रवर्तकों का हाथ होने से अनेक मत चल पड़े थे, पर विष्णु या नारायण की भक्ति ही अनेक रूपों में प्रचलित थी। अतः उक्त

वैष्णव भक्ति में अनेक शाखा-भेदों के होते हुए भी, सामान्य एकता थी। यहाँ हमारा संबंध वैष्णव भक्ति की शाखा-प्रशाखाओं से उतना ही है, जितना हिंदी साहित्य के विकास में वे सहायक हुई हैं। कबीर और जायसी आदि के प्रसंग में हम वैष्णव भक्ति का प्रभाव दिखा चुके हैं। अब हम हिंदी साहित्य के उस काल में प्रवेश करते हैं जिसमें इस नवीन भक्ति का अधिक से अधिक प्रभाव पड़ा और वह घर घर में व्याप्त हो गई। कुछ तो तत्कालीन मुसलमान शासकों की उदार नीति, कुछ हिंदुओं की निराशाजनक स्थिति, और सबसे अधिक महाकवियों तथा महात्माओं का उदय भक्ति के प्रसार में अत्यधिक सहायक हुआ। समाज की दशा सुधरी, उसे मनोबल मिला। इस प्रकार एक ओर तो भक्ति की प्रेरणा से हिंदी कविता में अभूतपूर्व सहायता आई और दूसरी ओर हिंदी कविता का साधन पाकर भक्ति की ज्योति चारों ओर फैली जिससे हिंदू जीवन उद्दीप्त हो उठा। रामभक्ति और कृष्णभक्ति, वैष्णव भक्ति की ये दोनों शाखाएँ हिंदी-साहित्योद्यान मे खूब फैलीं, जिससे जनता का मन हरा भरा हुआ। समयानुक्रम के अनुसार हम रामभक्ति का उल्लेख पहले करेंगे।

वैष्णव भक्ति की रामोपासिका शाखा का आविर्भाव महात्मा रामानंद ने विक्रम की पंद्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में किया था।

रामानंदी संप्रदाय

यद्यपि रामानंद के पहले भी नामदेव तथा त्रिलोचन आदि प्रसिद्ध भक्त हो चुके थे, पर उन्होंने भक्ति-आंदोलन को एक नवीन स्वरूप देकर तथा उसे अत्यधिक लोकप्रिय और उदार बनाकर हिंदूधर्म के उन्नायकों में सम्माननीय स्थान पर अधिकार पाया। कबीर, तुलसी और पीपा आदि उनके शिष्य अथवा शिष्यपरंपरा में थे, इससे भी उनके महत्त्व का अनुमान हम अच्छी तरह कर सकते हैं।

महात्मा रामानंद स्वामी रामानुज के श्री-संप्रदाय के अनुयायी थे, यह बात जनश्रुतियों से भी ज्ञात होती है और दोनों की रचनाओं की समता से भी। श्रीवैष्णवों के यहाँ विष्णु के कृष्ण, राम तथा नृसिंह आदि अवतारों की उपासना करने की रीति प्रचलित थी, यद्यपि प्रधानतः उनका झुकाव कृष्णोपासना की ओर ही अधिक था। महात्मा रामानंद ने राम और सीता को, इष्टदेव मानकर उनकी पूजा की और हनुमान्, भरत आदि रामभक्तों के भी वे भक्त बने। इस प्रकार यद्यपि कई आराध्य देव होते हैं, पर वे राम के संबंध से ही सम्मान्य समझे जाते हैं, अन्यथा नहीं।(राम की उपासना उन्हें परब्रह्म मानकर की गई।

अन्य उपास्य देव उनके सामने निम्न स्थान के अधिकारी हुए। कबीर ने तो राम को निर्गुण और सगुण ब्रह्म से भी परे बतलाकर उनका चरम उत्कर्ष प्रकट किया है। पर यह समानता केवल नाम की थी, व्यक्तित्व की नहीं। राम से उनका अभिप्राय परब्रह्म से ही था।

स्वामी रामानंद यद्यपि आचार्य रामानुज के ही अनुयायी थे, पर मंत्र-भेद, तिलक-भेद तथा अन्य विभेदों के कारण कुछ लोग उन्हें श्री-वैष्णव संप्रदाय में नहीं मानते। वे त्रिदंडी संन्यासी नहीं थे, अतएव उनमें और श्री-संप्रदाय में भेद बतलाया जाता है। परंतु यह निश्चित है कि रामानंद काशी के बाबा राघवानंद के शिष्य थे और बाबा राघवानंद श्री-संप्रदाय के वैष्णव संत थे। यद्यपि यह किंवदंती प्रसिद्ध है कि रामानंद और राघवानंद में आचार के संबंध में कुछ मतभेद हो जाने के कारण रामानंद ने अपना संप्रदाय अलग स्थापित किया फिर भी इसमें संदेह नहीं कि बाबा राघवानंद की मृत्यु के उपरांत रामानंदजी ने रामभक्ति का मार्ग प्रशस्त कर उत्तर भारत में एक नवीन भक्ति-मार्ग का अभ्युदय किया।

यह तो हम पहले ही कह चुके हैं कि रामभक्ति का विकास दक्षिण भारत में रामानंद के पहले ही हो चुका था और तामिल प्रदेश में इसका प्रचार भी पर्याप्त था। उस समय तक भक्ति-ग्रंथों की रचना भी होने लगी थी। रामानंद ने दक्षिण के रामभक्तों से बहुत कुछ ग्रहण किया। "ओ३म् रामाय नमः" का उनका मंत्र ही नहीं, उनकी धार्मिक उदारता भी, जो भक्ति में शूद्रों के प्रवेश आदि के रूप में व्यक्त हुई, उन्होंने दक्षिण के अनुकरण में ही स्वीकार की और चलाई थी। इतना ही नहीं, दक्षिण में प्रचलित अध्यात्म-रामायण, अगस्त्य-सुतीक्ष्ण-संवाद आदि धर्मग्रंथों को लाकर उन्होंने उनका प्रचार किया था। इस प्रकार हम देखते हैं कि उत्तर भारत ने की तत्कालीन रामभक्ति के आंदोलन में दक्षिण भारत ने बहुत कुछ योग दिया था।

(रामानंद के संबंध में सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह कही जाती है कि उनके आंदोलन में बड़ी उदारता थी और वे ईश्वरोपासना में जातिभेद स्वीकार नहीं करते थे। उनके शिष्यों में शूद्र वर्ण के तो कई व्यक्ति थे, पर मुसलमान कबीरदास भी थे।) उस समय स्त्रियों की स्थिति अत्यंत निम्न थी और वे भक्ति की अधिकारिणी नहीं मानी जाती थीं, परंतु स्वामी रामानंद की शिष्या स्त्री भी थी।) इस उदारता का कारण कुछ व्यक्ति मुसलमानों का प्रभाव बतलाते हैं, परंतु हमारी सम्मति में इसमें विदेशीय प्रभाव के साथ ही भारतीय तात्त्विक दृष्टि भी

प्रतिफलित हुई है। महात्मा शंकर ने अद्वैतवाद का उपदेश देकर जिस दार्शनिक साम्य की प्रतिष्ठा की थी उसके अनुसार जीवात्मा अखंड और अभेद मानी गई थी। स्वामी रामानुज के विशिष्टाद्वैत का शंकर स्वामी के अद्वैतवाद से इस विषय में अभेद है। वे भी जीव का साम्य स्वीकृत करते हैं। हिंदुओं का वर्णविभाग सामाजिक कार्यविभाग की दृष्टि से चला था, तात्त्विक दृष्टि से तो सबकी समानता स्वीकृत की गई थी। हाँ, स्वामी रामानंद तथा अन्य आचार्यों में इतना विभेद अवश्य है कि उन्होंने पहले की अपेक्षा अधिक अग्रसर होकर घोषणा की कि धर्म में जातिभेद नहीं है, और इस सिद्धांत के अनुसार अपने शिष्यों में सभी वर्णों को सम्मिलित किया। यह सब कुछ होते हुए भी हम यह नहीं भूल सकते कि रामानंद ने भक्ति के अधिकार की दृष्टि से जाति के झमेले को दूर किया है, पर समाज में उन्हें जातिभेद स्वीकार था। यह बात उनके वेदांत-सूत्रों के भाष्य से स्पष्ट हो जाती है।

स्वामी रामानंद के दार्शनिक विचारों और सिद्धांतों का निरूपण करना कठिन है। यह तो ठीक है कि स्वामी रामानुज की ही भाँति वे भी वैष्णव भक्त थे, अतः शंकराचार्य के ज्ञानमार्ग में निरूपित अद्वैतवाद से उनके सिद्धांतों में विभेद होना स्वाभाविक है। रामानुज का विशिष्टाद्वैतवाद भक्ति के उपयुक्त था, अतएव भक्त रामानंद भी इसी सिद्धांत के समर्थक होंगे, ऐसा अनुमान होता है; रामानंदजी की शिष्य-परंपरा द्वारा निर्मित साहित्य का अनुसंधान करने पर भी संदेह ही बना रहता है। एक ओर तो कबीर, नानक आदि निर्गुण संत हैं जिन्होंने राम को निर्गुण सगुण सबके ऊपर मानकर अपने अद्वैतवादी होने का परिचय दिया है और दूसरी ओर तुलसीदास हैं जिन्होंने अयोध्या के नृपति दशरथ के ज्येष्ठ पुत्र राम को अपना इष्टदेव बनाया और भक्तिभाव से उनका चरित्र अंकित किया। कहीं कहीं तो कबीर आदि संत अद्वैतवाद से नीचे उतरते, अपने आराध्य देव में गुणों का आरोप करते और स्वयं भक्त बनकर उसे भक्तवत्सल कहते हैं। इसी प्रकार महात्मा तुलसीदास भी यद्यपि दासभाव से उपासना करते हुए ईश्वर तथा जीव में विभेद की व्यंजना करते हैं, पर साधना की उच्च श्रेणी पर पहुँचकर वे कभी कभी सारे जगत् को राममय देखते और इस प्रकार अद्वैत की ओर संकेत करते हैं। अतः हम देखते हैं कि स्वामी रामानंद की शिष्यपरंपरा में अद्वैत तथा विशिष्टाद्वैत मतों का सम्मिश्रण हुआ है। भक्तिभावापन्न व्यक्तियों के लिये यह स्वाभाविक ही है। हाँ, यह अवश्य स्वीकार करना पड़ता है कि स्वामी रामानंद की

प्रेरणा से देश-भाषाओं में रामभक्ति का जो साहित्य तैयार हुआ उसमें सिद्धांतों की अधिक स्पष्ट व्यंजना नहीं हुई—कहीं कहीं तो विभिन्न मतों का समावेश भी हुआ है।

रामभक्ति की जो शाखा महात्मा रामानंद द्वारा विकसित हुई, आगे चलकर उसका अत्यधिक विस्तार हुआ और वह खूब फूली-फली।

रामानंद की शिष्यपरंपरा

यद्यपि अपनी उदारता के कारण रामभक्ति उस सांप्रदायिक कट्टरपन से बची रही जो कृष्णोपासना के कुछ संप्रदायों में फैली, तथापि इतना तो निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि रामानंद की रामोपासना का इस देश पर प्रचुर प्रभाव पड़ा। कबीर, पीपा, रैदास, सेना, मलूक आदि संत सब रामानंद के ऋणी हैं, यद्यपि उनके चलाए हुए संप्रदायों पर कुछ इस्लामी प्रभाव भी पड़े और अनेक भेदोपभेद भी हुए। जनता पर इन संतों का बड़ा प्रभाव पड़ा। परंतु महात्मा रामानंद का ऋण इन संतों तक ही परिमित नहीं है। इनकी शिष्य-परंपरा में आगे चलकर गोस्वामी तुलसीदास हुए जिनकी जगत्प्रसिद्ध रामायण हिंदी साहित्य का सर्वोत्कृष्ट रत्न तथा उत्तर भारत की धर्मप्राण जनता का सर्वस्व है। कबीर आदि संतों के संप्रदाय देश के कुछ कोनों में ही अपना प्रभाव दिखा सके और पढ़ी-लिखी जनता तक उनकी वाणी अधिक नहीं पहुँची, परंतु गोस्वामी तुलसीदास की कविता ऊँच-नीच, राजा-राव, पढ़े-बेपढ़े सबकी दृष्टि में समान रूप से आदरणीय हुई। ये गोस्वामी तुलसीदासजी स्वामी रामानंद के ही उपदेशों को ग्रहण करके चले थे, अतः स्वामी रामानंद का महत्त्व हम अच्छी तरह समझ सकते हैं और उनके उपदेशों से अंकुरित रामभक्ति को आज असंख्य घरों में फैली हुई देख सकते हैं।

हिंदी भाषा की संपूर्ण शक्ति का चमत्कार दिखानेवाले और हिंदी साहित्य को सर्वोच्च आसन पर बैठानेवाले भक्तशिरोमणि गोस्वामी

तुलसीदास की जीवनी का अनुसंधान

तुलसीदास महात्मा रामानंद की शिष्य-परंपरा में थे। अपनी अद्भुत प्रतिभा और अलौकिक कवित्व-शक्ति के कारण वे देश और काल की सीमा का उल्लंघन कर सार्वदेशिक और सार्वकालिक हो गए हैं। आज तीन सौ वर्षों में उनकी कीर्तिश्री कम नहीं हुई, प्रत्युत निरंतर बढ़ती ही जाती है। उनकी लौकिक जीवन-गाथा का उल्लेख यहाँ संक्षेप में आवश्यक है। उनका जीवनचरित लिखनेवाले महात्मा रघुवरदास के "तुलसीचरित" से उनकी जीवनी का पता चलता है परंतु उनके समकालीन शिष्य बाबा वेणीमाधवदास का "गोसाईंचरित" अधिक प्रामाणिक माना जाता है।

इनके अतिरिक्त अयोध्या के कुछ रामायणी भक्त तथा मिरजापुर के पंडित रामगुलाम द्विवेदी आदि जनश्रुतियों के आधार पर गोस्वामीजी की जीवनगाथा के निर्माण में सहायक हुए हैं। शिवसिंह सेंगर और डाक्टर ग्रियर्सन के प्रारंभिक अनुसंधानों से उनकी जीवनी पर जो प्रकाश पड़ता है, वह भी ध्यान देने योग्य है। इस बाह्य साक्ष्य को लेकर जब हम गोस्वामी जी के ग्रंथों का अन्वेषण करते हैं और उनमें उनकी जीवनी के संबंध में आए हुए संकेतों से उस बाह्य साक्ष्य को मिलाकर देखते हैं तब उनके जीवन की अनेक घटनाओं का निश्चय हो जाता है और इस प्रकार उनकी बहुत कुछ प्रामाणिक जीवनी तैयार हो जाती है। परंतु इस जीवनी से पूरा पूरा संतोष नहीं होता, क्योंकि वह केवल उनके जीवन की असंबद्ध घटनाओं का संग्रह मात्र होती है, उससे उनके मानसिक और कला संबंधी क्रम-विकास का पता नहीं चलता। उनके ग्रंथों की रचना का क्रम क्या है, रचना की परिस्थितियाँ कैसी थीं आदि इन आवश्यक बातों का ठीक ठीक पता नहीं चलता, जिनकी गोस्वामी जी जैसे महाकवि के विषय में स्वाभाविक जिज्ञासा होती है। गोस्वामीजी की जीवनी और उनके ग्रंथों के रचना-क्रम के संबंध में जो कुछ वक्तव्य प्रकाशित हुए हैं वे अब तक प्रामाणिकता की कोटि तक नहीं पहुँचे। अभी उनके ग्रंथों के अधिकाधिक अनुशीलन की आवश्यकता है। उनके जीवनचरित के विषय में प्रमाणाभाव से अनिश्चयात्मकता तो थी ही इधर कुछ दिनों से और भी अधिक संदेहों की सृष्टि की जा रही है। सभी अपनी अपनी नई उद्भावनाएँ लेकर उपस्थित होना चाहते हैं। आवश्यकता नवीन उद्भावनाओं की उतनी नहीं है जितनी प्रस्तुत आधार के अधिक गंभीर अनुशीलन की है। तुलसीदासजी किसी विशेष वर्ग या स्थान के व्यक्ति अब नहीं रहे। वे तो समान रूप से हम सबके हो गए हैं। अतः उनकी जीवनी का अनुसंधान करते हुए जातीय और प्रादेशिक संकीर्णता को कुछ भी स्थान न देना चाहिए। जो उपलब्ध प्रमाण हैं उनकी पुष्टि और नवीन प्रमाणों की खोज तथा निष्पक्ष दृष्टि से उन सबका समन्वय ही हमारे इस जातीय महाकवि के पहलौकिक चरित और जीवन-घटनाओं को प्रत्यक्ष कर सकता है। संकीर्ण जातीयता और सांप्रदायिक या व्यक्तिगत मनोवृत्ति की खींचतान कुछ भी लाभ की संभावना नहीं है।

हम भी अपने विचारों में संशोधन के लिये सदैव तैयार हैं। अब तक जो कुछ निर्णय हम इस संबंध में कर सके हैं उसके अनुसार गोस्वामीजी की संक्षिप्तजीवनगाथा इस प्रकार स्वीकृत की जा सकती

है। गोसाईं-चरित तथा तुलसी-चरित दोनों के अनुसार गोस्वामीजी का जन्म-संवत् १५५४ और स्वर्गवास-संवत् १६८० ठहरता है; यद्यपि गोस्वामीजी का मृत्यु-संवत् निस्संदेह १६८० था पर उनके जन्मकाल के संबंध में डाक्टर ग्रियर्सन ने शंका की है और जनश्रुतियों के आधार पर उसे १५८९ माना है। तुलसीदास युक्तप्रांत के बाँदा जिले में राजापुर गाँव के निवासी थे। ये सरयूपारीण ब्राह्मण थे। इनके पिता आत्माराम पत्यौजा के दूबे और इनकी माता हुलसी थीं जिनका उल्लेख अकबर के दरबार के रहीम खानखाना ने एक प्रसिद्ध दोहे में किया है। लड़कपन में ही इनके माता-पिता द्वारा परित्यक्त होने की जनश्रुति प्रचलित है जिससे इनके अभुक्त मूल में जन्म लेने की बात की कुछ लोगों ने कल्पना की है। पर बाबा वेणीमाधवदास ने इस घटना का पूरा विवरण देकर सब प्रकार की कल्पना और अनुमान को शांत कर दिया है। बाल्यावस्था में आश्रयहीन इधर उधर घूमने-फिरने और उसी समय गुरु द्वारा रामचरित सुनने का उल्लेख गोस्वामीजी की रचनाओं में मिलता है। कहा जाता है कि इनके गुरु बाबा नरहरि थे जिनका स्मरण गोस्वामीजी ने रामचरितमानस के प्रारंभ में किया है। संभवतः उनके ही साथ रहते हुए इन्होंने शास्त्रों का अध्ययन किया। गोस्वामीजी के अध्यापक शेष सनातन नामक एक विद्वान् महात्मा कहे जाते हैं जो काशी-निवासी थे और महात्मा रामानंद के आश्रम में रहते थे। स्मार्त वैष्णवों से शिक्षा-दीक्षा पाकर गोस्वामीजी भी उसी मत के अवलंबी बने। स्मार्त वैष्णव स्मृति-प्रतिपादित धार्मिक रीतियों को मानते हैं, पंच देवों की उपासना उनके यहाँ प्रचलित है यद्यपि वे इष्टदेव को प्रधानता अवश्य देते हैं। गोस्वामीजी का अध्ययन-काल लगभग १५ वर्ष तक रहा। शिक्षा समाप्त कर वे युवावस्था में घर लौटे, क्योंकि इसी समय उनके विवाह करने की बात कही जाती है।

उनका जीवनचरित

गोस्वामीजी के विवाह के संबंध में कुछ शंकाएँ की जाती हैं। शंका का आधार उनका "ब्याह न बरेखी जाति-पाँति ना चहत हौं" पद्यांश माना जाता है, परंतु उनके विवाह और विवाहित जीवन के संबंध में जो किंवदंतियाँ प्रचलित हैं और जो कुछ लिखा मिलता है उन पर सहसा अविश्वास नहीं किया जा सकता। गोस्वामीजी का पत्नी-प्रेम प्रसिद्ध है और पत्नी ही के कारण इनके विरक्त होकर भक्त बन जाने की बात भी कही जाती है। स्त्री के अपने मायके चले जाने पर तुलसीदास का प्रेम-विह्वल होकर घोर वर्षा में अपनी ससुराल जाना

और वहाँ पत्नी द्वारा फटकारे जाने पर घर छोड़कर चल देना भक्तमाल की टीका और वेणीमाधवदास के चरित से अनुमोदित है। यही नहीं, वृद्धावस्था में भ्रमण करते हुए गोस्वामी जी का ससुराल में अपनी चिरवियुक्ता पत्नी से भेंट होने का विवरण भी मिलता है। उस समय स्त्री का साथ चलने देने का अनुरोध निम्नांकित दोहे में बतलाया जाता है।

खरिया खरी कपूर लौं उचित न पिय तिय त्याग।
कै खरिया मोहि मेलि कै अचल करहु अनुराग॥

यह सब होते हुए भी कुछ आलोचकों की सम्मति में तुलसीदास जी के विवाह की बात भ्रांत जान पड़ती है। उनके ग्रंथों में स्त्रियों के संबंध में जो विरोधात्मक उद्गार पाए जाते हैं, उनका आधार ग्रहण कर यह कहा जाता है कि गोस्वामी जी जन्म भर वैरागी रहे, स्त्री से उनका साक्षात्कार नहीं हुआ। अतएव वे स्त्रियों की विशेषताओं और सद्गुणों से परिचित नहीं हो सके। यही उनके विरोधात्मक उद्गारों का कारण है। परंतु यह सम्मति विशेष तथ्यपूर्ण नहीं जान पड़ती। गोस्वामी जी ने स्त्रियों की प्रशंसा भी की है और निंदा भी। विवाह न करने से ही स्त्रियों के संबंध में किसी के कटु अनुभव होते हैं, यह बात नहीं है। स्त्रियों का कामिनी के रूप में बहिष्कार केवल तुलसीदासजी ने ही नहीं, अन्य अनेक संप्रदायाचार्यों और कवियों ने भी किया था। भक्ति-काल की यह एक सामान्य विशेषता सी थी, यह तुलसीदासजी की कोई अपनी बात न थी। सबसे महत्त्वपूर्ण बात तो यह है कि विवाह के संबंध में बाह्य और आभ्यंतर साक्ष्य मिलते हैं और जनश्रुतियाँ उसका अनुमोदन करती हैं।

स्त्री से विरक्त होकर गोस्वामीजी साधु बन गए और घर छोड़कर देश के अनेक भूभागों और तीर्थों में घूमते रहे। इनका भ्रमण बड़ा विस्तृत था, उत्तर में मानसरोवर और दक्षिण में सेतुबंध रामेश्वर तक की इन्होंने यात्रा की थी। चित्रकूट की रम्य भूमि में इनकी वृत्ति अतिशय रमी थी, जैसा कि उनकी रचनाओं से स्पष्ट होता है। काशी, प्रयाग और अयोध्या इनके स्थायी निवास-स्थान थे जहाँ ये वर्षों रहते और ग्रंथ-रचना करते थे। मथुरा वृंदावन आदि तीर्थों की भी इन्होंने यात्रा की थी और वहीं कहीं इनकी "कृष्ण-गीतावली" लिखी गई थी। इसी भ्रमण में गोस्वामीजी ने पचीसों वर्ष लगा दिए थे, और बड़े बड़े महात्माओं की संगति की थी। कहते हैं कि एक बार जब ये चित्रकूट में थे, तब संवत् १६१६ में महात्मा सूरदास इनसे मिलने आए थे। कवि केशवदास और रहीम खानखाना से भी इनकी भेंट होने की बात प्रचलित है।

अंत में ये काशी में आकर रहे और संवत् १६३१ में अपना प्रसिद्ध ग्रंथ "रामचरितमानस" लिखने बैठे। उसे इन्होंने लगभग ढाई वर्षों में समाप्त किया। रामचरितमानस का कुछ अंश काशी में लिखा गया है, कुछ अन्यत्र भी। इस ग्रंथ की रचना से इनकी बड़ी ख्याति हुई। उस काल के प्रसिद्ध विद्वान् और संस्कृतज्ञ मधुसूदन सरस्वती ने इनकी बड़ी प्रशंसा की थी। स्मरण रखना चाहिए कि संस्कृत के विद्वान् उस समय भाषा-कविता को हेय समझते थे। ऐसी अवस्था में उनकी प्रशंसा का महत्त्व और भी बढ़ जाता है। गोस्वामी तुलसीदास को उनके जीवन-काल में जो प्रसिद्धि मिली, वह निरंतर बढ़ती ही गई और अब तो वह सर्वव्यापिनी हो रही है।

रामचरितमानस और विनयपत्रिका

रामचरितमानस लिख चुकने के पश्चात् गोस्वामीजी का आत्म-साधना की ओर संलग्न होना स्वाभाविक ही था। रामचरितमानस के अंत में उन्होंने "पायौ परम विश्राम" की बात कही है। इसी विश्राम की निरंतर साधना उनके जीवन का लक्ष्य हुआ। जिन राम की कृपा से उन्हें यह लाभ हुआ था उन्हीं के गुणों का गान करते हुए उनमें अपनी सत्ता खो देना ही गोस्वामीजी की रामभक्ति के अनुकूल था और इसे उन्होंने अपने दीर्घ जीवन में सिद्ध भी किया। उनकी विनय-पत्रिका इसी लक्ष्य की पूर्ति है। भक्त का दैन्य और आत्मग्लानि दिखाकर, प्रभु की क्षमता और क्षमाशीलता का चित्र अपने हृदय-पटल पर अंकित कर तथा भक्त और प्रभु के अविच्छिन्न संबंध पर जोर देकर गोस्वामीजी ने विनय-पत्रिका को भक्तों का प्रिय ग्रंथ बना दिया। यद्यपि उनके उपास्य देव राम थे, तथापि पत्रिका में गणेश और शिव आदि की वंदना कर एक ओर तो गोस्वामीजी ने लौकिक पद्धति का अनुसरण किया है और दूसरी ओर अपने उदार हृदय का परिचय दिया है। उत्तर भारत में कट्टरपन की शृंखला को शिथिल कर धार्मिक उदारता का प्रचार करनेवालों में गोस्वामीजी अग्रणी हैं। ऐसी जनश्रुति है कि विनय-पत्रिका की रचना गोस्वामीजी ने काशी के गोपाल-मंदिर में की थी।

मृत्यु

गोस्वामीजी की मृत्यु काशी में संवत् १६८० में, हुई थी। काशी में उस समय महामारी का प्रकोप था और तुलसीदासजी भी उससे आक्रांत हुए थे। उन्हें विषूचिका हो गई थी, पर कहा जाता है कि महावीरजी की वंदना करने से वह दूर हो गई। परंतु वे इसके उपरांत अधिक दिन जीवित नहीं रहे। ऐसा

जान पड़ता है कि इस रोग ने उनके वृद्ध शरीर को जर्जर कर दिया था। मृत्यु-तिथि के संबंध में अब तक कुछ मत-विभेद था। अनुप्रास-पूरित इस दोहे के अनुसार उनकी निर्वाण-तिथि श्रावण शुक्लपक्ष की सप्तमी मानी जाती रही है—

संवत सोरह सौ असी, असी गंग के तीर।
सावन सुक्ला सप्तमी तुलसी तज्यो शरीर॥

परंतु वेणीमाधवदास के गोसाईंचरित में उनकी मृत्यु-तिथि संवत् १६८० की श्रावण श्यामा तीज, शनिवार लिखी हुई है। अनुसंधान करने पर यह तिथि ठीक भी ठहरी; क्योंकि एक तो तीज के दिन शनिवार का होना ज्योतिष की गणना से ठीक उतरा; और दूसरे गोस्वामीजी के घनिष्ठ मित्र टोडर के वंश में तुलसीदास जी की मृत्यु-तिथि के दिन एक सीधा देने की परिपाटी अब तक चली आती है और वह सीधा श्रावण के कृष्णपक्ष में तृतीया के दिन दिया जाता है "सावन सुक्ला सप्तमी" को नहीं।

विगत कुछ वर्षों से उत्तरी भारत में प्रायः सर्वत्र तुलसी-जयंती मनाई जाने लगी है। जयंती की तिथि अब तक श्रावण शुक्ला सप्तमी ही मानी जा रही है। जिन्हें यह ज्ञात हो गया है कि यह गोस्वामीजी की इहलीला-संवरण की तिथि नहीं है वे इसे उनकी जन्मतिथि के रूप में जयंती मनाते हैं। महापुरुषों की जन्मतिथि पर उत्सव मनाना भारतीय आध्यात्मिक दृष्टि से विधेय नहीं है। जन्म-तिथि तो राम, कृष्ण आदि अवतारी पुरुषों की ही मनाई जाती है। अन्य महात्माओं की तो शरीर-त्याग की तिथि ही मनाने की प्रथा है। राम, कृष्ण आदि का अवतार दिव्य था अतः उनकी अवतार-तिथि स्मरणीय है किंतु तुलसीदासजी की तो निर्वाण-तिथि ही मान्य है। उनके जन्म-दिवस का उत्सव तो लौकिक ही कहा जायगा; क्योंकि जन्म के समय वे प्राकृत पुरुष ही थे। पीछे अपनी साधना से उन्हें मोक्ष प्राप्त हुआ अतः मोक्ष-तिथि का उत्सव मनाना ही यहाँ की आध्यात्मिक परंपरा के अनुकूल होगा; क्योंकि भारतीय अध्यात्मशास्त्र प्रकृति को माया या मिथ्या मानता और ब्रह्म को ही सत्य ठहराता है। महात्मा तुलसीदासजी ने श्रावण कृष्ण तृतीया को अपनी सांसारिक लीला संवरण की और परम तत्त्व से एकाकार हो गए। अतः उसी तिथि को उनकी जयंती मनाने की परिपाटी प्रचलित होनी चाहिए।

महाकवि तुलसीदास का जो व्यापक प्रभाव भारतीय जनता पर है उसका कारण उनकी उदारता, उनकी विलक्षण प्रतिभा तथा उनके

उद्गारों की सत्यता आदि तो हैं ही, साथ ही उसका सबसे बड़ा कारण है उनका विस्तृत अध्ययन और उनकी सारग्राहिणी प्रवृत्ति।

गोस्वामीजी का भारतीय जन-समाज पर प्रभाव, उसके कारण—
(१) अध्ययन

"नानापुराणनिगमागमसम्मत" रामचरितमानस लिखने की बात अन्यथा नहीं है, सत्य है। भारतीय संस्कृति के आधारभूत तत्त्वों को गोस्वामीजी ने विविध शास्त्रों से ग्रहण किया था और समय के अनुरूप उन्हें अभिव्यंजित करके अपनी अपूर्व दूरदर्शिता का परिचय दिया था। यों तो उनके अध्ययन का विस्तार अत्यधिक था, परंतु उन्होंने रामचरितमानस में प्रधानतः वाल्मीकि रामायण का आधार लिया है। साथ ही उन पर वैष्णव महात्मा रामानंद की छाप स्पष्ट देख पड़ती है। उनके रामचरितमानस में मध्यकालीन धर्मग्रंथों विशेषतः अध्यात्मरामायण, योगवाशिष्ठ तथा अद्भुत रामायण का प्रभाव कम नहीं है। भुशुंडि रामायण और हनुमन्नाटक नामक ग्रंथों का ऋण भी गोस्वामीजी पर है। इस प्रकार हम देखते हैं कि वाल्मीकि रामायण की कथा लेकर उसमें मध्यकालीन धर्मग्रंथों के तत्त्वों का समावेश कर साथ ही अपनी उदार बुद्धि और प्रतिभा से अद्भुत चमत्कार उत्पन्न कर उन्होंने जिस अनमोल साहित्य का सृजन किया, वह उनकी सारग्राहिणी प्रवृत्ति के साथ ही उनकी प्रगाढ़ मौलिकता का भी परिचायक है।

गोस्वामीजी की समस्त रचनाओं में उनका रामचरितमानस ही सर्वश्रेष्ठ रचना है और उसका प्रचार उत्तर भारत में घर घर है।

(२) उदारता और सारग्राहिता

गोस्वामीजी का स्थायित्व और गौरव इसी पर सबसे अधिक अवलंबित है। रामचरितमानस करोड़ों भारतीयों का एकमात्र धर्म-ग्रंथ है। जिस प्रकार संस्कृत साहित्य में वेद, उपनिषद् तथा गीता आदि पूज्य दृष्टि से देखे जाते हैं, उसी प्रकार आज संस्कृत का लेशमात्र ज्ञान न रखनेवाली जनता भी करोड़ों की संख्या में रामचरितमानस को पढ़ती और वेद आदि की ही भाँति उसका सम्मान करती है। इस कथन का यह तात्पर्य नहीं है कि गोस्वामीजी के अन्य ग्रंथ निम्नकोटि के हैं। गोस्वामीजी की प्रतिभा सब में समान रूप से लक्षित होती है, किंतु रामचरितमानस की प्रधानता अनिवार्य है। गोस्वामीजी ने हिंदू धर्म का सच्चा स्वरूप राम के चरित्र में अंतर्निहित कर दिया है। धर्म और समाज की कैसी व्यवस्था होनी चाहिए; राजा प्रजा, ऊँच नीच, द्विज शूद्र आदि सामाजिक सूत्रों के साथ माता पिता, गुरु भाई आदि

यह सब होते हुए भी तुलसीदासजी ने जो कुछ लिखा है, स्वांतः सुखाय लिखा है। उपदेश देने की अभिलाषा से अथवा कवित्व प्रदर्शन की कामना से जो कविता की जाती है, उसमें आत्मा की प्रेरणा न होने के कारण स्थायित्व नहीं होता। कला का जो उत्कर्ष हृदय से सीधी निकली हुई रचनाओं में होता है वह अन्यत्र मिलना असंभव है। गोस्वामीजी की यह विशेषता उन्हें हिंदी कविता के शीर्षासन पर ला रखती है। एक ओर तो वे काव्य-चमत्कार का भद्दा प्रदर्शन करनेवाले कवियों से सहज में ही ऊपर आ जाते हैं और दूसरी ओर उपदेशों का सहारा लेनेवाले नीतिवादी भी उनके सामने नहीं ठहर पाते। कवित्व की दृष्टि से तुलसी की मंजलता, माधुर्य और ओज अनुपम तथा मानव-जीवन का सर्वांग निरूपण अप्रतिम हुआ है। मर्यादा और संयम की साधना में वे संसार के सर्वश्रेष्ठ कवि हैं। इसके साथ ही जब हम भाषा पर उनके अधिकार तथा जनता पर उनके उपकार की तुलना अन्य कवियों से करते हैं तब गोस्वामीजी की यथार्थ महत्ता का साक्षात्कार स्पष्ट रीति से हो जाता है।

(५) आंतरिक अनुभूति

गोस्वामीजी की रचनाओं का महत्त्व उनमें व्यंजित भावों की विशदता और व्यापकता से ही नहीं, उनकी मौलिक उद्भावनाओं तथा चमत्कारिक वर्णनों से भी है। यद्यपि रामायण की कथा उन्हें महर्षि वाल्मीकि से बनी बनाई मिल गई थी, परंतु उसमें भी गोस्वामीजी ने यथोचित परिवर्तन किए हैं। सीता-स्वयंवर के पूर्व फुलवारी का मनोरम वर्णन तुलसीदासजी की अपनी उद्भावना है। धनुष-भंग के पश्चात् परशुरामजी का आगमन उन्होंने अपनी प्रबंध-पटुता के प्रतीक-स्वरूप रखा है। कितनी ही मर्मस्पर्शिनी घटनाएँ गोस्वामीजी ने अपनी ओर से सन्निहित की हैं, जैसे सीताजी का अशोकवन में विरह-पीड़ित अवस्था में अशोक से आग माँगना और तत्क्षण हनुमान्‌जी का मुद्रिका गिराना। हनुमान्, विभीषण और सुग्रीव आदि रामभक्तों का चरित्र तुलसीदासजी ने विशेष सहानुभूति के साथ अंकित किया है। गोस्वामीजी के भरत तो गोस्वामीजी के ही हैं—भक्ति की मूर्त्ति। अपने युग की छाप भी रामचरितमानस में मिलती है जिससे वह युग-प्रवर्तक ग्रंथ बन सका है। कलियुग के वर्णन में उन्होंने सामयिक स्थिति का व्यंग्य-पूर्ण चित्र उपस्थित किया है। ये सब तुलसी की अपनी मौलिकताएँ हैं जिनके कारण उनका मानस अन्य प्रांतीय भाषाओं में लिखे हुए रामकथा के ग्रंथों की अपेक्षा कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण और काव्यगुणों-

(६) स्वतंत्र उद्भावना

पेत बन सका। पूरे ग्रंथ में उपमाओं और रूपकादि अलंकारों की नैसर्गिकता चित्त को विमुग्ध करती है। वे अलंकार और वह समस्त वर्णन रूढ़िबद्ध या अनुकरणशील कवि में आ ही नहीं सकते। गोस्वामीजी में सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक अंतर्दृष्टि थी, इसका परिचय स्थान स्थान पर प्राप्त होता है। वे कोरे भक्त ही नहीं थे; मानव-चरित्र, उसकी सूक्ष्मताओं और ऋजु-कुटिल गतियों के पारखी भी थे, यह रामचरितमानस में सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है। मंथरा के प्रसंग में गोस्वामीजी का यह चमत्कार स्पष्ट लक्षित है। कैकेयी की आत्मग्लानि भी उन्होंने मौलिक रूप से प्रकट कराई है। ऐसे ही अन्य अनेक स्थल हैं। प्रकृति के रम्य रूपों का चित्र खड़ा करने की क्षमता हिंदी के कवियों में बहुत कम है; परंतु गोस्वामीजी ने चित्रकूट-वर्णन में संस्कृत कवियों से टक्कर ली है। इतना ही नहीं, भावों के अनुरूप भाषा लिखने तथा प्रबंध में संबंधनिर्वाह और चरित्र-चित्रण का निरंतर ध्यान रखने में वे अपनी समता नहीं रखते। उत्कट रामभक्ति के कारण उनके रामचरितमानस में उच्च सदाचार का जो एक प्रवाह सा बहा है, वह तो वाल्मीकि-रामायण से भी अधिक गंभीर और पूत है।

भाषा और काव्य-शैली

जायसी की भाषा और छंदों का विवेचन करते हुए हम कह चुके हैं कि उन्होंने जिस प्रकार दोहा-चौपाई छंदों में अवधी भाषा का आश्रय लेकर अपनी पद्मावत लिखी है, कुछ वर्षों के पश्चात् गोस्वामी तुलसीदासजी ने भी उसी अवधी भाषा में उन्हीं दोहा-चौपाई छंदों में अपनी प्रसिद्ध रामायण की रचना की। यहाँ यह कह देना उचित होगा कि जायसी संस्कृतज्ञ नहीं थे; अतः उनकी भाषा ग्रामीण अवधी थी, उसमें साहित्यिकता की छाप नहीं थी। परंतु गोस्वामीजी संस्कृतज्ञ और शास्त्रज्ञ थे; अतः उन्होंने कुछ स्थानों पर ठेठ अवधी का प्रयोग करते हुए भी अधिकांश स्थलों में संस्कृत-मिश्रित अवधी का व्यवहार किया है। इससे इनके रामचरितमानस में प्रसंगानुसार उपर्युक्त दोनों प्रकार की भाषाओं का माधुर्य दिखाई देता है। यह तो हुई उनके रामचरितमानस की बात। उनकी विनय-पत्रिका, गीतावली और कवितावली आदि में व्रजभाषा व्यवहृत हुई है। शौरसेनी अपभ्रंश की उत्तराधिकारिणी यह व्रजभाषा विकसित होकर गोस्वामीजी के समय तक पूर्णतया साहित्य की भाषा बन चुकी थी, क्योंकि सूरदास आदि भक्त कवियों की विस्तृत रचनाएँ इसमें हो रही थीं। गोस्वामीजी ने व्रजभाषा में भी अपनी संस्कृत पदावली का सम्मिश्रण किया और उसे उपयुक्त प्रौढ़ता प्रदान की। इस प्रकार यह

स्पष्ट है कि जहाँ एक ओर जायसी और सूर ने क्रमशः अवधी और ब्रज-भाषा में ही काव्यरचना की थी वहाँ गोस्वामीजी का इन दोनों भाषाओं पर समान अधिकार हुआ और उन दोनों में संस्कृत के समावेश से नवीन चमत्कार उत्पन्न कर देने की क्षमता तो उनकी अपनी है।

गोस्वामी तुलसीदास के विभिन्न ग्रंथों में जिस प्रकार भाषा-भेद है, उसी प्रकार छंद-भेद भी है। रामचरितमानस में उन्होंने जायसी की तरह दोहे-चौपाइयों का क्रम रखा है, परंतु साथ ही हरिगीतिका आदि लंबे तथा सोरठा आदि छोटे छंदों का भी बीच बीच में व्यवहार कर उन्होंने छंद-परिवर्तन की ओर ध्यान रखा है। रामचरित के लंका-कांड में जो युद्ध-वर्णन है, उसमें चंद आदि वीर कवियों के छंद भी लाए गए हैं। कवितावली में सवैया और कवित्त छंदों में कथा कही गई है जो भाटों की परंपरा के अनुसार है। कवितावली में राजा राम की राज्यश्री का जो विशद वर्णन है, उसके अनुकूल कवित्त छंद का व्यवहार उचित ही हुआ है। विनय-पत्रिका तथा गीतावली आदि में ब्रज-भाषा के सगुणोपासक संत महात्माओं के गीतों की प्रणाली स्वीकृत की गई है। गीत-काव्य का सृजन पाश्चात्य देशों में संगीत शास्त्र के अनुसार हुआ है। वहाँ की लीरिक कविता आरंभ में वीणा के साथ गाई जाती थी। ठीक उसी प्रकार हिंदी के गीत काव्यों में भी संगीत के राग रागिनियों को ग्रहण किया गया है। दोहावली, बरवै रामायण आदि में तुलसीदासजी ने छोटे छंदों में नीति आदि के उपदेश दिए हैं अथवा अलंकारों की योजना के साथ फुटकर भावव्यंजना की है। सारांश यह कि गोस्वामीजी ने अनेक शैलियों में अपने ग्रंथों की रचना की है और आवश्यकतानुसार उनमें विविध छंदों का प्रयोग किया है। इस कार्य में गोस्वामीजी की सफलता विस्मयकारिणी है। हिंदी की जो व्यापक क्षमता और जो प्रचुर अभिव्यंजना-शक्ति उनकी रचनाओं में देख पड़ती है वह अभूतपूर्व है। उनकी रचनाओं से हिंदी में पूर्ण प्रौढ़ता की प्रतिष्ठा हुई।

उपसंहार

तुलसीदासजी के महत्त्व का ठीक ठीक अनुमान करने के लिये उनकी कृतियों की तीन प्रधान दृष्टियों से परीक्षा करनी पड़ेगी। भाषा की दृष्टि से, साहित्योत्कर्ष की दृष्टि से और संस्कृति के संरक्षण तथा उत्कर्ष-साधन की दृष्टि से। इन तीनों दृष्टियों से उन पर विचार करने का प्रयत्न ऊपर किया गया है, जिसके परिणाम-स्वरूप हम यहाँ कुछ बातों का स्पष्टतः उल्लेख कर सकते हैं। हम यह कह सकते हैं कि गोस्वामीजी का ब्रज और अवधी

दोनों भाषाओं पर समान अधिकार था और दोनों में ही संस्कृत की छटा उनकी कृतियों में दर्शनीय हुई है। छंदों और अलंकारों का समावेश भी पूरी सफलता के साथ किया गया है। साहित्यिक दृष्टि से रामचरितमानस के जोड़ का दूसरा ग्रंथ हिंदी में नहीं देख पड़ता। क्या प्रबंध-कल्पना, क्या संबंध-निर्वाह, क्या वस्तु एवं भावव्यंजना, सभी उच्च कोटि की हुई हैं। पात्रों के चरित्र-चित्रण में सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक दृष्टि का परिचय मिलता है और प्रकृति-वर्णन में हिंदी के कवि उनकी बराबरी नहीं कर सकते। अंतिम प्रश्न संस्कृति का है। गोस्वामीजी ने देश के परंपरागत विचारों और आदर्शों को बहुत अध्ययन करके ग्रहण किया है और बड़ी सावधानी से उनकी रक्षा की है। उनके ग्रंथ आज जो देश की इतनी असंख्य जनता के लिये धर्मग्रंथ का काम दे रहे हैं, उसका कारण यही है। गोस्वामीजी हिंदू जाति, हिंदू धर्म और हिंदू संस्कृति को अक्षुण्ण रखनेवाले हमारे प्रतिनिधि कवि हैं। उनकी यशः-प्रशस्ति अमिट अक्षरों में प्रत्येक हिंदी भाषा-भाषी के हृदयपटल पर अनंत काल तक अंकित रहेगी, इसमें कुछ भी संदेह नहीं। भारतीय समाज की संस्कृति और प्राचीन ज्ञान की रक्षा के लिये गोस्वामीजी का कार्य अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। किंतु गोस्वामीजी परंपरा-रक्षा के लिये ही एकमात्र यत्नवान् न थे। वे समय की स्थितियों और आवश्यकताओं को भी समझते थे तथा समाज को नवीन दिशा की ओर अग्रसर करने के प्रयास भी उन्होंने किए। आचार-संबंधिनी जितनी शुद्धि और परिष्कार उन्होंने किया वह सब जातीय जीवन को दृढ़ करने में सहायक बना। यह तो नहीं कहा जा सकता कि तुलसीदासजी परंपरा या रूढ़ियों के बंधन से सर्वथा मुक्त थे तथापि संस्कृति की रक्षा और उन्नयन के लिये उन्होंने जो महान् कार्य किया उसमें इस बंधन का कुप्रभाव नगण्य सा है। उनके गुणों का विशाल ऋण हिंदू समाज पर है और चिर-दिन तक रहेगा। इस अकाट्य सत्य को कौन अस्वीकार कर सकता है?

यह एक साधारण नियम है कि साहित्य के विकास की परंपरा क्रमबद्ध होती है। इसमें कार्य-कारण का संबंध प्रायः ढूँढ़ा और पाया जाता है। एक कालविशेष के कवियों को यदि हम फल-स्वरूप मान लें, तो उनके उत्तरवर्ती ग्रंथकारों को फूल-स्वरूप मानना होगा। फिर ये फूल-स्वरूप ग्रंथकार समय पाकर अपने पूर्ववर्ती ग्रंथकारों के फल-स्वरूप और उत्तरवर्ती ग्रंथकारों के फूल-स्वरूप होंगे। इस प्रकार यह क्रम सर्वथा चला चलेगा और समस्त साहित्य एक लड़ी के समान होगा जिसकी भिन्न भिन्न कड़ियाँ उस साहित्य के काव्यकार होंगे। इस

सिद्धांत को सामने रखकर यदि हम तुलसीदासजी के संबंध में विचार करते हैं, तो हमें पूर्ववर्ती काव्यकारों की कृतियों का क्रमशः विकसित रूप तो तुलसीदासजी में देख पड़ता है, पर उनके पश्चात् यह विकास आगे बढ़ता हुआ नहीं जान पड़ता। ऐसा भास होने लगता है कि तुलसीदासजी में हिंदी साहित्य का पूर्ण विकास संपन्न हो गया और उनके अनंतर फिर क्रमोन्नत विकास की परंपरा बंद हो गई तथा उसकी प्रगति ह्रास की ओर उन्मुख हुई। सच बात तो यह है कि गोस्वामी तुलसीदासजी में हिंदी कविता की जो सर्वतोमुखी उन्नति हुई, वह उनकी कृतियों में चरम सीमा तक पहुँच गई, उसके आगे फिर कुछ करने को नहीं रह गया। इसमें गोस्वामीजी की उत्कृष्ट योग्यता और प्रतिभा देख पड़ती है। गोस्वामीजी के पीछे उनकी नकल करनेवाले तो बहुत हुए, पर ऐसा एक भी न हुआ जो उनसे बढ़कर हो या कम से कम उनकी समकक्षता कर सकता हो। हिंदी कविता के कीर्तिमंदिर में गोस्वामीजी का स्थान सबसे ऊँचा और सबसे विशिष्ट है। गोस्वामीजी के काव्य में रामभक्ति की परंपरा और उसका उत्कर्ष पराकाष्ठा पर पहुँच गया है। उनके पश्चात् यह रामभक्ति की धारा उतनी प्रशस्त नहीं रह गई। कविता के क्षेत्र में तो वह क्षीण ही होती चली गई। तुलसीदासजी के पश्चात् रामभक्ति में सांप्रदायिकता की मात्रा बढ़ी। ऐसा होना स्वाभाविक भी था। इस सांप्रदायिकता से तुलसीदासजी के काव्य का प्रचार तो बहुत हुआ पर परवर्ती कवियों के विकास का मार्ग भी अवरुद्ध हो गया।

जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं, रामभक्ति की कविता गोस्वामी तुलसीदासजी की कृतियों से इतनी ऊँची उठ गई कि उनके पीछे के रामभक्त कवियों की अधिक प्रसिद्धि न हो सकी। गोस्वामीजी के आलोक के सामने वे फीके देख पड़ते हैं। फिर भी उनके समकालीन भक्त नाभादासजी रामभक्ति के एक उल्लेखयोग्य कवि हैं। नाभादासजी का "भक्तमाल" भक्तों का प्रिय ग्रंथ रहा है और अब भी है। उसमें सांप्रदायिक विभेद का परित्याग कर अनेक महात्माओं की जीवनी और कीर्ति की प्रशस्ति लिखी गई है। इस रचना में संक्षिप्त सूत्रशैली का व्यवहार किया गया है जिससे अर्थ समझने में बड़ी कठिनाई होती है। प्रियादास नामक संत ने भक्तमाल की टीका लिखकर इस कठिनाई को दूर करने की सफल चेष्टा की है। प्रियादास नामाजी के सौ वर्ष उपरांत हुए थे, फिर भी उन्होंने टीका बड़ी प्रामाणिक रीति से लिखी है।

नाभादास

नाभाजी स्वयं बड़े भक्त और संत थे। इनकी जाति का ठीक पता नहीं। कोई इन्हें डोम बतलाते हैं और कोई क्षत्रिय। गोस्वामी तुलसीदास से इनकी भेंट हुई थी। इनका जीवनकाल लगभग १६४२ से १६८० तक रहा होगा। ये यद्यपि रामभक्त थे पर इनके गुरु अग्रदास, जिनकी प्रेरणा से इन्होंने भक्तमाल की रचना की थी, वल्लभ संप्रदाय के कृष्णभक्त कवि थे। अग्रदास ने भी रामभक्ति की कुछ कविता की है। नाभादास की रामचरित पर एक पुस्तक अभी थोड़े दिन हुए मिली है। इसके अतिरिक्त उनके दो ग्रंथ और हैं जिनमें से एक ब्रजभाषा गद्य में है और दूसरा अवधी पद्य में।

प्राणचंद चौहान और हृदयराम इन दोनों रामभक्त कवियों ने नाटकों की शैली में रामकथा कही है। उनके नाटक रंगशाला में खेले जाने योग्य नहीं हैं, केवल कथोपकथन के रूप में होने के कारण उनको नाटक कह दिया जाता है। फिर भी इतना अवश्य है कि रामभक्ति की कविता प्रबंध और मुक्तक काव्यों के रूप में ही नहीं लिखी गई, दृश्य काव्य की शैली पर भी लिखी गई। रामभक्ति से हिंदी कविता को जितनी व्यापकता और विस्तार मिला, कृष्णभक्ति से उतना नहीं। कृष्णभक्ति की कविता तो अधिकतर गीत काव्यों की शैली पर ही लिखी गई।

प्राणचंद और हृदयराम

प्राणचंद ने संवत् १६६७ में रामायण महानाटक लिखा और हृदयराम ने संवत् १६८० में संस्कृत हनुमन्नाटक के आधार पर हिंदी हनुमन्नाटक की रचना की। इन दोनों में हृदयराम की रचना अधिक प्रौढ़ और प्रसिद्ध हुई।

रामभक्ति की एक शाखा हनुमानभक्ति के रूप में भी स्फुरित हुई। गोस्वामी तुलसीदास का हनुमानबाहुक महावीरजी की स्तुति में लिखा गया था। इस प्रकार की पुस्तकों में रायमल्ल पांडे का लिखा हनुमच्चरित्र (१६६६) कुछ प्रसिद्ध है।

यहाँ हम केशवदास की रामचंद्रिका तथा इस श्रेणी की अन्य पुस्तकों का उल्लेख नहीं करते, क्योंकि इनके रचयिता रामभक्त नहीं थे और इनके काव्य भी भक्तिकाव्य नहीं कहे जा सकते।

रामोपासक कवियों में महाराज विश्वनाथसिंह और महाराज रघुराजसिंह का नाम भी लिया जाता है। ये दोनों ही रीवाँनरेश रामभक्त थे, परंतु महाराज विश्वनाथसिंह निर्गुण भक्ति की ओर भी झुके थे और कबीर आदि पर आस्था रखते थे। विश्वनाथसिंह ने कितने ही

विश्वनाथसिंह और रघुराजसिंह

ग्रंथों की रचना की जिनमें अनेक रामभक्ति के भी हैं; पर उनके ग्रंथों का विशेष प्रचार नहीं हुआ। महाराज रघुराजसिंह के "रामस्वयंवर" की अच्छी प्रसिद्धि है परंतु साहित्यिक दृष्टि से उसका विशेष महत्त्व नहीं। उसमें युद्ध-वर्णन के अवसर पर जिन अनेक शस्त्रों आदि का नामोल्लेख किया गया है, उन्हें पढ़कर जी ऊब जाता है। इतिवृत्ति के रूप में ही इसके प्रायः सब वर्णन हैं, अतः उनमें काव्यत्व की कमी है, फिर भी साधारण साहित्य-समाज में इस पुस्तक का पर्याप्त प्रचार है। इसमें विशेषकर महाराज रघुराजसिंह ने राजसी ठाट-बाट का वर्णन किया है।

आधुनिक युग भक्ति का युग नहीं है। फिर भी रामचरित के कुछ प्रसंगों को लेकर खड़ी बोली में कुछ खंडकाव्यों की रचना हुई है, परंतु वे भक्ति-काव्य नहीं कहला सकते। श्री मैथिलीशरण गुप्त की "पंचवटी" कविता-पुस्तक में राम का सीता और लक्ष्मण सहित पंचवटी-प्रवास वर्णित है। इन्हीं गुप्तजी का "साकेत" नामक बड़ा काव्य-ग्रंथ भी निकला है जिसमें राम-कथा कही गई है। कुछ अन्य कवियों ने भी रामायण की कथा का आश्रय लेकर कविता की है, पर उनका नामोल्लेख यहाँ अनावश्यक है।

मैथिलीशरण

नवाँ अध्याय

कृष्णभक्ति शाखा

भारतीय महापुरुषों के संबंध में यह बात विशेषतः सत्य है कि वे अपने जीवनकाल में तो साधारण यश तथा प्रसिद्धि पाते हैं, पर कुछ समय के उपरांत उनमें ईश्वर की कलाओं का सन्निवेश माना जाता और उनकी उपासना की जाती है। (वाल्मीकि के मूलग्रंथ में राम एक शक्तिशाली नृपति के रूप में अंकित किए गए हैं, ईश्वर के अवतार के रूप में नहीं। परंतु उसी ग्रंथ के उत्तरकालीन अंश में ही राम भगवान् विष्णु के अंशावतार स्वीकृत किए गए हैं, और उनमें देवत्व की पूर्ण प्रतिष्ठा की गई है। इसके उपरांत रामभक्ति का विकास होता गया और अंत में रामोपासक संप्रदाय का आविर्भाव हुआ।) इस सांप्रदायिक रूप में तो राम का स्थान सब देवताओं से ही नहीं, स्वयं विष्णु से भी बढ़कर माना गया है। यही नहीं, कबीर आदि के राम तो निर्गुण और सगुण से भी परे परब्रह्म कहे गए हैं। तुलसी आदि उदार-हृदय, समन्वयवादी संत भी राम को सर्वव्यापक और सर्वज्ञ बतलाते हैं। राम जिनके इष्टदेव हैं, उनके लिये वे ही सब कुछ हैं; उनके लिये सब जग ही सियाराममय है। कृष्ण की उपासना का भी इसी प्रकार विकास हुआ है। महाभारत के प्रारंभिक पर्वों में वे अवतार नहीं बने, पर भगवद्गीता में उनकी अवतारणा भगवान् कृष्ण के रूप में हुई जो ईश्वर की संपूर्ण कलाओं को लेकर नरलीला करने तथा संसार का भार उतारने आए थे। पर गीता में कृष्ण को सांप्रदायिक रूप नहीं मिला। भागवत पुराण में कृष्णभक्ति दृढ़ हो गई है। उसके उपरांत तो कृष्णभक्ति के अनेक संप्रदाय चले जिनमें भगवान् कृष्ण के विभिन्न रूपों की उपासना होने लगी।

कृष्णभक्ति की उत्पत्ति और विकास

कृष्णोपासना के उन अनेक संप्रदायों के उल्लेख से यहाँ प्रयोजन नहीं जिनका हिंदी साहित्य से प्रत्यक्ष संबंध नहीं है। हम तो हिंदी साहित्य की कृष्णभक्ति शाखा का विवरण ही यहाँ देंगे और उन कृष्णभक्त कवियों का उल्लेख करेंगे जिनसे हिंदी की श्रीवृद्धि हुई है। परंतु हिंदी के सभी कृष्णभक्त कवि एक ही संप्रदाय के नहीं थे, अतएव उन्होंने विभिन्न रूपों में कृष्ण की उपासना की और उनकी स्तुति में अपनी वाणी

का उपयोग किया। जब हम कालक्रमानुसार हिंदी के कृष्णोपासक कवियों पर दृष्टि डालते हैं, तब उनमें कितने ही भेद पाते हैं। भेद का कारण जहाँ वैयक्तिक रुचि, अथवा प्रतिभा आदि है, वहाँ संप्रदाय-भेद भी है। उदाहरणार्थ विद्यापति और मीराबाई की रचनाओं तथा सूरदास आदि अष्टछाप के कवियों की कृतियों में बहुत कुछ ऐसी विभिन्नता है जिसका कारण सांप्रदायिक मतों की विभिन्नता है। इसी प्रकार स्वामी हरिदास और महात्मा हितहरिवंशजी में भी संप्रदाय-भेद के कारण अंतर देख पड़ता है। उनकी वाणी न तो आपस में ही मिलती है और न सूर आदि की वाणी से ही उसका मेल मिलता है। विभेद के कारणों का अनुसंधान करने पर यह पता लगता है कि विद्यापति और मीरा पर विष्णु स्वामी तथा निंबार्क मतों का अधिक प्रभाव था और सूरदास आदि अष्टछाप के कवि वल्लभाचार्य के मतानुयायी थे। इसी प्रकार स्वामी हरिदास निंबार्काचार्य के टट्टी संप्रदाय के थे, और हितहरिवंशजी ने राधा की भक्ति को प्रधानता देकर नवीन मत का सृजन किया था। ऐसे ही अन्य विभेद भी हैं। यहाँ हम कृष्णभक्ति के कवियों पर लिखते हुए संक्षेप में उन संप्रदायों का उल्लेख करेंगे जिनके मतों और सिद्धांतों का उन पर प्रभाव पड़ा था।

विद्यापति और मीरा

शंकर के अद्वैतवाद में भक्ति के लिये जगह न थी, यह हम पहले ही कह चुके हैं। शंकर के उपरांत स्वामी रामानुजाचार्य ने जिस विशिष्टाद्वैत मत का प्रतिपादन किया था, वह भी भक्ति के बहुत उपयुक्त न था। इसी समय के लगभग प्रणीत भागवत पुराण में भक्ति का दृढ़ मार्ग निरूपित हुआ और मध्वाचार्य ने पहले पहल द्वैतमत का सृजन कर भक्त और भगवान् के संबंध को सिद्ध किया। मध्वाचार्य दक्षिण में उदीची नामक स्थान के रहनेवाले थे। उन्होंने पहले तो शांकर मत की शिक्षा पाई थी, पर पीछे महाभारत तथा भागवत पुराण का अध्ययन किया था। भागवत पुराण के अध्ययन का उन पर गहरा प्रभाव पड़ा और वे शंकर के ज्ञान-मार्ग के विरोधी और भक्ति के समर्थक बन गए। उत्तर भारत में उनके सिद्धांतों का प्रत्यक्ष में तो अधिक प्रभाव नहीं पड़ा, पर अनेक संप्रदाय उनके उपदेशों का आधार लेकर दक्षिण में खड़े हुए और देश के विस्तृत भूभागों में फैले। हिंदी के कृष्णभक्त कवियों में विद्यापति पर माध्व संप्रदाय का ऋण स्वीकार करना पड़ता है।

परंतु विद्यापति पर माध्व संप्रदाय का ही ऋण नहीं है, उन्होंने विष्णु स्वामी तथा निंबार्काचार्य के मतों को भी ग्रहण किया था। न तो

भागवत पुराण में ही और न माध्व मत में ही, राधा का उल्लेख किया गया है। कृष्ण के साथ विहार करनेवाली अनेक गोपियों में राधा भी हो सकती हैं, पर कृष्ण की चिर-प्रेयसी के रूप में वे नहीं देख पड़तीं। उन्हें यह रूप विष्णु स्वामी तथा निंबार्क संप्रदायों में ही पहले पहल प्राप्त हुआ था। विष्णु स्वामी मध्वाचार्य की ही भाँति द्वैतवादी थे। भक्त-माल के अनुसार वे प्रसिद्ध मराठा भक्त ज्ञानेश्वर के गुरु और शिक्षक थे। राधाकृष्ण की सम्मिलित उपासना इनकी भक्ति का नियम था। विष्णु स्वामी के ही समकालीन निंबार्क नामक तैलंग ब्राह्मण का आविर्भाव हुआ, जिन्होंने वृंदावन में निवास कर गोपाल कृष्ण की भक्ति की थी। निंबार्क ने विष्णु स्वामी से भी अधिक दृढ़ता से राधा की प्रतिष्ठा की और उन्हें अपने प्रियतम कृष्ण के साथ गोलोक में चिर निवास करनेवाली कहा। राधा का यही चरम उत्कर्ष है। विद्यापति ने राधा और कृष्ण की प्रेमलीला का जो विशद वर्णन किया है, उस पर विष्णु स्वामी तथा निंबार्क मतों का प्रभाव प्रत्यक्ष है। विद्यापति राधा और कृष्ण के संयोग-शृंगार का ही विशेषतः वर्णन करते हैं। उसमें कहीं कहीं अश्लीलत्व भी आ गया है, पर अधिकांश स्थलों में प्रिया राधा का प्रियतम कृष्ण के साथ बड़ा ही सात्त्विक और रसपूर्ण सम्मिलन प्रदर्शित किया गया है। बंगाल के चंडीदास आदि कृष्णभक्त कवियों ने भी राधा की प्रधानता स्वीकार की है। हिंदी की प्रसिद्ध भक्त और कवयित्री मीराबाई के प्रसिद्ध पद "मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरो न कोई" में गोपाल कृष्ण का स्मरण है जो निंबार्क संप्रदाय के प्रचलन के अनुसार है। मीराबाई के अनेक पदों में जो तन्मयता देख पड़ती है, वह वास्तव में प्रेमातिरेक के कारण है और निस्संदेह सात्विक है। विद्यापति और मीराबाई पर विष्णु स्वामी तथा निंबार्क मतों की छाप थी। विष्णु स्वामी सिद्धांतों में मध्वाचार्य के और निंबार्क स्वामी रामानुज के अनुयायी थे।

विद्यापति और मीरा के उपरांत कृष्णभक्ति के प्रसिद्ध अष्टछाप के कवियों का उदय हुआ। अष्टछाप में आठ कवि सम्मिलित थे।

अष्टछाप और आचार्य वल्लभ

ये वल्लभाचार्य के मतानुयायी थे और उन्हीं के पुत्र तथा उत्तराधिकारी विट्ठलनाथजी द्वारा संघटित किए गए थे। गोसाईं विट्ठलनाथ ने अपने पिता आचार्य वल्लभ के उपदेशानुसार अत्यंत सरल तथा मधुर वाणी में भगवान् कृष्ण का यशोगान करनेवाले आठ सर्वोत्तम कवियों को चुनकर अष्टछाप संप्रदाय की प्रतिष्ठा की थी। अष्टछाप में सूरदास, कुंभनदास, परमा-

नंददास, कृष्णदास, छीत स्वामी, गोविंद स्वामी, चतुर्भुजदास और नंददास सम्मिलित थे जिनमें पहले चार स्वयं आचार्य वल्लभ के शिष्य थे और पिछले चार उनके पुत्र के। नीचे हम वल्लभाचार्य के जीवन तथा मत का संक्षिप्त विवरण देते हैं, क्योंकि अष्टछाप के कवियों से परिचित होने के लिये इसकी आवश्यकता है।

स्वामी वल्लभाचार्य का जन्म काशी के एक तैलंग ब्राह्मण के घर में संवत् १५३५ में हुआ था। इनके पिता विष्णु स्वामी संप्रदाय के अनुयायी थे। इन्हें काशी में शास्त्रीय शिक्षा मिली थी। ये संस्कृत के पंडित होकर बड़े शास्त्रार्थी बन गए थे और विशेषतः स्मार्तों का खंडन किया करते थे।

वल्लभाचार्य ने अनेक ग्रंथों का प्रणयन किया था तथा भाष्य आदि लिखे थे। "वेदांतसूत्र अनुभाष्य", भागवत की सुबोधिनी टीका तथा "तत्त्व-दीप निबंध", इनकी प्रधान कृतियाँ हैं। ये सब ग्रंथ इन्होंने संस्कृत में लिखे थे, हिंदी में नहीं। इनके मतानुयायियों में गिरिधर तथा बालकृष्ण भट्ट संस्कृत के पंडित थे जिन्होंने पुस्तकें लिखकर इनके सिद्धांतों का प्रचार किया था। गोस्वामी श्री पुरुषोत्तमजी भी इनकी शिष्य-परंपरा में अच्छे संस्कृतज्ञ और विद्वान् हो गए हैं।

यद्यपि वल्लभाचार्य अपने को अग्नि का अवतार मानते थे और स्वयं कृष्ण को ही अपना गुरु स्वीकार करते थे, पर उनके पिता के विष्णु-स्वामी-मत तथा निंबार्क संप्रदाय का उन पर विशेष प्रभाव लक्षित होता है। कृष्ण को परब्रह्म तथा राधा को उनकी चिरप्रणयिनी मानकर उनकी उपासना करना निंबार्क संप्रदाय के फल-स्वरूप ही समझना चाहिए।

इनके दार्शनिक सिद्धांत शुद्धाद्वैतवाद कहलाए, जिनमें एक ओर तो रामानुज की विशिष्टता दूर की गई है और दूसरी ओर शंकर का मायावाद अस्वीकृत किया गया। शंकर के ज्ञान के बदले ये भक्ति को ग्रहण करते हैं और भक्ति ही साधन तथा साध्य भी बतलाई जाती है। भक्ति ज्ञान से बढ़कर है क्योंकि वह ईश्वर की कृपा से मिलती है। ईश्वर की दया के लिये पुष्टि शब्द का व्यवहार किया गया है जो भागवत के आधार पर है। इसी लिये वल्लभाचार्य का भक्तिमार्ग पुष्टिमार्ग कहलाता है।

पुष्टिमार्ग के अनुसार कृष्ण ही ब्रह्म हैं जो सत् चित् और आनंद-स्वरूप हैं। जिस प्रकार अग्नि से चिनगारियाँ निकलती हैं, उसी प्रकार ब्रह्म से जीव और जगत् निकलते हैं। ये उससे भिन्न नहीं हैं। अंतर इतना ही है कि जीव आनंद को खोकर केवल सत् और चित् को अंशतः

धारण किए रहता है, मुक्त होकर जीव आनंदस्वरूप हो जाता है और कृष्ण के साथ चिरकाल तक एकाकार होकर रहता है। स्वर्गीय वृंदावन ही, जहाँ राधा और कृष्ण चिरंतन विहार करते हैं, भक्तों का आधार और लक्ष्य है।

शंकर के अनुसार वल्लभाचार्य जगत् को मिथ्या नहीं मानते। माया भी ब्रह्म की ही शक्ति है, अतः यह मायात्मक जगत् मिथ्या नहीं है। हाँ, माया में फँसे रहने के कारण जीव अपना शुद्ध स्वरूप नहीं पहचान सकता। जब ईश्वर का अनुग्रह होता है तब जीव माया से मुक्त होकर अपना शुद्ध स्वरूप पहचानता है और तब वह भी सत्, चित् और आनंद-स्वरूप हो जाता है।

ऊपर जिन दार्शनिक सिद्धांतों का विवरण दिया गया है उनके अतिरिक्त महात्मा वल्लभाचार्य ने कुछ व्यावहारिक नियम भी प्रचलित किए थे जिनका उनके संप्रदाय में अब तक पालन होता है। इन व्यावहारिक नियमों में सबसे अधिक उल्लेखनीय गुरु-शिष्य-संबंध है जिसका आगे चलकर बड़ा अनिष्टकर परिणाम हुआ। वल्लभाचार्य की शिष्यपरंपरा में यह नियम है कि गुरु की गद्दी का उत्तराधिकारी प्रत्येक शिष्य नहीं हो सकता, गुरु का पुत्र ही हो सकता है। गोसाईं विट्ठलनाथ भी इसी नियम के अनुसार गद्दी के उत्तराधिकारी हुए थे। आगे चलकर अयोग्य व्यक्तियों को भी गद्दी का अधिकार मिलने लगा; क्योंकि योग्य पिता की सदैव योग्य संतान नहीं हुआ करती। परंतु इन अयोग्य गुरुओं की पूजा बराबर उतनी ही विधिपूर्वक होती रही जितनी स्वयं कृष्ण की। इसका परिणाम अच्छा नहीं हुआ। गुरु धर्मोपदेशक और साधु न बनकर धनलोलुप तथा विलासप्रिय बन बैठे। उनका वैभव इतना बढ़ा कि वे राजाओं की भाँति संपत्तिशाली हो गए और महाराज की उपाधि भी उन्होंने धारण कर ली। महाराज मंदिर के सर्वेसर्वा होते हैं। भक्तजन उनको प्रसाद-प्राप्ति के लिये बड़ी बड़ी रकमें दान करते हैं। धीरे धीरे भक्त भी वे ही होने लगे जो विशेष धनवान् हों। इससे राधा-कृष्ण के स्वर्गीय प्रेम को लौकिक विलास-वासना का रूप मिला और संप्रदाय अधःपतित हो गया।

आजकल वल्लभ संप्रदाय के अनुयायी अधिकतर गुजरात तथा राजपुताने के धनी बनिए आदि हैं। बड़े बड़े नगरों में उनकी रासमंडलियाँ हैं जिनमें कृष्ण के रासमंडल का अनुकरण किया जाता है। इन मंडलियों में वास्तविक भक्त बहुत थोड़े और विलासी धनिक अधिक होते हैं। जिस प्रकार हिंदी साहित्य में सूर आदि की वाणी की ओर

में पिछले खेवे के शृंगारी कवियों को अपने कलुषित उद्‌गारों के व्यक्त करने का अवसर मिला और जिस प्रकार राधा-कृष्ण के नाम पर नायक नायिकाओं का जमघट तैयार हो गया जिसमें वासनापूर्ण भोगवाणी की ही अभिव्यंजना अधिक हुई, उसी प्रकार वल्लभाचार्य के आधुनिक अनुयायियों में सच्चे स्वर्गीय प्रेम की ओर उतना अनुराग नहीं है जितना उस स्वर्गीय प्रेम की लौकिक प्रतिकृति बनाकर अपनी कामवृत्तियों के परितोष की ओर है।

वल्लभाचार्य के संप्रदाय का तत्कालीन उत्तर भारत पर अभूतपूर्व प्रभाव पड़ा, और कृष्णभक्ति के अन्य छोटे बड़े संप्रदाय इसके वेग में विलीन हो गए। व्रजभाषा के अधिकांश भक्त कवि इसके अनुयायी थे और जिन कवियों ने इससे अलग रहकर रचना की है, उन पर भी इसका स्पष्ट प्रभाव देख पड़ता है। विष्णु स्वामी तथा निंबार्क आदि के संप्रदाय इसके सामने दब गए। उत्तर में वल्लभ संप्रदाय तथा बंगाल में चैतन्य संप्रदाय के कवियों की ही धूम रही, अन्य सब मत फीके पड़ गए। हमारी सम्मति में रामानंद द्वारा आविर्भूत तथा तुलसीदास द्वारा परिपुष्ट रामभक्ति के तत्कालीन ह्रास का एक कारण कृष्णभक्ति के इन संप्रदायों का वेगपूर्ण अभ्युत्थान भी है। राधा और कृष्ण की उपासना-वाणी सारे उत्तर भारत के एक कोने से दूसरे कोने तक गूँज उठी, जनता सब कुछ भूलकर उस सरस स्रोत में बह चली।

सूरदास

वल्लभाचार्य के शिष्यों में सर्वप्रधान, सूरसागर के रचयिता, हिंदी के अमर कवि महात्मा सूरदास हुए जिनकी सरस वाणी से देश के असंख्य सूखे हृदय हरे हो उठे और भग्नाश जनता को जीने का नवीन उत्साह मिला। इनका जन्म-संवत् लगभग १५४० था। आगरा से मथुरा जानेवाली सड़क के किनारे रुनकता नामक गाँव में इनकी जन्मभूमि थी। चौरासी वैष्णवों की वार्ता तथा भक्तमाल के साक्ष्य से ये सारस्वत ब्राह्मण ठहरते हैं, यद्यपि कोई कोई इन्हें महाकवि चंद बरदाई के वंशज भाट कहते हैं। इनके अंधे होने के संबंध में यह प्रवाद प्रचलित है कि वे जन्म से अंधे थे; पर एक बार जब वे कूएँ में गिर पड़े थे तब श्रीकृष्ण ने उन्हें दर्शन दिए थे और वे दृष्टि-संपन्न हो गए थे। परंतु उन्होंने कृष्ण से यह कहकर अंधे बने रहने का वर माँग लिया कि जिन आँखों से भगवान् के दर्शन किए, उनसे अब किसी मनुष्य को न देखें। इस प्रवाद का आधार उनके दृष्टकूटों की एक टिप्पणी है। इसे असत्य न मानकर यदि एक प्रकार का रूपक मान लें तो कोई हानि नहीं। सूर वास्तव

में जन्मांध नहीं थे, क्योंकि शृंगार तथा रंग रूपादि का जो वर्णन उन्होंने किया है वैसा कोई जन्मांध नहीं कर सकता। जान पड़ता है, कूएँ में गिरने के उपरांत उन्हें कृष्ण की कृपा से ज्ञानचक्षु मिले, पहले इस चक्षु से वे हीन थे। यही आशय उक्त कहानी से ग्रहण किया जा सकता है।

जब महात्मा वल्लभाचार्य से सूरदासजी की भेंट हुई थी तब तक वे वैरागी के वेष में रहा करते थे। तब से ये उनके शिष्य हो गए और उनकी आज्ञा से नित्य प्रति अपने उपास्य देव और सखा कृष्ण की स्तुति में नवीन भजन बनाने लगे। इनकी रचनाओं का बृहत् संग्रह सूरसागर है जिसमें एक ही प्रसंग पर अनेक पदों का संकलन मिलता है। भक्ति के आवेश में वीणा के साथ गाते हुए जो सरस पद उन अंध कवि के मुख से निस्सृत हुए, उनमें प्रतिभा का नवनवोन्मेष भरा हुआ है; उनकी मर्म-स्पर्शिता और हृदयहारिता में किसी को कुछ भी संदेह नहीं हो सकता।

सूरसागर के संबंध में कहा जाता है कि उसमें सवा लाख पदों का संग्रह है पर अब तक सूरसागर की जो प्रतियाँ मिली हैं उनमें छः हजार से अधिक पद नहीं मिलते। परंतु यह संख्या भी बहुत बड़ी है। इतनी ही कविता उसके रचयिता को सरस्वती का वरद पुत्र सिद्ध करने के लिये पर्याप्त है। इस ग्रंथ में श्रीमद्भागवत की संपूर्ण कथाओं का सन्निवेश किया गया है किंतु विशेषतः कृष्ण की बाललीला से लेकर उनके गोकुलत्याग और गोपिकाओं के विरह तक की कथा फुटकर पदों में विस्तार के साथ कही गई है। ये पद मुक्तक के रूप में होते हुए भी एक भाव को पूर्णता तक पहुँचा देते हैं। सभी पद गेय हैं, अतः सूरसागर को हम गीत-काव्य कह सकते हैं। गीत-काव्य में जिस प्रकार छोटे छोटे रमणीय प्रसंगों को लेकर रचना की जाती है, प्रत्येक पद जिस प्रकार स्वतः पूर्ण तथा निरपेक्ष होता है, कवि के आंतरिक हृदयोद्गार होने के कारण उसमें जैसे कवि की अंतरात्मा झलकती देख पड़ती है, विवरणात्मक कथा-प्रसंगों का बहिष्कार कर तथा क्रोध आदि कठोर और कर्कश भावों का सन्निवेश न कर उसमें जैसे सरसता और मधुरता के साथ कोमलता रहती है, उसी प्रकार सूरसागर के गेय पदों में उपर्युक्त सभी बातें पाई जाती हैं। यद्यपि कृष्ण की पूरी जीवन-गाथा भी सूरसागर में मिलती है, पर उसमें कथा कहने की प्रवृत्ति बिलकुल नहीं देख पड़ती, केवल प्रेम, विरह आदि विभिन्न भावों की वेगपूर्ण व्यंजना उसमें बड़ी ही सुंदर बन पड़ी है।

सूरसागर के आरंभिक नवस्कंधों में विनय के पद, सृष्टि-क्रम तथा चौबीस अवतारों का वर्णन, आर्यावर्त के नृपतियों का पौराणिक परिचय,

भागवत पुराण की आध्यात्मिक व्याख्या आदि के विषय आए हैं। इनमें मुख्यतः श्रीमद्भागवत का ही तथा कहीं कहीं कुछ अन्य पुराणों का अनुसरण किया गया है। दशम स्कंध में कृष्ण-जन्म से कथा का आरंभ हुआ है। यशोदा के गृह में पहुँचकर कृष्ण धीरे धीरे बड़े होने लगे। उस काल की उनकी बाल-लीलाओं का जितना विशद वर्णन सूरदास ने किया उतना हिंदी के अन्य किसी कवि ने नहीं किया। कृष्ण अभी कुछ ही महीनों के हैं, माँ का दूध पीते हैं, माँ यह अभिलाषा करती है कि बालक कब बड़ा होगा, कब इसके दो नन्हें नन्हें दाँत जमेंगे, कब यह माँ कहकर पुकारेगा, कब घुटनों के बल घर भर में रेंगता फिरेगा आदि आदि। माँ बालक को दूध पिलाती है, न पीने पर उसे चोटी बढ़ने का लालच दिखाती है। उसे आकाश के चंद्रमा के लिये रोते देख थाल में पानी भरकर चाँद को बालक के लिये भूमि पर ला देती है। कितना वात्सल्य स्नेह, कितना सूक्ष्म निरीक्षण और कितना वास्तविक वर्णन है। इस प्रकार के असंख्य सूक्ष्म भावों से युक्त अनेक रसपूर्ण पद कहे गए हैं। इन्हीं से उस युग की संस्कृति का निर्माण हुआ था, और इनमें उसका पूर्ण प्रतिबिंब भी मिलता है। कृष्ण कुछ बड़े होते हैं। मणि-खंभों में अपना प्रतिबिंब देखकर प्रसन्न होते और मचलते हैं। घर की देहली नहीं लाँघ पाते। कृष्ण और बड़े होते हैं, वे घर से बाहर जाते, गोप सखाओं के साथ खेलते-कूदते और बालचापल्य प्रदर्शित करते हैं। उनके माखन-चोरी, आदि प्रसंगों में गोपिकाओं के प्रेम की व्यंजना भरी पड़ी है। गोपियाँ बाहर से यशोदा के पास उपालंभ आदि लाती हैं, पर हृदय से वे कृष्ण की लीलाओं पर मुग्ध हैं। प्रेम का यह अंकुर बड़ी ही शुद्ध परिस्थिति में देख पड़ता है। कृष्ण की यह किशोरावस्था है, कलुष या वासना का नाम भी नहीं है। शुद्ध स्नेह है। आगे चलकर कृष्ण सारे व्रजमंडल में सबके स्नेहभाजन बन जाते हैं। उनका गोचारण उन्हें मनुष्यों के परिमित क्षेत्र से ऊपर उठाकर पशुओं के जगत् तक पहुँचा देता है। वंशीवट और यमुनाकुंजों की रमणीक स्थली में कृष्ण की जो सुंदर मूर्ति गोप-गोपिकाओं के साथ मुरली बजाते और स्नेहलीला करते अंकित की गई है, वैसी सुषमा का चित्रण करने का सौभाग्य संभवतः संसार के किसी अन्य कवि को नहीं मिला। व्रज-मंडल की यह महिमा अपार है। कृष्ण का व्रजनिवास स्वर्ग को भी ईर्ष्यालु करने की क्षमता रखता है।

गोपिकाओं का स्नेह बढ़ता है। वे कृष्ण के साथ रासलीला में सम्मिलित होती हैं, अनेक उत्सव मनाती हैं। प्रेममयी गोपिकाओं का

यह आचरण बड़ा ही रमणीय है। उसमें कहीं से अस्वाभाविकता नहीं आ सकी। कोई कृष्ण की मुरली चुराती, कोई उन्हें अबीर लगाती और कोई चोली पहनाती है। कृष्ण भी किसी की वेणी गूँथते, किसी की आँखें मूँद लेते और किसी को कदंब के तले वंशी बजाकर सुनाते हैं। एकाध बार उन्हें लज्जित करने की इच्छा से चीरहरण भी करते हैं। गोपी-कृष्ण की यह संयोगलीला भक्तों का सर्वस्व है।

संयोग के उपरांत वियोग होता है। कृष्ण वृंदावन छोड़कर मथुरा चले जाते हैं। वहाँ राजकार्यों में संलग्न हो जाने के कारण प्यारी गोपियों को भूल से जाते हैं। गोपिकाएँ विरह में व्याकुल नित्य प्रति उनके आने की प्रतीक्षा में दिन काटती हैं। कृष्ण नहीं आते। गोपियों के भाग्य का यह व्यंग्य उन्हें कुछ देर के लिये विचलित कर देता है। उद्धव उन्हें ज्ञान समझाने आते हैं, पर उनके ज्ञानोपदेश को वे स्वीकार नहीं करतीं। कृष्ण की साकार अनंत सौंदर्यशालिनी मूर्ति उनके हृदय-पटल पर अमिट अंकित है। कृष्ण चाहे जहाँ रहें, वे उन्हें भूल नहीं सकतीं। यह अनंत प्रेम का दिव्य संदेश भक्तों के हृदय का दृढ़ अवलंब है।

इसी कथानक के बीच कृष्ण के लोक-रक्षक स्वरूप की व्यंजना करते हुए उनमें असीम शक्ति की प्रतिष्ठा की गई है। थोड़ी आयु में ही वे पूतना जैसी महाकाय राक्षसी का वध कर डालते हैं। आगे चलकर केशी, बकासुर आदि दैत्यों के वध और कालिय-दमन आदि प्रसंगों को लाकर कृष्ण के बल और वीरता का प्रदर्शन किया गया है। परंतु हमको यह स्वीकार करना पड़ता है कि सूरदास ने ऐसे वर्णनों की ओर यथोचित ध्यान नहीं दिया है। सूरदास के कृष्ण महाभारत के कृष्ण की भाँति नीतिज्ञ और पराक्रमी नहीं हैं; वे केवल प्रेम के प्रतीक और सौंदर्य की मूर्ति हैं।

कृष्ण के शील का भी थोड़ा-बहुत आभास सूर ने दिया है। माता यशोदा जब उन्हें दंड देती हैं, तब वे रोते कलपते हुए उसे झेलते हैं। इसी प्रकार जब गोचारण के समय उनके लिये छाक आती है, तब वे अकेले ही नहीं खाते, सबको बाँटकर खाते हैं और कभी किसी का जूठा लेकर भी खा लेते हैं। बड़े भाई बलदेव के प्रति भी उनका सम्मान भाव बराबर बना रहता है। यह सब होते हुए भी यह कहना पड़ता है कि सूरदास में कृष्ण की प्रेममयी मूर्ति की ही प्रधानता है, रामचरित-मानस की भाँति उसमें लोकादर्शों की ओर ध्यान नहीं दिया गया।

सूरदास ने फुटकर पदों में राम-कथा भी कही है; पर वह वैसी ही बन पड़ी है, जैसे तुलसी की कृष्ण-गीतावली। इसके अतिरिक्त

उनके कुछ दृष्टकूट और कूट पद भी हैं जिनकी क्लिष्टता का परिहार विशेषज्ञ ही कर सकते हैं। काव्य की दृष्टि से कूटों की गणना निम्न-श्रेणी में होगी। सूरदास की कीर्ति को अमर कर देने और हिंदी कविता में उन्हें उच्चासन प्रदान करने के लिये उनका वृहदाकार ग्रंथ सूरसागर ही पर्याप्त है। सूरसागर हिंदी की अपने ढंग की अनुपम पुस्तक है। शृंगार और वात्सल्य का जैसा सरस और निर्मल स्रोत इसमें बहा है वैसा अन्यत्र नहीं देख पड़ता। सूक्ष्मातिसूक्ष्म भावों तक सूर की पहुँच है, साथ ही जीवन का सरल अकृत्रिम प्रवाह भी उनकी रचनाओं में दर्शनीय है। यह ठीक है कि लोक के संबंध में गंभीर व्याख्याएँ सूरदास ने अधिक नहीं कीं, पर मनुष्यजीवन में कोमलता, सरलता और सरसता भी उतनी ही प्रयोजनीय है, जितनी गंभीरता। तत्कालीन स्थिति को देखते हुए तो सूरदास का उद्योग और भी स्तुत्य है। परंतु उनकी कृति तत्कालीन स्थिति से संबंध रखती हुई भी, सार्वकालीन और चिरंतन है। उनकी उत्कट कृष्णभक्ति ने उनकी सारी रचनाओं में जो रमणीयता भर दी है, वह अतुलनीय है। उनमें नवोन्मेषशालिनी अद्भुत प्रतिभा है। उनकी पवित्र वाणी में जो अनूठी उक्तियाँ आपसे आप आकर मिल गई हैं, अन्य कवि उनकी जूठन से ही संतोष करते रहे हैं। सूरदास हिंदी के अन्यतम कवि हैं। उनके जोड़ का कवि गोस्वामी तुलसीदास को छोड़कर दूसरा नहीं है। इन दोनों महाकवियों में कौन बड़ा है, यह निश्चयपूर्वक कह सकना सरल काम नहीं। भाषा पर अवश्य तुलसीदास का अधिकार अधिक व्यापक था। सूरदास ने अधिकतर ब्रज की चलती भाषा का ही प्रयोग किया है। तुलसी ने ब्रज और अवधी दोनों का प्रयोग किया है और संस्कृत का पुट देकर उनको पूर्ण साहित्यिक भाषा बना दिया है। परंतु भाषा को हम काव्य-समीक्षा में अधिक महत्त्व नहीं देते। हमें भावों की तीव्रता और व्यापकता पर विचार करना होगा। तुलसी ने रामचरित का आश्रय लेकर जीवन की अनेक परिस्थितियों तक अपनी पहुँच दिखलाई है। सूरदास के कृष्णचरित्र में उतनी विविधता न हो किंतु प्रेम की मंजु छवि का जैसा अंतर-बाह्य चित्रण सूरदासजी ने किया है वह भी अद्वितीय है। मधुरता सूर में तुलसी से अधिक है। जीवन के अपेक्षाकृत निकटवर्ती क्षेत्र को लेकर उसमें अपनी प्रतिभा का पूर्ण चमत्कार दिखा देने में सूर की सफलता अद्वितीय है। सूक्ष्मदर्शिता में भी सूर अपना जोड़ नहीं रखते। तुलसी का क्षेत्र सूर की अपेक्षा भिन्न है। व्यवहार-दशाओं की अधिकता तुलसी तथा प्रेम की अधिक विस्तृत व्यंजना सूर के

काव्य में प्राप्त होती है। पर शुद्ध कवित्व की दृष्टि से दोनों का समान अधिकार है। दोनों ही हमारे सर्वश्रेष्ठ जातीय कवि हैं। सूरदास के संबंध में कहे गए निम्नांकित दोहे को हम अनुचित नहीं समझते—

सूर सूर तुलसी ससी उड़गन केशवदास।
अब के कवि खद्योत सम जहँ तहँ करत प्रकास॥

अन्य कवि

अष्टछाप के अन्य कवियों में रासपंचाध्यायी, भ्रमरगीत आदि के रचयिता "सब कवि गढ़िया नंददास जड़िया" के लक्ष्य सुंदर अनुप्रास-मिश्रित संस्कृतभाषामय पदावली का प्रणयन करनेवाले सूरदास के हीं समकालीन नंददासजी हुए जिन्होंने भागवत की कथा लेकर काव्यरचना की। इन्होंने अपने भ्रमरगीत में सगुणोपासना का समर्थन शास्त्रीय पद्धति पर और हार्दिक अनुभूति के आधार पर किया है। इनका भ्रमरगीत हिंदी का उत्कृष्ट विरह-काव्य है। इनके अतिरिक्त राधा-कृष्ण के प्रेम में मग्न सरस शृंगारिक रचना पर कृष्णदास, अपने पदों से आचार्य वल्लभ को भाव-मग्न करने की क्षमता रखनेवाले कन्नौज-निवासी परमानंददास, अकबर के निमंत्रण और सम्मान की परवा न करनेवाले सच्चे भक्त कुंभनदास, उनके पुत्र चतुर्भुजदास, ब्रजभूमि और ब्रजेश की ओर अनन्य भाव से आकर्षित छीत स्वामी, गोवर्द्धन पर्वत पर कदंब उपवन लगाकर निवास करनेवाले गायक गोविंद स्वामी आदि अष्टछाप के शेष कवि हैं। प्रत्येक ने भक्ति-भाव-संयुक्त कृष्ण की उपासना की और पूरी क्षमता से प्रेम और विरह के सुंदर गेय पद बनाए। सबकी वाणी में वह तन्मयता है जो गीत काव्य के लिये परम उपयोगिनी है। सरस भक्तिपूर्ण पदों का यह प्रवाह रुका नहीं, चलता ही रहा। आगे चलकर जब कृष्ण की उपासना में लौकिक विषय-वासनाएँ आ मिलीं, तब कविता अपने उच्चासन से गिरी और मनुष्य की भोग-वृत्तियों के परितोष का साधन बन गई। इसके लिये कुछ समालोचक इन भक्त कवियों पर दोषारोपण करते हैं। उनके मत में भक्त कवियों की रचनाओं में जो शृंगारिकता है वही बीज बनकर हिंदी के पिछले समय की रचनाओं में व्याप्त हो गई। परंतु इसके लिये हम भक्त कवियों को दोषी नहीं ठहरा सकते। प्रत्येक सुंदर वस्तु का दुरुपयोग हो सकता है; पर इसके लिये सुंदर वस्तु की निंदा करना व्यर्थ है। पिछले खेवे की गंदी रचनाओं का कारण तत्कालीन जनता की विलास-प्रिय मनोवृत्ति है, भक्तों की पूत वाणी नहीं। शुद्ध प्रेम का प्रवाह बहाकर भगवान् कृष्ण की स्तुति में आत्मविस्मरण कर देनेवाले भक्त कवियों का हिंदी कविता पर जो महान् ऋण है, उसे हम सभी स्वीकार करेंगे।

अष्टछाप के बाहर रहकर भक्ति-काव्य की रचना करनेवालों में हितहरिवंश और स्वामी हरिदास विशेष रीति से उल्लेखनीय हैं, क्योंकि ये दोनों ही उत्कृष्ट पदों के प्रणेता और नवीन संप्रदायों के स्रष्टा हुए। हितहरिवंशजी माधव और निंबार्क मतों से प्रभावित थे, पर उन्होंने राधा की उपासना को ग्रहण कर राधावल्लभी संप्रदाय का सृजन किया। उन्होंने "राधासुधानिधि" और "हित चौरासी" नामक दो पुस्तकें लिखीं जिनमें पहली संस्कृत में है। इसके अतिरिक्त उनके स्फुट पद भी मिलते हैं। इनके मतानुसार राधा रानी हैं, कृष्ण उनके दास हैं, राधा की उपासना से कृष्ण का प्रसाद मिल सकता है। "हित चौरासी" के सभी पद अत्यंत कोमल और सरस भावापन्न हैं। इनके शिष्यों में ध्रुवदास और व्यासजी प्रधान हुए, जिनकी रचनाओं से हिंदी की पर्याप्त श्रीवृद्धि हुई।

हितहरिवंश, हरिदास, रसखान

स्वामी हरिदास निंबार्क मतानुयायी थे, पर उन्होंने अपना अलग संप्रदाय खोला जो टट्टी संप्रदाय कहलाया। ये प्रसिद्ध गायक और कवि थे। अकबरी दरबार के प्रख्यात गायक तानसेन के और स्वयं अकबर के ये संगीतगुरु कहे जाते हैं। इनकी रचनाओं में संगीत की राग-रागिनियों का सुंदर समावेश हुआ है।

कृष्णभक्त कवियों के इस अभ्युत्थान-काल में हम अत्यंत सरस पदों के रचयिता सच्चे प्रेममग्न कवि रसखान को नहीं भूल सकते, जो विधर्मी होते हुए भी व्रज की अनुपम मधुरिमा पर मुग्ध और कृष्ण की ललित लीलाओं पर लट्टू थे। जाति-पाँति के बंधनों के बहुत ऊपर जो शुद्ध प्रेम का सात्त्विक बंधन है, उसी में रसखान बँधे थे। उनकी रचनाओं में व्रजभाषा का सरस और सानुप्रास प्रवाह मनोमुग्धकारी बन पड़ा है। हिंदी के मुसलमान कवियों में रसखान का स्थान बहुत ऊँचा है। जायसी आदि की भाँति ये बाहर के मतों में लिप्त न रहकर भगवान् कृष्ण की सगुणोपासना में लीन हुए। यह उनके उदार हृदय का परिचायक और तत्कालीन भक्तिप्रवाह के सर्वतोव्याप्त प्रसार का द्योतक है।

कृष्ण-भक्ति की कविता इस काल के उपरांत कम हो चली। अकबर के सुख-समृद्धि-पूर्ण साम्राज्य में कृष्ण की भक्ति को फूलने फलने का अवसर मिला था। अकबर की धर्मनीति विशेष उदार थी; अतः उसके शासनकाल में बिना किसी विघ्न-बाधा के अनेक धार्मिक संप्रदाय विकसित हुए थे। प्रत्येक संप्रदाय अपने इच्छानुसार उपासना कर सकता था और अपनी रुचि

पीछे के कृष्ण-भक्त

के अनुसार मंदिरों का निर्माण कर सकता था। जनता की समृद्धि से मंदिर-निर्माण में और भी सहायता मिली थी। परंतु अकबर के उपरांत परिस्थिति बदली। अकबर की भाँति सहृदयता और उदार मनोभावों वाला दूसरा नृपति दिल्ली के सिंहासन पर नहीं बैठा। साथ ही धन-संपत्ति की वृद्धि से स्वभावतः विलास की ओर अधिक प्रेरणा मिली। हिंदी साहित्य भी अब अधिक प्रौढ़ हो चुका था। उपर्युक्त कारणों से साहित्य का प्रवाह धार्मिक क्षेत्र से निकलकर दूसरी ओर बहा। रीति-ग्रंथों और मुक्तक श्रृंगारिक रचनाओं की ओर प्रवृत्ति बढ़ी। परंतु इसका यह तात्पर्य नहीं कि उस काल के उपरांत कृष्णोपासना का क्रम एकदम से टूट गया और भक्तिकाव्य की रचना सर्वदा बंद हो गई। ऐसा नहीं हुआ, श्रृंगार की वृद्धि में शुद्ध भक्ति एकदम खो नहीं गई। वल्लभाचार्य की पाँचवीं पीढ़ी में भक्तवर नागरीदास हुए जिनके रचे ७३ भक्ति-ग्रंथ मिले हैं। उनकी रचनाएँ उच्च कोटि की हैं। उनके अति-रिक्त विष्णु स्वामी संप्रदाय में अलबेली अली नामक भक्त कवि विक्रम की अठारहवीं शताब्दी के अंतिम चरण में हुए। इनकी "समय प्रबंध पदावली" बड़ी ही सरस और भावपूर्ण रचना है। इन्हीं के सम-कालीन राधावल्लभी संप्रदाय में चाचा हितवृंदावनदास हुए जिनका पदों का विस्तृत संग्रह प्राप्त हुआ है। यद्यपि इनकी रचनाओं में बहुत से पुराने भक्तों के भाव आए हैं, पर इनकी इतनी अधिक कृतियों में मौलिक उद्भावनाएँ भी कम नहीं हैं। ब्रजवासीदास का प्रसिद्ध ग्रंथ "ब्रजविलास" प्रबंधकाव्य की शैली पर दोहे चौपाइयों में लिखा गया, पर इसमें इस काल की भक्ति का ह्रास बोल रहा है। ग्रंथ साधारण जनता में थोड़ी सी प्रसिद्धि पा सका। इसके अतिरिक्त सबलसिंह चौहान ने महाभारत का अनुवाद किया, पर उन्हें भक्त-कवि मानना ठीक न होगा।

आधुनिक युग भक्ति का नहीं है, परंतु ब्रजभाषा के कुछ कवियों ने कृष्णसंबंधी कविता की है। स्वर्गीय पंडित सत्यनारायण कविरत्न के कुछ पदों में कृष्ण-भक्ति की अच्छी झलक देख पड़ी, पर उनकी असमय मृत्यु से वह अधिक स्थायी न हो सकी। वर्तमान कवियों में वियोगी हरिजी के कुछ गद्य-काव्यों में कृष्ण के प्रति स्नेह देख पड़ता है। गद्य-काव्यों में ही नहीं, कुछ फुटकर पदों में भी इन्होंने भक्तों की भाँति अपने कृष्णानुराग की व्यंजना की है जो सुंदर भी हुई है। कुछ अन्य भक्त भी हैं; पर उनकी रचनाएँ साहित्यकोटि में नहीं आतीं। कृष्ण के जीवन के एक अंश को लेकर पंडित अयोध्यासिंह उपाध्याय ने "प्रियप्रवास"

की रचना की है; पर उसमें कृष्ण में देवत्व की प्रतिष्ठा नहीं की गई, वे महापुरुष मात्र माने गए हैं। श्री मैथिलीशरण गुप्त ने मधुसूदन दत्त के "विरहिणी-ब्रजांगना" काव्य का हिंदी में अनुवाद किया है। उसमें राधा के विरह की व्यंजना हुई है, पर पुराने भक्तों ने जितनी तन्मयता के साथ कृष्ण-भक्ति के उद्गार व्यक्त किए थे, इन दिनों उसका अल्पांश भी कठिनता से देख पड़ता है। अभी हाल में 'द्वापर' नामक उनका स्वतंत्र काव्य-ग्रंथ प्रकाशित हुआ है जिसमें श्रीकृष्ण संबंधिनी सुंदर चर्चा है।

कृष्णभक्ति-काव्य का चरम उत्कर्ष सूरदास की रचनाओं में देख पड़ा। सूरदास अकबर के समकालीन थे। अकबर के शासनकाल में सभी कलाओं की अनेकमुखी उन्नति हुई थी। साहित्य और कविता पर सम्राट् का पर्याप्त अनुराग था। वे स्वयं ब्रजभाषा की कविता करते थे। ऐसी अवस्था में उनके शासन-समय में साहित्य की उन्नति होना स्वाभाविक ही था। केवल कृष्णभक्ति की कविता की उन्नति ही उस काल में नहीं हुई थी; वरन् अनेक अन्य विषयों से संबंध रखनेवाली कविताओं का भी उस काल में विकास हुआ था। इस विकास को मुख्यतः दो श्रेणियों में रखा जा सकता है। एक तो वह जो अकबर के दरबार से संपर्कित होने के कारण उससे प्रत्यक्ष संबंध रखता है; और दूसरा वह जो देश और साहित्य की सामान्य अवस्थाओं के आधार पर हुआ, अतः जिसमें अकबर का हाथ प्रत्यक्ष तो नहीं देख पड़ता, हाँ दूर से भले ही कुछ संबंध ठहरे। पहली श्रेणी श्रृंगार और नीति के फुटकर रचनाकारों और कवियों की है और दूसरी में रीतिग्रंथ लिखनेवाले वे कवि आते हैं जो अधिकतर संस्कृत के पंडित और राजदरबारी थे। पहले वर्ग के प्रतिनिधि कवि रहीम, गंग और नरहरि आदि और दूसरे के महाकवि केशवदास थे। इनके अतिरिक्त सेनापति आदि इसी काल के कुछ अन्य कवि हुए, जिन्हें भी पहले वर्ग में ही रखा जा सकता है। इस अध्याय में कृष्णभक्ति की कविता के साथ साथ चलनेवाली उन कृतियों का उल्लेख भी हम करेंगे जिन्हें हमने उपर्युक्त पहले वर्ग में रखा है। दूसरे वर्ग के संबंध में हम अगले अध्याय में लिखेंगे क्योंकि वास्तव में उस वर्ग के कवियों का यह आविर्भाव-काल ही था, उसका विकास बहुत पीछे चलकर हुआ था।

कृष्णभक्ति काल की अन्य रचनाएँ

ये अकबर के दरबार के उच्च कर्मचारी होते हुए भी हिंदी कविता की ओर खिंचे थे। नीति के सुंदर सुंदर दोहे इन्होंने बड़ी मार्मिकता से कहे। जीवन के सुख-वैभव का अच्छा अनुभव करने के कारण रहीम

की तत्संबंधी उक्तियों में तीव्र भावव्यंजना है। दोहों के अतिरिक्त इन्होंने बरवै, सोरठा, सवैया, कवित्त आदि अनेक छंदों तथा संस्कृत के वृत्तों में भी रचना की है। उनका बरवै छंदों में लिखा नायिकाभेद ठेठ अवधी के माधुर्य से समन्वित है। कहते हैं कि गोस्वामी तुलसीदास तक ने इससे प्रभावित होकर इसी छंद में बरवै रामायण लिखी थी। गोस्वामीजी की ही भाँति रहीम का अवधी और व्रज भाषाओं पर समान अधिकार था और गोस्वामीजी की रचनाओं की भाँति इनकी रचनाएँ भी जनता में अत्यधिक प्रचलित हुई। गोस्वामीजी से इनकी भेंट हुई थी और दोनों में सौहार्द भाव भी था। ये बड़े ही उदारहृदय दानी थे और इनका अनुभव बड़ा ही विस्तृत, सूक्ष्म और व्यावहारिक था।

रहीम

ये दोनों ही अकबर के दरबार के श्रेष्ठ हिंदू कवि थे। गंग की शृंगार और वीर रस की जो रचनाएँ संग्रहों में मिली हैं, उनसे इनके भाषा-अधिकार और वाग्वैदग्ध्य का पता चलता है। जनता में इनका बड़ा नाम है, परंतु इनकी रचित एक भी पुस्तक अब तक नहीं मिली। "तुलसी गंग दोऊ भए सुकविन के सरदार" की पंक्ति इन्हीं को लक्ष्य करके कही गई है। नरहरि बंदीजन अकबर के दरबार में सम्मानित हुए थे। ऐसा कहते हैं कि बादशाह ने इनका एक छप्पय सुनकर अपने राज्य में गोवध बंद कर दिया था। नीति पर इन्होंने अधिक छंद लिखे।

गंग और नरहरि

अकबर के दरबारियों में बीरबल और टोडरमल भी कवि हो गए हैं। बीरबल अकबर के मंत्रियों में से थे और अपनी वाक्चातुरी तथा विनोद के लिये प्रसिद्ध थे। इनके आश्रय में कवियों को अच्छा सम्मान मिला था और इन्होंने स्वयं व्रजभाषा में सरस और सानुप्रास रचना की थी। महाराज टोडरमल के नीति-संबंधी फुटकर छंद मिलते हैं जो कविता की दृष्टि से बहुत उच्च कोटि के नहीं हैं। इनके अतिरिक्त मनोहर, होलराय आदि कवि भी अकबरी दरबार में थे। स्वयं बादशाह अकबर की भी व्रजभाषा में कुछ रचनाएँ पाई जाती हैं। व्रजभाषा को इतना बड़ा राजसम्मान इनके पहले कभी नहीं मिला था।

बीरबल और टोडर

दरबार से असंपर्कित कवियों में सेनापति का स्थान सर्वोच्च है। ये कान्यकुब्ज ब्राह्मण और अच्छे भक्त थे। पहले ये किसी दरबार में रहे हों, पर जीवन के पिछले अंश में तो ये संन्यासी हो गए थे। इन्होंने षट्ऋतुओं का वर्णन किया है जो बड़ा ही हृदयग्राही हुआ है। इन्हें प्रकृति की सूक्ष्म सूक्ष्म बातों का

सेनापति

अनुभव भी था और इनका निरीक्षण भी विशेष मार्मिक था। इनकी पिछले समय की भक्ति और विराग की रचनाएँ चित्त पर स्थायी प्रभाव डालती हैं। भाषा ब्रज की ग्रामीण होते हुए भी अलंकृत है। इनका कवित्त-रत्नाकर अब तक अप्रकाशित है।

इसी काल की कृतियों में नरोत्तमदास का "सुदामा-चरित्र" भी है, जो कविता की दृष्टि से अच्छा है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अकबर और जहाँगीर के राजत्वकाल में हिंदी कविता, क्या भाषा और क्या भाव की दृष्टि से, विशेष प्रौढ़ हो गई। इस काल में थोड़ी सी रचना गद्य में भी हुई; पर हिंदी में तब तक गद्य के विकास का युग नहीं आया था।

दसवाँ अध्याय

रीति काल

जिस युग में कबीर, जायसी, तुलसी, सूर जैसे रससिद्ध कवियों और महात्माओं की दिव्य वाणी उनके अंतःकरणों से निकलकर देश के कोने कोने में फैली थी, उसे साहित्य के इतिहास में सामान्यतः भक्तियुग कहते हैं। निश्चय ही वह हिंदी साहित्य का स्वर्णयुग था। भक्ति के उस पावन स्रोत में कितनी ही छोटी बड़ी धाराएँ आ मिली थीं, जिनसे उसका प्रवाह अक्षय और वेग अप्रतिहत हो गया था। न जाने कितने भक्तों ने अपनी अंतरात्मा की पुकार को वाणीबद्ध करके हिंदी का अपार कल्याण किया और न जाने कितने हृदय मुरझाकर सूख जाने से बचे। भारतीय जनसमाज के उस घोर आपत्काल में भक्तों ने ही शांति और सांत्वना का विधान किया था और उन्हीं की उदारता तथा दूरदर्शिता के फल-स्वरूप निराश और भग्नहृदय हिंदुओं में नवीन आशा और उत्साह आदि का संचार हुआ था। मुसलमानों का विजयगर्व बहुत कुछ कम हो जाने के कारण उनमें संयम तथा सहानुभूति का प्रादुर्भाव हो गया था। उस काल में जिन उत्कृष्ट आदर्शों की प्रतिष्ठा हुई थी, वे भक्त कवियों की अनुभूति और उदारता के परिणाम स्वरूप थे। यही कारण है कि वे इतने सर्व-मान्य और व्यापक हो सके थे। उन आदर्शों में उन कवियों और महा-पुरुषों का जो जीवन छिपा हुआ है, वही उनका सत्य संदेश है। जब जिस साहित्य में अंतरात्मा की पुकार पर निर्माण का कार्य होता है, तब उसमें ऐसी ही दिव्य भावनाओं का आविर्भाव होता है, जिनसे साहित्य में उन्नत युग का आभास मिले बिना नहीं रह सकता।

भक्ति और रीति

उन संतों और भक्तों में इतनी नम्रता और विनयबुद्धि थी, वे इतने उदार और उन्नत-हृदय थे कि न तो संसार की माया-ममता उन्हें उनके पथ से डिगा सकती थी और न तुच्छ आकांक्षा ही उन्हें मोह सकती थी। जो कुछ उनकी आत्मा का संदेश था, जो कुछ वे कहने आए थे, उसे निर्भीक होकर स्पष्ट शब्दों में उन्होंने कहा। यही कारण है कि उनकी वाणी में बाह्य आडंबर बहुत कम है। क्या वर्णित विषय की दृष्टि से और क्या भाषा की दृष्टि से, सब में एक निसर्गसिद्ध सौंदर्य

अनुभव भी था और इनका निरीक्षण भी विशेष मार्मिक था। पिछले समय की भक्ति और विराग की रचनाएँ चित्त पर स्थार डालती हैं। भाषा ब्रज की ग्रामीण होते हुए भी अलंकृत है। कवित्त-रत्नाकर अब तक अप्रकाशित है।

इसी काल की कृतियों में नरोत्तमदास का "सुदामा-चरि है, जो कविता की दृष्टि से अच्छा है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अकबर और जहाँगीर के राजत्व में हिंदी कविता, क्या भाषा और क्या भाव की दृष्टि से, विशेष प्रौढ़ गई। इस काल में थोड़ी सी रचना गद्य में भी हुई; पर हिंदी में त तक गद्य के विकास का युग नहीं आया था।

दसवाँ अध्याय

रीति काल

जिस युग में कबीर, जायसी, तुलसी, सूर जैसे रससिद्ध कवियों और महात्माओं की दिव्य वाणी उनके अंतःकरणों से निकलकर देश के कोने कोने में फैली थी, उसे साहित्य के इतिहास में सामान्यतः भक्तियुग कहते हैं। निश्चय ही वह हिंदी साहित्य का स्वर्णयुग था। भक्ति के उस पावन स्रोत में कितनी ही छोटी बड़ी धाराएँ आ मिली थीं, जिनसे उसका प्रवाह अक्षय और वेग अप्रतिहत हो गया था। न जाने कितने भक्तों ने अपनी अंतरात्मा की पुकार को वाणीबद्ध करके हिंदी का अपार कल्याण किया और न जाने कितने हृदय मुरझाकर सूख जाने से बचे। भारतीय जनसमाज के उस घोर आपत्काल में भक्तों ने ही शांति और सांत्वना का विधान किया था और उन्हीं की उदारता तथा दूरदर्शिता के फल-स्वरूप निराश और भग्नहृदय हिंदुओं में नवीन आशा और उत्साह आदि का संचार हुआ था। मुसलमानों का विजयगर्व बहुत कुछ कम हो जाने के कारण उनमें संयम तथा सहानुभूति का प्रादुर्भाव हो गया था। उस काल में जिन उत्कृष्ट आदर्शों की प्रतिष्ठा हुई थी, वे भक्त कवियों की अनुभूति और उदारता के परिणाम स्वरूप थे। यही कारण है कि वे इतने सर्वमान्य और व्यापक हो सके थे। उन आदर्शों में उन कवियों और महापुरुषों का जो जीवन छिपा हुआ है, वही उनका सत्य संदेश है। जब जिस साहित्य में अंतरात्मा की पुकार पर निर्माण का कार्य होता है, तब उसमें ऐसी ही दिव्य भावनाओं का आविर्भाव होता है, जिनसे साहित्य में उन्नत युग का आभास मिले बिना नहीं रह सकता।

भक्ति और रीति

उन संतों और भक्तों में इतनी नम्रता और विनयबुद्धि थी, वे इतने उदार और उन्नत-हृदय थे कि न तो संसार की माया-ममता उन्हें उनके पथ से डिगा सकती थी और न तुच्छ आकांक्षा ही उन्हें मोह सकती थी। जो कुछ उनकी आत्मा का संदेश था, जो कुछ वे कहने आए थे, उसे निर्भीक होकर स्पष्ट शब्दों में उन्होंने कहा। यही कारण है कि उनकी वाणी में बाह्य आडंबर बहुत कम है। क्या वर्णित विषय की दृष्टि से और क्या भाषा की दृष्टि से, सब में एक निसर्गसिद्ध सौंदर्य

और प्रवाह है जो मानस को रससिक्त कर देता है। यही कारण है कि "प्राकृत जन गुन गान" से विरत होकर उन सभी कवियों ने "त्वदीयं वस्तु गोविंद तुभ्यमेव समर्पये" के अनुसार अपनी प्रतिभा और कृति-शक्ति को परमेश्वर की भक्ति में लगाया। वे सांसारिक धन-संपत्ति को कुछ नहीं समझते थे। कबीर जुलाहे थे और जुलाहे का व्यवसाय भी करते थे। सूर और तुलसी संसार के त्यागी महापुरुष थे। अन्य महात्मा भी संसार में लिप्त न थे। कुछ ने अकबर-सदृश सम्राटों के निमंत्रण अस्वीकृत करके अपने महान् होने का परिचय दिया था। इन्हीं में अद्वितीय भावुक और सहृदय रसखान थे जिन्होंने "कोटिन वे कलधौत के धाम करील के कुंजन ऊपर वारौं" को अपने जीवन का लक्ष्य बनाया था। इसी प्रकार के न जाने कितने महात्माओं के प्रसाद से हिंदी साहित्य की श्री-वृद्धि हुई थी और न जाने कितने सच्चे रसिकों की भक्ति काव्य-कला के साँचे में ढलकर समस्त उत्तर भारत का हृदय आप्लावित कर चुकी थी।

कबीर आदि संतों ने हिंदू और मुसलमानों की भेदबुद्धि को दूर करके सरल सदाचार-पूर्ण जीवन व्यतीत करने का उपदेश दिया, जायसी आदि लौकिक प्रेम को स्वर्गीय बनाने के प्रयासी हुए, सूर आदि ने मधुर भावों से भावित कृष्ण-काव्य की रचना कर असंख्य हृदयों को हरा किया और तुलसी ने भारत की संस्कृति को बड़े ही व्यापक, मधुर और उदार भाव से अंकित कर हिंदू जाति का प्रतिनिधित्व प्राप्त किया। पर क्या उन्हें अपनी अपनी कृतियों का कुछ भी गर्व था? गर्व तो दूर रहा, वे कभी अपने वास्तविक महत्त्व की कल्पना भी न कर सके। उन महाकवियों ने अपने को भूलकर किसी अन्य की प्रेरणा से कविता की थी। निश्चय ही वह प्रेरणा स्वर्गीय थी। जायसी ने पद्मावत में अपने को पंडितों का "पछिलगा" बतलाया है और तुलसीदास ने कहा है, "कवित विवेक एक नहिं मोरे, सत्य कहौं लिखि कागद कोरे।" इसी प्रकार सभी विनीत भक्तों ने अपनी अयोग्यता की विज्ञप्ति की है। यह सब उस समय की बात है जब पंडितराज की उपाधि धारण करनेवाले संस्कृत के उद्भट कवि जगन्नाथ अपनी ही स्तुति में बहुत कुछ कह गए थे। हिंदी के उस विकास-काल की यह मनोवृत्ति ध्यान देने योग्य है। यदि हम कहें तो कह सकते हैं कि हिंदी साहित्य की तत्कालीन अट्टालिका इन विनीत और निरपेक्ष महात्माओं द्वारा रचित दृढ़ नींव पर ही खड़ी हुई थी।

जिस काल में ऐसे बड़े बड़े महात्माओं ने कवि-कर्म स्वीकार करके तल्लीनता की अवस्था में हृदय की रागिनियों का अमृतवर्षी आलाप

किया था, और जिस काल में बड़े बड़े नृपतियों तक में उनके स्वर में स्वर मिलाने की साध उत्पन्न हुई थी, हिंदी साहित्य के उस काल की महिमा अपार है। उस काल में देश की सच्ची स्थिति को पहचाननेवाले पुरुषों ने आत्मप्रेरणा से स्वर्गीय साहित्य की सृष्टि की थी, उस काल में प्रकृति ने स्वयं कवियों की लेखनी पकड़कर उनके लिये काव्य रचा था। उस काल का साहित्य अलंकारों के अनपेक्षी, शब्दजालशून्य, सत्य की काव्यात्मक अभिव्यक्ति है, उसमें बाहर से बनाव-शृंगार करने की चेष्टा नहीं की गई है, जो कुछ है वह आंतरिक है। कुछ आलोचकों की सम्मति में भारतीय कवि की यह विशेषता है कि उसे काव्य-कला का पंडित होना आवश्यक होता है, वह कविता संबंधी अनेक नियमों से बँधकर ही आत्मलाभ करता है। पर यह बात भारतीय कवि के लिये भी उतनी ही सत्य है जितनी अन्य देशीय कवि के लिये। यदि अन्य देशों में प्रतिभाशाली कवि काव्य संबंधी प्रचलित नियमों और प्रतिबंधों की अवहेलना करके स्वतंत्र रीति से कविता कर सकता है, तो भारत में भी उसे ऐसा करने का पूरा अवसर है। यूरोप में काव्य संबंधी विवाद जितने अधिक देख पड़ते हैं उतने भारत में नहीं। यदि कहें तो कह सकते हैं कि हिंदी के कबीर आदि कविता-कला से जितने अधिक अनभिज्ञ थे, संभवतः अन्य किसी देश का कोई कवि उतना अनभिज्ञ न होगा, फिर भी कबीर हिंदी के श्रेष्ठ कवियों में सम्मानित आसन के अधिकारी माने जाते हैं।

उपर्युक्त आलोचकों को कदाचित् यह बात भूल जाती है कि साहित्य की परंपरा में लक्षण ग्रंथों का निर्माण लक्ष्य ग्रंथों के सृजन के उपरांत, उनका ही आधार लेकर, हुआ करता है। पहले कविता की सृष्टि हो जाती है, पीछे उसके नियम आदि बनते रहते हैं। संस्कृत साहित्य में भी यही देखा जाता है और हिंदी में भी यही क्रम रहा है। साहित्य के प्रारंभिक युगों में अंतःकरण की प्रेरणा से अत्यंत सरल और अलंकार-निरपेक्ष शैली में काव्य-रचना होती है, पीछे से ज्यों ज्यों अधिकाधिक रचनाएँ होती जाती हैं और जैसे जैसे काव्यचर्चा बढ़ती जाती है वैसे ही वैसे कविता संबंधी नियम बनते जाते हैं। यह प्रवृत्ति केवल इसी देश में नहीं, प्रायः सभी देशों के साहित्यों में पाई जाती है। हाँ, यह बात अवश्य है कि इस देश की प्रवृत्ति वर्गीकरण, श्रेणी-विभाजन आदि की ओर अधिक थी, इस कारण यहाँ के काव्य संबंधी नियम भी विशेष सूक्ष्म और जटिल हो गए हैं; एवं पीछे के साहित्यकारों और कवियों ने उन नियमों का शासन स्वीकार कर अपनी कृतियों को उन्हीं

का अनुयायी बनाया है। ऐसा करने से उनकी भाषा में प्रांजलता तथा आलंकारिकता तो आ गई है, पर कविता का जो सर्वोत्कृष्ट लक्ष्य जीवन के गंभीर तत्त्वों को सुलझाना तथा हृदयंगम करना है, वह भुला दिया गया है। इससे कविता में बाह्य सौंदर्य की वृद्धि हुई है पर उसकी आत्मा संकुचित होती गई है।

हिंदी में भी सूर और तुलसी के समय तक साहित्य की इतनी अधिक अभिवृद्धि हो चुकी थी कि कुछ लोगों का ध्यान भाषा और भावों को अलंकृत करने तथा संस्कृत की काव्य-रीति का अनुसरण करने की ओर खिंच रहा था।

रीतिकाल का आरंभ

इसका यह अर्थ नहीं है कि सूर और तुलसी तथा उनके पूर्व के सत्कवियों में आलंकारिकता नहीं थी अथवा वे काव्य-रीति से परिचित ही न थे। ऐसी बात नहीं थी। अनेक कवि पूर्ण शास्त्रज्ञ और काव्यकलाविद् थे। वे सूक्ष्म से सूक्ष्म आलंकारिक शैलियों का पूरा पूरा ज्ञान रखते थे। स्वयं महात्मा तुलसीदासजी ने अपनी अनभिज्ञता का विज्ञापन देते हुए भी ब्रज और अवधी दोनों भाषाओं पर अपना पूर्ण आधिपत्य तथा काव्य-रीति का सूक्ष्मतम अभिज्ञान दिखाया है। अंतर इतना ही है कि उन्हें काव्य-कला को साधन मात्र बनाकर रचना करनी थी, साध्य बनाकर नहीं। अतएव उन्होंने अलंकारों आदि से सहायक का काम लिया है, स्वामी का नहीं। इसके विपरीत पीछे के जो कवि हुए, उन्होंने काव्य-कला की परिपुष्टि को ही प्रधान मानकर शेष सब बातों को गौण स्थान दिया और मुक्तकों के द्वारा एक एक अलंकार, एक एक नायिका अथवा एक एक ऋतु का वर्णन किया है। आगे चलकर यह प्रथा इतनी प्रचलित हुई कि बिना रीतिग्रंथ लिखे कवि-कर्म पूरा नहीं समझा जाने लगा। हिंदी साहित्य के इस काल को हम इसी लिये रीतिकाल कहते हैं।

रीति-ग्रंथकार कवियों का स्वरूप ठीक ठीक समझने के लिये उनके आविर्भाव-काल की परिस्थितियों पर ध्यान देना होगा। भक्ति-काल के अंतिम चरण में कृष्णभक्ति की कविता की प्रधानता थी। कवियों में अधिकांश ब्रजभाषा के मुक्तक छंदों तथा गीतों के द्वारा कृष्ण की ललित लीलाओं के वर्णन की परिपाटी चली थी। कृष्ण और राधा के सौंदर्य-वर्णन में भक्त कवियों ने अपनी सारी शक्ति लगा दी। प्रेम और विरह-लीला तथा हास आदि का बड़ा मर्मस्पर्शी वर्णन भक्त कवियों ने किया था। वह यद्यपि उनके पवित्र हृदय से निस्सृत होने के कारण पूत भावनाओं से समन्वित था, पर साधारण पाठकों की लौकिक दृष्टि में उसमें शृंगारिकता ही अधिक प्रतीत होती है। राधा और कृष्ण के

प्रेम का वर्णन करके यद्यपि भक्त और भगवान् के संबंध की व्यंजना की गई थी, पर उस तथ्य को समझकर ग्रहण कर सकना सबका काम नहीं था। इसके अतिरिक्त राजदरबारों में हिंदी कविता को अधिकाधिक आश्रय मिलने के कारण कृष्ण-भक्ति की कविता को अधःपतित होकर वासनामय उद्‌गारों में परिणत हो जाने का अधिक अवसर मिला। तत्कालीन नरपतियों की विलास-चेष्टाओं की परितृप्ति और अनुमोदन के लिये कृष्ण एवं गोपियों की ओट में हिंदी के कवियों ने कलुषित प्रेम की शत सहस्र उद्भावनाएँ कीं। जनता में भी कृष्ण-भक्ति के नाम पर मनमानी लीलाएँ करने की प्रवृत्ति बढ़ी, जैसा कि वल्लभाचार्यजी की परंपरा का वर्णन करते हुए ऊपर कहा जा चुका है। इसका परिणाम यह हुआ कि राजाओं से पुरस्कार पाने तथा जनता द्वारा समादृत होने के कारण रीति काल की कविता शृंगाररसमयी हो गई और अन्य प्रकार की कविताएँ उसके सामने दब सी गईं।

परंतु इसका यह आशय कदापि नहीं है कि शृंगाररस सर्वथा निंद्य ही है, अथवा उस काल के सभी कवियों में प्रेम और सौंदर्य की निसर्गसिद्ध पवित्र उद्भावना करने की शक्ति ही नहीं रह गई थी। शृंगाररस के मुक्तक पद्य यद्यपि अधिकतर अलंकारों और नायिकाओं के उदाहरण-स्वरूप ही लिखे गए और यद्यपि लिखने का लक्ष्य भी अधिकतर आश्रयदाताओं को प्रसन्न करना था, तथापि कुछ कवियों की कृति में शुद्ध प्रेम के ऐसे सरस छंद मिलते हैं, ऐसे सौंदर्य की पवित्र विभूति पाई जाती है कि सहसा यह विश्वास नहीं होता कि वे कवि शुद्ध आंतरिक प्रेरणा के अतिरिक्त अन्य किसी उद्देश से कविता करते थे। यह ठीक है कि अधिकांश कवियों ने सौंदर्य को केवल उद्दीपन मानकर नायक नायिका के रति-भाव की व्यंजना की है; पर कुछ कवि ऐसे भी हुए हैं जिन्होंने रीति के प्रतिबंधों से बाहर जाकर स्वकीय सुंदर रीति से सौंदर्य की वह सृष्टि की है जो मनोमुग्धकारिणी है।

भक्ति काल के कवियों में कबीर आदि संतों की भाषा बिलकुल शिथिल और अव्युत्पन्न थी। प्रेमगाथाकारों की भाषा अवध की ग्राम-

रीति काल की भाषा

भाषा थी जिसमें साहित्यिकता का पुट प्रायः नहीं के बराबर था। कृष्ण-भक्त कवियों में सूर की भाषा ब्रज की चलती भाषा थी और नंददास तथा हितहरिवंश ने संस्कृत के सम्मिश्रण से ब्रजभाषा को साहित्यिक भाषा बनाने का प्रयास किया था। एक महात्मा तुलसीदास ही ऐसे थे जो हिंदी की संपूर्ण शक्ति को लेकर विकसित हुए और ब्रज तथा अवधी पर समान अधिकार रखते

थे। प्रसंगानुसार साहित्यिक और ग्रामीण प्रयोगों में जैसी उनकी पटुता थी हिंदी में उसकी कहीं समता नहीं मिलती। रीति काल में भाषा भी रीतिग्रस्त हो गई। कोमल कांत पदावली को चुन चुन-कर, कर्कशता का सप्रयास वहिष्कार कर, कितने ही अप्रयुक्त शब्दों को अपनाकर जिस भाषा-परिपाटी की प्रतिष्ठा की गई, वही समस्त रीति काल में चलती रही और आज भी व्रजभाषा के कवि उसका निर्वाह उसी प्रकार करते चले जाते हैं। साहित्य की व्रजभाषा रीति की लीक पर चलनेवाली भाषा है और व्रज-प्रांत की भाषा से बहुत कुछ भिन्न है। उसका निर्माण जिस परिस्थिति में हुआ, उससे उसमें कोमल कांत पदावली की अतिशयता ही रही—कटु, तिक्त, कषाय आदि के उपयुक्त महाप्राणता न आकर वह अधिकतर सुकुमार ही बनी रही। कमल, कदली, मयूर, चंद्र, मदन आदि के लिये उसमें जितने काव्यप्रयुक्त शब्द हैं, वे सब कोमलता-समन्वित हैं। व्रजभाषा की माधुरी आज भी देश भर में प्रसिद्ध है।

परंतु भाषाशास्त्र तथा व्याकरण के नियमों के अनुसार व्रजभाषा तथा अवधी के जो सूक्ष्म विभेद हैं, उन पर बहुत अधिक ध्यान कभी नहीं दिया गया। महाकवि सूरदास की व्रजभाषा में भी अवधी के ही नहीं पंजाबी और विहारी तक के प्रयोग हैं। और तो और स्वयं गोस्वामीजी की भाषा भी भाषाशास्त्र के जटिल नियमों का पालन नहीं करती। भाषा को जटिल बंधनों से जकड़कर उसे निर्जीव कर देने की जो शैली संस्कृत ने ग्रहण की थी, हिंदी उससे बची रही। यही कारण है कि रीति काल में कवियों की भाषा बहुत कुछ बँधी हुई होने पर भी बाहरी शब्दों को ग्रहण करने की स्वतंत्रता रखती थी। भाषा को जीवित रखने के लिये यह क्रम परम आवश्यक था। इस स्वतंत्रता के परिणाम-स्वरूप अवधी और व्रज का जो थोड़ा-बहुत सम्मिश्रण होता रहा, वह रीति काल के अनेक प्रतिबंधों के रहते भी बहुत ही आवश्यक था, क्योंकि उतनी स्वतंत्रता के बिना काम भी नहीं चल सकता था। यहाँ हमको यह भी स्वीकार करना होगा कि रीतिकाल के अधिकांश कवियों ने शुद्ध व्रजभाषा का प्रयोग किया है, एवं जिन कवियों पर अवधी का प्रभाव है, उन्होंने भी कबीर की सी खिचड़ी भाषा कदापि नहीं लिखी।

साहित्यिक समीक्षा

रीतिकाल के कवियों का साहित्य में क्या स्थान है, इसकी समीक्षा कवित्व की दृष्टि से भी की जा सकती है, और आचार्यत्व की दृष्टि से भी। कवित्व की दृष्टि से समीक्षा करने में हमारी कसौटी ऐसी होनी चाहिए जिस पर हम संसार

भर के साहित्य को कसकर परख सकें और उसके उत्कर्षापकर्ष का निर्णय कर सकें। स्थायी साहित्य जीवन की चिरंतन समस्याओं का समाधान है। मनुष्यमात्र की मनोवृत्तियों, उनकी आशाओं, आकांक्षाओं और उनके भावों, विचारों का यह अक्षय भांडार है। मनुष्य-जीवन एकमुख नहीं, सर्वतोमुख है; उसके अनेक विभाग और अनेक प्रकार हैं। वह इतना अज्ञेय और गहन है कि उसके रहस्यों को समझ सकना सरल काम नहीं। साहित्य हमारे सामने जीवन की इन्हीं विविध, अज्ञेय एवं गहन समस्याओं का चित्र रखता है, अतः वह भी बहुत कुछ वैसा ही है। उसमें एक ओर तो मानव-समाज के उच्चातिउच्च लक्ष्यों और आकांक्षाओं की झलक रहती है और दूसरी ओर उसकी वास्तविक परिस्थितियों, उसके सुख-दुःख और उत्थान-पतन का चित्र रहता है। कौन कह सकता है कि परिस्थितियाँ कितनी हैं? उसी प्रकार लक्ष्यों, उद्देशों, आकांक्षाओं और आदर्शों की भी क्या गणना है? सब मिलकर साहित्य जीवन की असीमता का प्रतिबिंब बन जाता है। उसमें असंख्य आदर्शों के साथ अपार वस्तु-स्थिति मिलकर उसे निस्सीम बना देती है। साधारण से साधारण से लेकर महान् से महान् भावनाओं के लिये उसमें स्थान है, उसकी सीमा में सब कुछ आ सकता और समा सकता है। जिस जाति का साहित्य जितना अधिक विस्तृत और पूर्ण होगा, उसमें उतने ही विस्तृत और पूर्ण जीवन के विकास की संभावना रहेगी। साहित्य की इस व्यापक भावना को हम समन्वयवाद कह सकते हैं।

इस साहित्यिक समन्वय में रीति काल के शृंगारी कवियों का अलग स्थान है, यह पहले ही स्वीकार करना पड़ेगा। उन कवियों का लक्ष्य भक्त कवियों की भाँति कुछ विशिष्ट उच्च आदर्शों पर नहीं था, परंतु गार्हस्थ्य जीवन के सुख सौंदर्य आदि पर उनकी दृष्टि टिकी थी और स्त्री-पुरुष के मधुर संबंध की ओर उनका ध्यान खिंचा था। यह ठीक है कि गार्हस्थ्य-जीवन का जो रूप उन्होंने देखा, वह न तो संपूर्ण था और न उत्कृष्ट ही, और यह भी ठीक है कि स्त्री-पुरुष के संबंध की मधुरता का उन्हें सम्यक् परिचय नहीं था, तथापि फुटकर पदों में ही खंड-चित्रों को अंकित करके और प्रेम तथा सौंदर्य की अभिव्यक्ति की यथाशक्ति चेष्टा करके उन्होंने जीवन के पारिवारिक पक्ष पर अच्छा प्रकाश डाला। इस दृष्टि से उनका काव्य-क्षेत्र सीमित अवश्य था, पर उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। वे सौंदर्य-प्रेमी कवि थे, यद्यपि रीतियों में जकड़े रहने के कारण उनका सौंदर्य-प्रेम प्रांजल और पवित्र नहीं हो

पाया था। कहीं कहीं तो उसमें अश्लीलता भी आ गई थी। परंतु तत्कालीन स्थिति का विचार करते हुए और यह समझते हुए कि उन्होंने अपनी भावनाओं का कलुष राधा-कृष्ण को ही अर्पण कर बहुत कुछ पाप-परिहार कर लिया था, उन्हें क्षमा कर देना पड़ेगा।

यद्यपि यह निश्चित है कि स्थायी साहित्य में रीति काल के सौंदर्योपासक और प्रेमी कवियों का स्थान अमर है, पर अमर साहित्य के वर्गीकरण में वे किस कक्षा में रखे जायँ यह विचारणीय है। प्रबंध और मुक्तक की दृष्टि से स्थायी साहित्य का वर्गीकरण नहीं हो सकता। यह ठीक है कि प्रबंध के भीतर से जीवन के व्यापक तत्त्वों पर कवि-दृष्टि के ठहरने की अधिक संभावना रहती है; परंतु मुक्तक इसके लिये बिलकुल अनुपयुक्त हो, यह बात नहीं है। हिंदी के भक्त कवियों ने फुटकर गीतों से और उमर खैयाम ने मुक्तक रुबाइयों की सहायता से जीवन के चिरंतन सत्यों की जैसी मार्मिक व्यंजना की है, वह मुक्तक काव्य के महत्त्व को प्रत्यक्ष कर देती है। अँगरेजी के श्रेष्ठ कवियों के लीरिक्स भी इसके उदाहरण हैं। हमें यदि श्रेणी-विभाग करने को कहा जाय तो हम कवियों की कृतियों की परीक्षा करते हुए यह पता लगावेंगे कि जीवन के जिस अंग को लेकर वे चले हैं, वह सत्य है या नहीं, महत्त्वपूर्ण है या नहीं। सत्य और महत्त्वपूर्ण होने के लिये जीवन का अनुभव करने, उसके रहस्य समझने, उसके सौंदर्य का साक्षात्कार करने तथा उसकी समस्याओं को सुलझाने की आवश्यकता होगी। कवि को तमाशाई न बनकर बाहर से उछल-कूद करने की आवश्यकता नहीं है, उसे जीवन के रंगमंच का प्रतिभाशाली नायक बनकर अपना कार्य करना पड़ता है। जितनी सरलता, स्पष्टता और सुंदरता के साथ वह यह कार्य कर सकेगा, उतनी ही सफलता का अधिकारी होगा। जब तक कवि जीवन-सरिता में अवगाहन न कर बाहर से उसके घाटों की शोभा देखता रहेगा, तब तक उसकी रचना न संगत ही हो सकेगी और न महत्त्वपूर्ण। घाटों की शोभा देखने से उसे इंद्रिय-सुख भले ही प्राप्त हो, पर वह सुख न मिलेगा जिसे आत्मप्रसाद या परनिवृत्ति कहते हैं। ऐसा करके वह कुछ समय के लिये साहित्य की परीक्षा-समिति से सफलता का सम्मति-पत्र भले ही पा जाय, पर जब सैकड़ों वर्षों के अनंतर जीवन-संबंधी मौलिक संदेश सुनानेवालों और उसके सच्चे सौंदर्य को प्रत्यक्ष कर दिखानेवालों की खोज होने लगेगी, तब उसे कौन पूछेगा? साहित्य की जाँच की यही सर्वोत्तम कसौटी है। रीति काल के अधिकांश कवियों को बँधी हुई लीक पर चलना पड़ा, उन्हें अपनी

ही बनाई हुई सीमा में जकड़ जाना पड़ा। साहित्य का उच्च लक्ष्य भुला दिया गया। तत्कालीन कवियों की कृतियाँ विशृंखल, निरंकुश और उद्दाम हैं, उनमें कहीं उच्चातिउच्च भावनाएँ कलुषित प्रसंगों के पास ही खड़ी हैं तो कहीं सौंदर्य और प्रेम के मर्मस्पर्शी उद्गार अतिशयोक्ति और बात की करामात से घिरे हैं। कहीं उपमाओं और उत्प्रेक्षाओं के बोझ से वास्तविक बात दब गई है तो कहीं श्लेष की ऊटपटाँग योजना भानमती का पिटारा दिखला रही है। जैसे किसी को कुछ कहना ही न हो, कविता केवल दिलबहलाव के लिये गपशप या ऐयाशों की बहक की हुँकारी हो। यह सब होते हुए भी कुछ प्रतिभाशाली कवियों की कृतियाँ रीति की सामान्य शैली से बहुत ऊपर उठकर मुक्तक छंदों में जैसी सुंदर और तीव्र भावव्यंजना करती हैं उससे कवियों के हार्दिक आंदोलन का पता लगाया जा सकता है। कुछ कवियों ने प्रेम के सूक्ष्म तत्त्वों का निरूपण भी किया है, केवल विभाव, अनुभाव आदि का अति-चुरण रूप खड़ा करके रस-निष्पत्ति की चेष्टा ही नहीं की है। ऐसे कवियों का स्थान सौंदर्य-स्रष्टा मौलिक साहित्यकारों के बीच में चिरकाल तक रहेगा, यद्यपि यह मानना पड़ेगा कि सौंदर्य-सृष्टि करने में अन्य देशों के श्रेष्ठ कवियों ने जिस सूक्ष्म दृष्टि और स्वायत्त शक्ति का परिचय दिया है, वह रीति काल के हिंदी कवियों में बहुत अधिक मात्रा में नहीं मिलती।

भाषा और छंद आदि की दृष्टि से भी रीति काल के कवि बहुत नीचे नहीं गिरते। व्रजभाषा का जो साहित्यिक रूप निर्मित हुआ था, उसमें अनुभूयमान कोमलता और सुकुमारता उन्हीं कवियों के प्रयास का फल था। इस प्रकार की कोमलता और सुकुमारता को हम सर्वथा हेय ही समझते हों, यह बात नहीं है। शृंगाररस का पल्ला पकड़कर गार्हस्थ्य-जीवन के जैसे सुंदर और सुकुमार चित्र उन्हें उतारने थे, उसके उपयुक्त भाषा का स्वरूप स्थिर करना कवियों की प्रतिभा का ही परिचायक है। इनके कारण छंदों में भी अच्छी प्रौढ़ता और परिष्कृति आई है। बिहारी ने दोहा छंद को विकास की चरम सीमा तक पहुँचा दिया। देव और पद्माकर के कवित्त तथा मतिराम के सवैए गठन की दृष्टि से अद्वितीय हुए हैं। पीछे से छंदों की भी रीति बँध गई और अन्य छंदों में प्रायः कुछ भी रचना नहीं हुई। केशव आदि कुछ कवियों ने विविध छंदों के प्रयोग की चेष्टा की, पर उन्हें माँजने में वे भी समर्थ नहीं हो सके।

ऊपर हमने वर्णित विषय और भाषा की दृष्टि से रीति काल के कवियों की जो समीक्षा की है, वह इस युग के आलोचकों को भले ही

रुचिकर हो अथवा वह व्यापक दृष्टि से साहित्य का विश्लेषण भले ही समझी जाय, पर उससे रीति काल के कवियों ने जिन नियमों और प्रतिबंधों को स्वीकार कर कविता की थी तथा काव्य के संबंध में उनकी जो धारणा थी उसका परिचय नहीं मिलता। जब हम इस प्रकार अपनी कसौटी पर दूसरों को परखते हैं तब हमारी कसौटी चाहे जितनी खरी हो, हम दूसरों के साथ पूर्ण न्याय नहीं कर सकते। इसका कारण स्पष्ट है। प्रत्येक देश और प्रत्येक काल के साहित्य की अलग अलग विशेषताएँ होती हैं। सामान्य रीति से यद्यपि साहित्य शब्द के अंतर्गत सार्वदेशिकता और सार्वकालिकता की भावना रहती है, पर समयानुक्रम से आए हुए अनेक नियमों और काव्य रीतियों का पालन भी सभी देशों के साहित्यकारों के लिये आवश्यक हो जाता है। भारतवर्ष के मध्यकालीन संस्कृत कवियों पर संस्कृत के रीति-ग्रंथों का इतना अधिक प्रभाव पड़ा था कि हम उनकी विवेचना तभी कर सकते हैं जब अलंकार-शास्त्रों का अध्ययन करके हम उन कवियों की विशेषताओं को समझें। संस्कृत में काव्य-संबंधी इतने विभिन्न प्रकार के वाद प्रवाद चले और उनके अनुसार चलनेवाले कवियों ने उनका इतने कट्टरपन से पालन किया कि काव्य-समीक्षक को उन सभी कवियों की रचना-शैलियों आदि का अनुसंधान करना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी हो जाता है। हिंदी के रीति काल के कवियों ने भी संस्कृत के अलंकार-शास्त्र का अनुसरण कर तथा थोड़ी बहुत स्वतंत्र उद्भावना कर जो रचनाएँ की हैं, उनको हम ठीक ठीक तभी समझेंगे जब संस्कृत के विभिन्न काव्यसमीक्षक संप्रदायों का अन्वेषण कर यह देख लेंगे कि हिंदी के किन कवियों ने किस संप्रदाय का किस सीमा तक अनुसरण किया है। नीचे अति संक्षेप में संस्कृत कविता के विकास के साथ काव्यसमीक्षा-संप्रदायों के विकास का भी इतिवृत्त लिखा जाता है।

आचार्यत्व

संस्कृत साहित्य में वाल्मीकीय रामायण सर्वसम्मति से आदि काव्य स्वीकार किया जाता है। उसकी रचना के पूर्व यदि कविता हुई होगी तो वह अब प्राप्त नहीं है। वेदों को काव्य ग्रंथ नहीं कह सकते, भारतीय परंपरा के अनुसार वे काव्य ग्रंथ हैं भी नहीं। वाल्मीकि के उपरांत यदि हम संस्कृत के प्रधान कवियों का अनुसंधान करें तो भास, कालिदास, अश्वघोष, भारवि तथा माघ आदि मिलेंगे। इनमें से कुछ नाटककार तथा कुछ काव्यकार थे। नाटककार भी भारतीय

संस्कृत साहित्य-शास्त्र की समीक्षा

समीक्षा में कवि ही माने गए हैं, यद्यपि उनके स्वतंत्र पंथ का निर्देश अवश्य कर दिया गया है।

हम यदि वाल्मीकि की रामायण की तुलना पिछले कवियों की रचनाओं से करें तो प्रत्यक्ष अंतर देख पड़ेगा। उदाहरणार्थ यदि वाल्मीकीय रामायण को कालिदास के रघुवंश से मिलाकर देखें तो वाल्मीकि में कथा कहने की अधिक प्रवृत्ति, घटनाओं का अधिक उल्लेख, वर्णन की अधिक सरलता मिलेगी और कालिदास में उपमाओं की अधिक योजना, छंदों का अधिक सौष्ठव और अलंकरण की अधिक प्रवृत्ति देख पड़ेगी। कालिदास का प्रत्येक छंद हीरे की कनी की तरह चमक उठता है, उनका समस्त काव्य सुंदर हार सा है। इसके विपरीत वाल्मीकीय रामायण वह वेगवती सरिता है जो स्वच्छंद तथा अप्रतिहत गति से बहती हुई उज्ज्वल देख पड़ती है। कालिदास से और आगे बढ़कर जब हम माघ के शिशुपालवध को देखते हैं तो उसमें कथा और घटना बिलकुल गौण पाते हैं; केवल वर्णनसौंदर्य ही हमें आकृष्ट करता है। कविता अपना अलग उद्देश रखने लगी है, उसके अलग नियम बन गए हैं, अलग साज-बाज हो गए हैं। शैली चमत्कारपूर्ण हो गई है। अलंकार अपने अपने स्थान पर पहना दिए गए हैं और सब कुछ रीतिबद्ध सा हो गया है।

जब हम संस्कृत काव्य की इस क्रमोन्नति के कारणों की खोज करते हैं, तब काव्य-समीक्षा-संबंधी शास्त्रों और अलंकार-ग्रंथों की शरण लेनी पड़ती है। संस्कृत में काव्य-समीक्षा का सबसे प्राचीन तथा प्रतिष्ठित प्राप्त ग्रंथ भरत मुनि का नाट्यशास्त्र है। यद्यपि इसके नाम से ही यह पता लगता है कि इसकी रचना नाट्यकला को ध्यान में रखकर हुई होगी, और इसमें रूपकों के विविध अंगों का विस्तृत वर्णन मिलता भी है, पर जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं, संस्कृत में नाटक भी काव्य की ही एक शाखा-विशेष है, अतः काव्य के विवेचन के अंतर्गत ही नाटकों का विवेचन भी आता है। भरत मुनि के नाट्यशास्त्र का महत्त्व हम इतने ही से समझ सकते हैं कि उनके प्रतिपादित सिद्धांतों का नाट्य-साहित्य में तो अक्षरशः पालन किया गया है, अन्य काव्यों में भी उसके विधिनिषेध माने गए हैं। उसके कट्टर से कट्टर विरोधी भी उसका उल्लेख करते हैं और ऋषिप्रणीत ग्रंथ की भाँति उसे सम्मान की दृष्टि से देखते हैं। आज भी नाट्यशास्त्र संसार के काव्य समीक्षक ग्रंथों में अपना प्रतिष्ठित स्थान रखता है।

रस-संप्रदाय

नाट्यशास्त्र की "रस-शैली" जगत्प्रसिद्ध है। संपूर्ण भारतीय साहित्य में "रस" संबंधी उसकी विवेचना स्वीकृत की गई है। यदि

कहें तो कह सकते हैं कि नाट्यशास्त्र के रस-निरूपण का मूल सूत्र "विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः" है। इसका अर्थ यह हुआ कि विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारिभाव के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। इस सूत्र को समझाने की चेष्टा अनेक आचार्यों ने अपने अपने ढंग से की है। यहाँ हम बहुत संक्षेप में कुछ प्रधान बातें कहेंगे। हमारे चित्त में वासना रूप से अनेक स्थायी भाव अंतर्हित रहते हैं। कविता उन्हें उत्तेजित कर हमारे हृदय में एक प्रकार के अलौकिक आनंद का उद्रेक करती है। उत्तेजना के लिये विभाव, अनुभाव और संचारियों का उपयोग किया जाता है। नाटकों में अभिनय और शब्दों द्वारा तथा काव्य में केवल शब्दों द्वारा उत्तेजना का आयोजन किया जाता है। स्थायी भावों की संख्या नाट्य-शास्त्र में आठ या नौ मानी गई है। रति, शोक, क्रोध, भय, उत्साह, जुगुप्सा, हास, विस्मय (और शम) इन्हीं से क्रमशः शृंगार, करुण, रौद्र, भयानक, वीर, बीभत्स, हास्य, अद्भुत (और शांत) रसों की निष्पत्ति होती है। इन रसों का काव्य में या नाटक में ज्ञेय नहीं प्रत्युत अज्ञेय रीति से विभाव अनुभाव आदि की अनुभूति या अनुगम से उसी प्रकार उद्रेक होता है जिस प्रकार चित्र के रंगों की सहायता से वास्तविकता की अनुरूपता उत्पन्न होती है। नाटकों में नायक नायिका तथा उनकी चेष्टाएँ विभाव के अंतर्गत आती हैं। कुछ अनुभाव सात्त्विक भाव भी कहलाते हैं। सात्त्विक का अर्थ है शरीरजन्य। रोमांच, स्वेद, वैवर्ण्य आदि शरीरधर्म हैं। संचारी या व्यभिचारी भाव अनेक हैं। वे क्षणिक होते हैं और स्थायी भावों को पुष्ट करने में सहायता पहुँचाते हैं। नाट्यशास्त्र में उनकी संख्या तेंतीस कही गई है, पर साधारणतः वे प्रायः अपरिमित हैं।

रस-पद्धति के संबंध में यह विवाद सबसे अधिक अनिर्णीत है कि रस-निष्पत्ति किसके आधार से होती है। अभिनवगुप्त आदि विद्वानों के विरुद्ध लोल्लट आदि का कथन है कि रस के आधार नायक और नायिका आदि हैं जो राम सीता आदि के रूप में अभिनय करते हैं। सामाजिकगण उन अभिनेताओं में राम और सीता की अनुकृति ही नहीं देखते—वे भावमग्न होकर उन्हें राम और सीता समझ लेते हैं। परंतु यह मत पिछले आलोचकों को स्वीकार नहीं है। वे सामाजिकों को ही रसग्राही मानते हैं, उन्हीं के हृदय में रस की निष्पत्ति स्वीकार करते हैं। इस दृष्टि से 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः' सूत्र भी ठीक बैठता है। रस ही काव्य की आत्मा है, यह भरत तथा उनके अनुयायियों का मत है। धनंजय आदि पीछे के

शास्त्रकारों ने भरत के ही अनुकरण पर ग्रंथरचना की है और "रस" को काव्यात्मा प्रतिपादित किया है।

परंतु भरत के उपरांत अलंकारशास्त्रियों की नई नई शैलियाँ निकलीं जिनमें विभिन्न दृष्टियों से काव्य-समीक्षा की गई। समयानुक्रम से सबसे प्रथम भामह का काव्यालंकार ग्रंथ आता है। भामह ने अपने ग्रंथ में अलंकारों की जो जो विशिष्टता प्रतिपादित की है उसे लेकर दंडी, रुद्रट आदि पीछे के आचार्यों ने अलंकारों को काव्यात्मा बतलाया और वे काव्य में अलंकार-संप्रदाय के प्रतिष्ठापक बने। इन आचार्यों ने यद्यपि रस-संप्रदाय का परिचय प्राप्त किया था, पर वे रस-पद्धति को नाटकों के उपयुक्त समझते थे। सामान्य काव्य-ग्रंथों में वे अलंकारों को ही प्रधान स्थान देने के पक्ष में थे। उनकी सम्मति में रस आदि अलंकारों से गौण हैं; एवं ओज, प्रसाद, माधुर्य आदि गुण भी अलंकार ही हैं। इन ग्रंथों में प्रायः दो सौ अलंकारों का विवरण दिया गया है। कुछ विवेचकों ने भ्रमवश भामह को ध्वन्यभाववादी ठहराया है; पर यह निश्चित रीति से कहा जा सकता है कि न तो उन्होंने ध्वनि, गुणीभूत व्यंग्य आदि शब्दों का प्रयोग किया है और न वे प्रतीयमान अर्थ को काव्य की आत्मा मानते थे। वे ध्वनि को नहीं किंतु वक्रोक्ति और अतिशयोक्ति को सब अलंकारों का मूल मानते थे। अलंकारवादियों के इस संप्रदाय का हिंदी के आचार्य कवि केशवदास पर बड़ा प्रभाव पड़ा था।

अलंकार-संप्रदाय

दंडी के उपरांत संस्कृत में एक नवीन समीक्षा-संप्रदाय के संस्थापक वामन हुए जिन्होंने रीति-पद्धति की स्थापना की। उनके ग्रंथ काव्यालंकार-सूत्रवृत्ति में दस शब्दगुणों तथा दस अर्थगुणों का उल्लेख है। गुणों का विवेचन बहुत पहले से हो चुका था, स्वयं भरत मुनि के नाट्यशास्त्र तथा रुद्रदामन् के शिलालेख में दस गुणों का उल्लेख है, पर उनमें गुणों को गौण स्थान ही मिला है। वामन ने गुणों को अलंकारों से अलग कर मानों दंडी के भ्रम का संशोधन सा किया। उसने रीति को काव्य की आत्मा बतलाया। रीति शब्दों के नियमित और संघटित प्रयोग को कहते हैं। गुणों के अस्तित्व से ही रीति की प्रतिष्ठा होती है। उसने वैदर्भी, गौड़ी तथा पांचाली रीतियों का विवरण दिया है और वैदर्भी रीति में दसों गुणों का समावेश माना है। अलंकार-संप्रदायवालों ने भ्रम में पड़कर अलंकारों को ही काव्य का सर्वस्व मान लिया था,

रीति-संप्रदाय

इस संबंध में रीति-संप्रदायवालों के अवश्य अधिक उचित तथा उन्नत विचार हैं। वे गुणों को काव्य की आत्मा मानते थे यद्यपि गुणों का तत्त्व वे वास्तविक रूप में नहीं समझ सके थे। वास्तव में गुण तो रससिद्धि के साधन हैं। यह बात पीछे से ध्वनि-संप्रदायवालों ने समझी। विभिन्न रसों के उपयुक्त गुणों का वर्गीकरण और निर्धारण भी रीति-संप्रदाय के आचार्यों ने किया था।

वक्रोक्ति-संप्रदाय

इसी काल के लगभग वक्रोक्ति-संप्रदाय नामक एक नवीन समीक्षा-शैली की उत्पत्ति हुई जो बहुत कुछ अलंकार-संप्रदाय के अनुकरण पर थी। उसे हम अलंकार-संप्रदाय के अंतर्गत ही मानना उचित समझते हैं। वक्रोक्ति को रुद्रट केवल शब्दालंकारमात्र मानते हैं और उसके काकु और श्लेष नामक दो विभाग करते हैं। मम्मट आदि भी उन्हीं का अनुकरण करते हैं पर रुय्यक वक्रोक्ति को अर्थालंकार बतलाते हैं। केवल वक्रोक्ति-जीवितकार कुंतल ने वक्रोक्ति को काव्य का सर्वस्व माना है। उनकी सम्मति में वक्रोक्तिरहित साधारण कथन काव्य नहीं है। कवि वस्तुओं के संबंध का अभिव्यंजन जो कुछ चमत्कार और बांकेपन के साथ करता है वही वक्रोक्ति है। कुंतल ने ध्वनि आदि काव्य के समस्त उपादानों को वक्रोक्ति में ही खपा दिया है। कहा जा सकता है कि वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा ठहराना वक्रोक्ति-जीवितकार का वैसा ही आग्रह है जैसा अलंकार-संप्रदायवालों का अलंकार को काव्य का प्रधान स्वरूपाधायक बतलाना।

ध्वनि-संप्रदाय

पंचम मुख्य संप्रदाय ध्वन्यालोककार का है। वास्तव में यह रस-संप्रदाय का ही एक व्यावहारिक रूप है जो अलंकारों, रीतियों, गुणों आदि को उनके उचित स्थान पर नियुक्त करता है। इस प्रणाली का प्रयोग विशेषकर नाटकों के उपयुक्त है; क्योंकि रस-निष्पत्ति के लिये जिस लंबे प्रबंध की आवश्यकता होती है वह मुक्तक काव्य में नहीं मिल सकता। इस प्रकार फुटकर पदों में रसात्मकता की प्रतिष्ठा करने के लिये रस-संप्रदाय किसी पथ का निर्देश नहीं करता। ध्वनि-संप्रदाय के आविर्भाव का एक उद्देश यह भी था। ध्वन्यालोक के अनुसार सत्काव्य में चमत्कारपूर्ण व्यंग्यार्थ होता है। ध्वनि तीन प्रकार की होती है—रसध्वनि, अलंकार-ध्वनि और वस्तुध्वनि। रसध्वनि में नौ रस ही नहीं, सभी भाव और भावाभास आदि भी आ जाते हैं। वस्तुध्वनि द्वारा कोई वस्तु व्यंग्य होती है। अलंकारध्वनि भी वास्तव में वस्तुध्वनि है, केवल वह वस्तु अलंकार के रूप में होती है। ध्वनिकार स्पष्ट शब्दों में यह कह

देता है कि जिस काव्य से रससिद्धि नहीं होती वह निष्प्रयोजन है। इस प्रकार वह रस-संप्रदाय से अपना घनिष्ठ संबंध बतलाता है। साथ ही वह अलंकारों, गुणों आदि को रसोत्पादन में सहायक मात्र मानकर उनके गौण स्थान को स्पष्ट करता है। अब ध्वनि-संप्रदाय काव्य-समीक्षा की सर्वमान्य शैली हो गई है; पर हम पहले इसे अपनी स्थिति निर्धारित करने में प्रतिहारेंदुराज, कुंतल तथा महिमभट्ट आदि अनेक विद्वानों के कठिन विरोध का सामना करना पड़ा था।

हिंदी में रीति

हिंदी में जिस समय रीति ग्रंथों का निर्माण प्रारंभ हुआ था, उस समय संस्कृत के ये सभी संप्रदाय बन चुके थे और साहित्य के विद्यार्थियों के सामने थे। वास्तव में अलंकार-शास्त्रियों ने काव्य संबंधी समीक्षा को अपने अपने सिद्धांतों के अनुसार वैज्ञानिक भित्ति पर खड़ा किया था, उसमें नवीन उद्भावना या भ्रमसंशोधन के लिये जगह नहीं थी। केवल रुचिविभेद के अनुसार साहित्यसेवियों को अपना अपना मार्ग ग्रहण करना और उस पर चलना था। मार्ग स्थापन का कार्य पहले ही हो चुका था। हिंदी में जो रीति-ग्रंथ लिखे गए, उनमें से अधिकांश में संस्कृत रीति-ग्रंथों की नकल की गई। अधिकांश अलंकार-शास्त्रियों ने रस और ध्वनि संप्रदायों का अनुसरण किया, पर आचार्य केशवदास अलंकार-संप्रदाय के अनुयायी थे। रसों में शृंगार रस को ही प्रधानता मिली। यह तत्कालीन परिस्थिति का परिणाम था। शृंगार के आलंबन नायक-नायिका हुए जिनके अनेक भेद-विभेद किए गए। उद्दीपन के लिये षड्ऋतु-वर्णन आदि की प्रथा चली। अतिशयोक्ति का आश्रय भी बहुत अधिक लिया जाने लगा। हिंदी के रीतिकारों की ये प्रधान विशेषताएँ हैं। परंतु इस काल के रीतिकारों में अनेक लोग सच्चा कवि-हृदय रखते थे, अतः उनके उद्गारों में हार्दिक अनुभूति की मर्मस्पर्शिता मिलती है जो केवल रीति की लीक पीटनेवालों में नहीं मिल सकती। ऐसे कवियों की सौंदर्य-सृष्टि विशेष प्रशंसनीय हुई है।

हिंदी की आचार्य-परंपरा जब से रीति की ओर झुकी तब से कविता बहुत कुछ रीति-सापेक्ष हो गई और उसके समझने-समझानेवाले भी रीति-ग्रंथों में विशेषज्ञ होने लगे। कविता की उत्तमता की कसौटी बदल गई। जिसमें अलंकारों का समावेश न हो वह कविता ही न रही। आचार्य केशवदास की रामचंद्रचंद्रिका इसी फेर में पड़कर फुटकर छंदों का संग्रह हो गई, जिसमें कहीं रामचंद्र अपनी माता कौशल्या को वैधव्य संबंधी उपदेश देते हैं, कहीं पंचवटी की तुलना धूर्जटि से करते

हैं और कहीं बेर-वृक्ष को प्रलयवेला के द्वादशादित्य बतलाते हैं। प्रकृति के रम्य रूपों में कोई आकर्षण नहीं रह गया था, वे केवल अलंकार के डब्बे हो गए। चंद्रमा की सुषमा काव्य के भीतर ही रह गई। बिहारी ने अतिशयोक्ति तथा वस्तुव्यंजना के सामने भावव्यंजना और रसव्यंजना की परवाह नहीं की। तिथि जानने के लिये पत्रे की आवश्यकता न रह गई, गुलाब-जल की भरी शीशी जादू के से प्रभाव से बीच ही में खाली हो गई। अनुप्रास तथा शब्दाडंबर की अतिशयता के लिये पद्माकर का नाम ले लेना पर्याप्त है। काव्यरीति के ज्ञाता ही कविता समझ सकते थे; क्योंकि "नीरभरी गगरी ढरकावे" का अर्थ समझने के लिये नायिकाभेद के तथा ध्वनिव्यंजना के विशेषज्ञ की आवश्यकता स्पष्ट है। इस प्रकार काव्यधारा का स्वच्छंद प्रवाह रुककर रीति की नालियों से बहने लगा। उस समय रीति-ग्रंथों को इतना महत्त्व दिया जाता था कि कवि कहलाने के लिये उसी परिपाटी पर ग्रंथ-रचना करना प्रायः अनिवार्य था। महाकवि भूषण का उदाहरण प्रत्यक्ष है। जिस वीर कवि को जातीय उत्थान तथा वीरगुणगान की सच्ची लगन थी, उसे भी सामयिक प्रवाह में पड़कर, वीर-रस-समन्वित ही सही, रीति-ग्रंथ लिखना ही पड़ा। नीचे रीति काल के कुछ मुख्य कवियों तथा आचार्यों का संक्षिप्त विवरण दिया जाता है।

केशवदास

यद्यपि समयविभाग के अनुसार केशवदास भक्तिकाल में पड़ते हैं और यद्यपि गोस्वामी तुलसीदास आदि के समकालीन होने तथा रामचंद्रचंद्रिका आदि ग्रंथ लिखने के कारण ये कोरे रीतिवादी नहीं कहे जा सकते, परंतु उन पर पिछले काल के संस्कृत साहित्य का इतना अधिक प्रभाव पड़ा था कि अपने काल की हिंदी काव्यधारा से पृथक् होकर वे चमत्कारवादी कवि हो गए और हिंदी में रीति-ग्रंथों की परंपरा के आदि आचार्य कहलाए। केशवदास ओड़छे के राजा इंद्रजीतसिंह के आश्रित दरबारी कवि थे। संस्कृत-साहित्य-मर्मज्ञ पंडित-परंपरा में उत्पन्न होने के कारण इनकी प्रवृत्ति रीति-ग्रंथों की ओर हुई थी। ये दंडी और रुय्यक आदि अलंकार-संप्रदाय के उन आचार्यों के मतानुयायी थे जो अलंकारों को ही काव्य की आत्मा स्वीकार करते थे। केशवदास की रचनाओं पर इस संप्रदाय की गहरी छाप देख पड़ती है। रस-परिपाक की ओर इनका ध्यान बहुत कम रहता है, कहीं कहीं अलंकारों के पीछे पड़कर ये इतनी जटिल और निरर्थक पदरचना करते हैं कि सहृदयों को ऊब जाना पड़ता है। इनकी कृतियों के क्लिष्ट होने का कारण इनका काव्य के वास्तविक ध्येय को न

समझना ही है। हाँ, जहाँ कहीं हृदय की प्रेरणा से रचना की गई है, वहाँ न तो क्लिष्टता है और न बाह्य चमत्कार। संस्कृत से पूर्ण परिचित होने के कारण इनकी भाषा संस्कृतमिश्रित और साहित्यिक है। राज-दरबार में रहने के कारण इनमें वाग्वैदग्ध्य बहुत अधिक था, इसलिये इनके कथोपकथन अच्छे हुए हैं। वैभव और तेज-प्रताप का वर्णन करने में इन्हें अद्वितीय सफलता मिली है। इनकी कृतियों में कविप्रिया, रसिकप्रिया, रामचंद्रचंद्रिका आदि मुख्य हैं। यद्यपि केशव के पहले भी कृपाराम, गोप, मोहनलाल आदि ने रीति साहित्य के निर्माण का प्रारंभ किया था, पर उनकी रचनाएँ केशवदास के सर्वतोमुख प्रयास के सामने एकांगी हो गई हैं। रीति काल के इन प्रथम आचार्य केशवदास का स्थान हिंदी में बहुत अधिक महत्त्वपूर्ण है। उन्हें हृदयहीन कहकर संबोधित करने में हम उनके प्रति अन्याय करते हैं; क्योंकि एक तो उनकी हृदयहीनता जानी समझी हृदयहीनता है, और फिर अनेक स्थलों में उन्होंने पूर्ण सहृदय होने का परिचय दिया है। जिस कवि की रसिकता वृद्धावस्था तक बनी रही, उसे हृदयहीन कहा भी कैसे जा सकता है? यह बात अवश्य है कि केशवदास उन कविपुंगवों में नहीं गिने जा सकते जो एक विशिष्ट परिस्थिति के निर्माता हों। वे तो अपने समय की परिस्थिति द्वारा निर्मित हुए हैं और उसके प्रत्यक्ष प्रतिबिंब हैं।

त्रिपाठी-बंधु

इनमें चिंतामणि, भूषण, मतिराम तथा जटाशंकर थे। कुछ लोगों की सम्मति में वे सब भाई नहीं थे, और विभिन्न कालों के कविताकार थे; परंतु जनश्रुति के आधार पर शिवसिंह सेंगर आदि ने इन्हें सगे भाई स्वीकार किया है। वास्तव में ये तिकवाँपुर (कानपुर) के निवासी कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे और सम-कालीन कवि तथा सगे भाई थे।

चिंतामणि सबसे बड़े थे। इन्होंने काव्यविवेक, कविकुलकल्पतरु, काव्यप्रकाश तथा रामायण आदि ग्रंथ बनाए। नागपुर के तत्कालीन नृपति मकरंदशाह के दरबार में रहकर इन्होंने छंदविचार ग्रंथ की रचना की और उसे उन्हें ही समर्पित किया। चिंतामणि की रीति-रचना के संबंध में सबसे महत्त्व की बात यह है कि महाकवि आचार्य केशवदास ने हिंदी में जिस अलंकार-संप्रदाय का सृजन किया था, उसे छोड़कर इन्होंने सुंदर रसपूर्ण रचना की जिसमें अलंकारों को उपयुक्त स्थान दिया गया। इस प्रकार वे हिंदी के दूसरे प्रधान रीति-संप्रदाय के प्रायः सर्वप्रथम कवि ठहरते हैं। भाषा और भाव दोनों ही दृष्टियों से प्रशंसनीय कहे जा सकते हैं। तत्कालीन मुगल सम्राट् शाहजहाँ

ने इन्हें पुरस्कृत करके इनकी योग्यता तथा अपनी गुणग्राहिता का परिचय दिया था। इनके दूसरे भाई भूषण के संबंध में हम अन्यत्र लिख चुके हैं।

हिंदी के रससिद्ध सच्चे कवियों में मतिराम अपनी कविता के कारण प्रसिद्ध हैं। हिंदी साहित्य के इतिहासकार मिश्रबंधुओं ने इन्हें हिंदी नवरत्न में स्थान दिया है और वास्तव में ये उस स्थान के अधिकारी भी हैं। इनकी रचनाओं की सबसे बड़ी विशेषता इनका भाषा-सौष्ठव है। मतिराम की सी प्रसाद-गुण-संपन्न सरल कोमल ब्रजभाषा बहुत कम कवियों ने लिखी होगी।

मतिराम

इनकी पुस्तकों में रसराज और ललितललाम विशेष प्रसिद्ध हैं। इनके अतिरिक्त छंदसार, साहित्यसार और लक्षण-शृंगार नामक इनकी अन्य कृतियाँ भी हैं। इनका बनाया, मतिराम सतसई नामक शृंगार-रस-विशिष्ट सात सौ दोहों का संग्रह भी कुछ समय पहले मिला है। यद्यपि इनकी सतसई में बिहारी-सतसई की सी अलंकारयोजना नहीं है और यद्यपि उसकी प्रसिद्धि भी अधिक नहीं है, पर भाषा तथा भावों के सुंदर स्वाभाविक प्रवाह की दृष्टि से वह बिहारी-सतसई से कम नहीं है। बिहारी ने पेचीले मजमून बाँधकर और अतिशयोक्ति आदि हलके अलंकारों से लादकर कविता-कामिनी की निसर्गसिद्ध श्री बहुत कुछ कम कर दी है। उसके अनुरागी चाहे उन अलंकारों पर ही मुग्ध बने रहें, पर जहाँ हार्दिक अनुभूतियों के खोजी रसिक समीक्षा करेंगे, वहाँ बिहारी के अनेक दोहों को निम्न स्थान ही मिल सकेगा। मतिराम में भावपक्ष का बहुत सुंदर विकास देख पड़ता है।

उनका रसराज और ललितललाम रीति कविता के विद्यार्थियों के लिये सरलतम और सर्वोपयुक्त ग्रंथ हैं। मतिराम को बूँदी के महाराज भावसिंह के यहाँ आश्रय मिला था अतः उनकी स्तुति में इन्होंने अनेक छंद कहे हैं, जिनमें कुछ वीर रस के हैं।

रीति काल के कवियों में प्रसिद्धि की दृष्टि से बिहारी अन्यतम हैं। कुछ साहित्य-समीक्षक कवियों के उत्कर्षापकर्ष का निर्णय उनकी कृतियों की प्रसिद्धि तथा प्रचार की दृष्टि से करते हैं; पर ऐसा करने में भ्रांति की संभावना रहती है। जनता का रुचिनिर्माण करने में क्षणिक परिस्थितियाँ बहुत कुछ काम करती हैं, और उसकी साहित्यसमीक्षा संबंधी कसौटी कभी कभी बिलकुल अनुचित और अशुद्ध भी होती है। प्रसिद्धि तो बहुत कुछ संयोग से भी मिल सकती है। यह सब कहने का हमारा आशय यह

बिहारी

नहीं है कि कविवर विहारी की ख्याति में उनकी कविता की वास्तविक सुंदरता और उत्कृष्टता सहायक नहीं है। हाँ, यह अवश्य है कि इनकी अत्यधिक प्रसिद्धि का कारण साहित्य-संबंधी तत्कालीन अनोखी विचार-परंपरा भी है। विहारी उस श्रेणी के समीक्षकों में सबसे अधिक प्रिय हैं जो अलग अलग दोहों की कारीगरी पर मुग्ध होते और बात की करामात पसंद करते हैं। सौंदर्य और प्रेम के सुंदरतम चित्र विहारी ने खींचे हैं, पर अलंकरण की ओर उनकी प्रवृत्ति सबसे अधिक थी। उनकी कविता आवश्यकता से अधिक नपी-तुली हो जाने के कारण सर्वत्र स्वाभाविकता-समन्वित नहीं है। विहारी ने घाट-बाट देखने में जितना परिश्रम उठाया होगा, उतना वे यदि हृदय की टोह में करते तो हिंदी कविता उन्हें पाकर अधिक सौभाग्यशालिनी होती। यह सब होते हुए भी उनकी सतसई हिंदी की अमर कृति कहलायगी और श्रेणी-विशेष के साहित्य-समीक्षकों तथा काव्य-प्रेमियों के लिये तो वह सर्वश्रेष्ठ रचना है ही। दोहे जैसे छोटे छंद में इतने अलंकारों की सफल योजना करने में विहारी की टक्कर का कदाचित् ही कोई कवि हिंदी में मिले।

देव

ये इटावे के रहनेवाले कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। इटावे के आस-पास सनाढ्यों की बस्ती होने के कारण उनके कान्यकुब्ज होने में संदेह हो सकता है; पर देव के वंशज अपने को कान्यकुब्ज दुसरिहा (धोसरिया-देव) ब्राह्मण बतलाते हैं। रीति-काल के ग्रंथकारों में सबसे प्रचुर परिमाण में साहित्य का निर्माण करनेवाले देव ही थे; क्योंकि इनके लिखे ५२ या ७२ ग्रंथों में से २६ का पता लग चुका है जिनकी छंद-संख्या कई सहस्र होगी।

बाल्यावस्था से ही इन्होंने जो काव्य-चमत्कार दिखलाया, उससे उनका नैसर्गिक प्रतिभा से समन्वित होना सिद्ध होता है। इस प्रतिभा का उपयोग उन्होंने आश्रयदाता धनियों की मिथ्या प्रशंसाएँ न कर सत्कविता के क्षेत्र में किया था। देव का सम्मान तत्कालीन किसी नृपति ने नहीं किया। इसका कारण चाहे जो हो, पर परिणाम अच्छा ही हुआ। उत्कृष्ट काव्य की सृष्टि के लिये बंधनमुक्त होकर विचरण करना आवश्यक होता है, उपकार या प्रसिद्धि के बोझ से दब जाने से कविता का ह्रास अवश्यंभावी है। जनसाधारण ने उनकी कविता का आदर उस समय नहीं किया इसका कारण उसकी विपथगामी रुचि ही कही जायगी। उनके ग्रंथों की टीकाएँ भी विहारी-सतसई की भाँति नहीं निकलीं। राजदरबार में अत्यधिक सम्मानित होने के कारण

बिहारी-सतसई के टीकाकारों को पुरस्कृत होने की आशा रहती थी। देव को वह सुविधा नहीं मिल सकी।

देव का काव्यक्षेत्र बड़ा व्यापक और विस्तृत था। रीति काल के कवियों में इतनी व्यापकता और कहीं नहीं देख पड़ती। देव की सौंदर्य-विभूति सत्य अतः मर्मस्पर्शिनी है। परंतु देव के गायन का मुख्य विषय प्रेम है। उनका प्रेम यद्यपि लौकिक ही कहा जायगा परंतु उनकी तन्मयता के कारण उसमें उनके अंतरतम की पुकार सुन पड़ती है। यही पुकार साहित्य की उत्कृष्टता की सूचिका है। देव की प्रारंभिक रचनाओं में यौवन का उन्माद है, उनमें शृंगारिकता कूट कूटकर भरी है; पर प्रौढ़ावस्था में पहुँचकर उनकी रचनाएँ बहुत कुछ संयत भी हुईं। उनकी दर्शनपच्चीसियों में अधिकतर पूत भावनाएँ सन्निविष्ट हैं। यह सब कहने का आशय इतना ही है कि देव की रचनाओं में जो क्रमिक विकास मिलता है, वह किसी सच्चे कवि के लिये परम आवश्यक है। रीति-काल के अन्य किसी कवि की कृतियों में अंतर की प्रेरणा से घटित क्रमिक परिवर्तन का इतना स्पष्ट पता नहीं लगता।

जिस कवि को भावों के व्यापक क्षेत्र में आना पड़ता है, उसे भाषा की शक्ति भी बढ़ानी पड़ती है, और कल्पना को भी बहुत कुछ विस्तृत करना पड़ता है। देव का शब्द-भांडार और कल्पना-कोष भी विकसित और समृद्ध था। हाँ, भाषा को अलंकार-समन्वित करने और शब्दों को तोड़ने-मरोड़ने की जो सामान्य प्रवृत्ति, कालदोष बनकर ब्रज-भाषा में व्याप्त हो रही थी, उससे देव भी बच नहीं सके हैं। उनकी कल्पना अधिकतर काव्योपयुक्त पर कहीं कहीं पेंचीली और चक्करदार भी हो गई है।

रीति-काल के थोड़े से आचार्यों में देव की गणना की जाती है। रीति संबंधिनी उनकी कुछ स्वतंत्र उद्भावनाओं का उल्लेख मिश्रबंधुओं ने किया है। पांडित्य की दृष्टि से रीति काल के समस्त कवियों में देव का स्थान आचार्य केशवदास से कुछ नीचे माना जा सकता है, कलाकार की दृष्टि से वे बिहारी से निम्न ठहर सकते हैं, परंतु अनुभव और सूक्ष्मदर्शिता में उच्च कोटि की काव्यप्रतिभा का मिश्रण करने और सुंदर कल्पनाओं की अनोखी शक्ति लेकर विकसित होने के कारण हिंदी काव्यक्षेत्र में सहृदय और प्रेमी कवि देव को रीतिकाल का प्रमुख कवि स्वीकार करना पड़ता है।

डोंगा, प्रतापगढ़ (अवध) के रहनेवाले कायस्थ कवि भिखारी-दास की रचनाओं में काव्यांगों का विवेचन अच्छे विस्तार से किया गया

है। उनका काव्यनिर्णय ग्रंथ अब भी रीति के विद्यार्थियों का प्रिय ग्रंथ है। इसके अतिरिक्त उनकी रची छंदार्णव-पिंगल, रससारांश, शृंगारनिर्णय आदि अन्य पुस्तकें भी हैं। दासजी के आश्रयदाता प्रतापगढ़ के अधिपति पृथ्वीजीतसिंह के भाई हिंदूपतिसिंह थे।

भिखारीदास

दासजी के आचार्यत्व की बड़ी प्रशंसा की जाती है और रीति के सब अंगों का विवेचन करने के कारण उनकी कृतियाँ बड़े आदर से देखी जाती हैं। उनकी सुंदर समीक्षाओं तथा मौलिक भावनाओं का उल्लेख भी किया गया है।

कविता की दृष्टि से दासजी की रचनाएँ बहुत ऊँची नहीं उठतीं। रीति काल के पूर्ववर्ती कवियों के भावों को लेकर स्वतंत्र विषय खड़ा करने में यद्यपि ये बड़े पटु थे, पर भावों के निर्वाह की मौलिक शक्ति न होने के कारण उन्हें सफलता कम मिली है। अवध में रहकर शुद्ध चलती ब्रजभाषा लिख सकना तो बहुत कठिन है; पर दासजी की भाषा सामान्यतः शुद्ध और साहित्यिक है। इससे उनके ब्रजभाषा के विस्तृत अध्ययन का पता चलता है।

समीक्षा बुद्धि के अभाव के कारण रीति की लीक पर चलनेवाले अनेक कवियों से भिखारीदास का स्थान बहुत ऊँचा है, पर कवियों की बहुत ऊँची पंक्ति में उन्हें कभी स्थान नहीं दिया गया।

रीति काल के अंतिम चरण के ये सबसे प्रसिद्ध कवि हैं। ये तैलंग ब्राह्मण मोहनलाल भट्ट के पुत्र थे। पिता की प्रसिद्धि के कारण अनेक राजदरबारों में इनका सम्मान हुआ था। अवध के तत्कालीन सेनाध्यक्ष हिम्मतबहादुर की स्तुति में इन्होंने हिम्मतबहादुर-विरदावली नामक पुस्तक लिखी। इनके मुख्य आश्रयदाता जयपुराधीश जगतसिंह थे जिनको इन्होंने अपना जगद्विनोद ग्रंथ समर्पित किया था। इनका अलंकार-ग्रंथ पद्माभरण भी जयपुर में ही लिखा गया था। प्रबोधपचासा और गंगालहरी इनकी अंतिम रचनाएँ थीं। मृत्यु के कुछ काल पहले से ये कानपुर में गंगा-तट पर निवास करने लगे थे।

पद्माकर

पद्माकर की शृंगाररस की कविताएँ इतनी प्रसिद्ध हुईं कि इनके नाम पर कितने ही कविनामधारियों ने अपनी कुत्सित वासनाओं से सने उद्गारों को मनमाने ढंग से फैलाया। आज भी पद्माकर के नाम की ओट लेकर बहुत सी अश्लील रचनाएँ देहातों की कविमंडली में

सुनी सुनाई जाती हैं। पद्माकर की कृतियों में यदि थोड़ा अश्लीलत्व है तो उनके अनुकरणकारियों में उसका दसगुना।

पद्माकर की अनुप्रासप्रियता भी बहुत प्रसिद्ध है। जहाँ अनुप्रासों की ओर अधिक ध्यान दिया जायगा वहाँ भावों का नैसर्गिक प्रवाह अवश्य भंग होगा और भाषा में अवश्य तोड़-मरोड़ करनी पड़ेगी। संतोष की बात इतनी ही है कि उनके छंदों में उनकी भावधारा को सरल स्वच्छंद प्रवाह मिला है, जिनमें हावों की सुंदर योजना के बीच में सुंदर चित्र खड़े किए गए हैं। शृंगार की ओर अतिशयता से प्रवृत्त रहने के कारण इनका रामरसायन नामक वाल्मीकि-रामायण का अनुवाद-ग्रंथ अच्छा नहीं बन पड़ा। वह युग प्रबंधकाव्य की पड़ती का था। मुक्तक रचनाओं में पद्माकर ने अच्छा चमत्कार प्रदर्शित किया है। आधुनिक हिंदी के कुछ कवियों तथा समीक्षकों की दृष्टि में पद्माकर रीति काल के सर्वोत्कृष्ट कवि ठहरते हैं। जगद्विनोद और पद्माभरण रीति का अध्ययन करनेवालों के लिये सरल ग्रंथ हैं। इनकी भाषा का प्रवाह बड़ा ही सुंदर और चमत्कारयुक्त है।

चरखारी के महाराज विक्रमसाहि के आश्रय में अनेक सुंदर ग्रंथों की रचना करनेवाले प्रतापसाहि हिंदी के रीति काल के अंतिम आचार्य और कवि हुए। इनके "व्यंग्यार्थ-कौमुदी", "काव्य-विलास" आदि ग्रंथों से इनके पांडित्य तथा कवित्व दोनों का पता चलता है। ब्रज की शुद्ध भाषा पर इनका अच्छा अधिकार था। ये पद्माकर की भाँति अनुप्रासप्रिय नहीं थे। व्यंग्यार्थ-कौमुदी में रीति-परंपरा की अत्यंत प्रौढ़ अवस्था के अनुरूप अनेक रूढ़िगत रचनाएँ हैं, फिर भी शुद्ध काव्य की दृष्टि से भी उसमें उत्कृष्ट स्थलों की कमी नहीं है। आचार्यत्व और काव्यत्व का ऐसा सुंदर संयोग बहुत थोड़े कवियों में देख पड़ता है। समस्यापूर्ति करने के अभ्यासी कवियों का सा भावशैथिल्य प्रतापसाहि में बहुत कम पाया जाता है, जिससे उनके सच्चे कवि हृदय का पता चलता है। रीति-काल की कविता में प्रतापसाहि के उपरांत कोई बड़ा कवि नहीं हुआ, हाँ शृंगाररस के फुटकर पद्यों की रचना द्विजदेव आदि कुछ कवियों ने उनके बाद भी सफलतापूर्वक की।

प्रतापसाहि

रीति की परिपाटी के बाहर प्रेम-संबंधी सुंदर मुक्तक छंदों की रचना करनेवालों में इन तीन कवियों का प्रमुख स्थान है। रीति के भीतर रहकर बँधे बँधाए विभाव, अनुभाव और संचारियों के संयोग से, और परंपरा-प्रचलित

घनानद, बोधा, ठाकुर

उपमानों की योजना से काव्य का ढाँचा खड़ा करना कवि-कर्म को विशेष ऊँचे नहीं पहुँचाता। प्रकृति के रम्य रूपों को सूक्ष्म दृष्टि से देखकर उन पर मुग्ध होना एक बात है और नायक-नायिका की विहार-स्थली को उद्दीपन के रूप में दिखाना दूसरी बात। एक में निसर्ग-सिद्ध काव्यत्व है, दूसरे में काव्याभास मात्र। उसी भाँति अनेक नायक-नायिकाओं के विभेद दिखाते हुए, हावों आदि को जोड़-जाड़कर खड़ा कर देने में कवि की सहृदयता का वैसा पता नहीं लग सकता जैसा तल्लीनता की अवस्था में प्रेम के मार्मिक उद्‌गारों और स्त्री-पुरुष के मधुर संबंध के रमणीय प्रसंगों का स्वाभाविक चित्रण करने में। घनानंद, बोधा और ठाकुर (बुँदेलखंडी) तीनों ही प्रेम की उमंग में मस्त सच्चे कवि हुए। यह ठीक है कि प्रेम का लौकिक पक्ष न ग्रहण करने के कारण उनकी कविता ऐकांतिक प्रेमसंबंधिनी अतः अलोकोपयोगी हो गई है; परंतु उस काल की बँधी परिपाटी से स्वतंत्र होकर मनोहर रचना करने के कारण ये तीनों ही कवि हिंदी में आदर की दृष्टि से देखे जायँगे। घनानंद की भाषा भी व्रज की टकसाली भाषा थी। उनकी जैसी भाषा रीति काल के कम कवियों ने व्यवहृत की है।

इस काल के अंतिम समय में यशवंतयशोचंद्रिका और यशवंत-चंद्रिका नाम के दो प्रसिद्ध ग्रंथ राजपुताने से प्रकाशित हुए और उनका बहुत कुछ आदर हुआ।

रीति काल में कवियों की ऐसी बाढ़ आई थी कि ऊपर के पृष्ठों में केवल प्रधान प्रधान धारावाही कवियों का उल्लेख ही हो सका है।

फुटकर कविगण

जिस देश में, जिस काल में कविकर्म शृंखलित, नियमित और रीतिबद्ध हो जाता है वहाँ उस काल में मध्यम श्रेणी के अलंकारप्रिय कवियों की स्वभावतः अधिक संख्या हुआ करती है। कविता जब प्रतिभा-सापेक्ष न रहकर बहुत कुछ अध्ययन-सापेक्ष हो जाती और बुद्धिवाद की ओर झुकती है तब कविगण पांडित्य-प्रदर्शन को काव्य का मुख्य उद्देश समझने लगते हैं। कविता अपना वास्तविक सौंदर्य खो देती और कृत्रिम बन जाती है। अँगरेजी साहित्य के इतिहास में पोप और ड्राइडेन की कविता बहुत कुछ ऐसी ही है। हिंदी में श्रीपति, कुलपति, सुखदेव मिश्र और महाराज जसवंतसिंह कवि नहीं कहे जा सकते, अलंकार-ग्रंथ-निर्माता ही कहे जायँगे। साहित्यिक विश्लेषण के अनुसार इन्हें साहित्य-समालोचकों की श्रेणी में स्थान मिलना चाहिए, कवियों की श्रेणी में नहीं। कविताकारों में उपर्युक्त नामों के अतिरिक्त वेणीप्रवीण, द्विजदेव आदि के नाम भी किसी

प्रकार आ जायँगे। तत्कालीन मुसलमान कवियों में आलम-शेख का जोड़ा प्रसिद्ध है। रसलीन और अलीमुहिब खाँ की रचनाएँ भी थोड़ा-बहुत मूल्य अवश्य रखती हैं।

यद्यपि रीति काल में हिंदी कविता की अंगपुष्टि बहुलता से हुई, पर साथ ही कलापक्ष की ओर जितना अधिक ध्यान दिया गया उतना भावपक्ष की ओर नहीं दिया गया। आचार्यत्व तथा कवित्व के मिश्रण ने भी ऐसी खिचड़ी पकाई जो स्वादिष्ट होने पर भी हितकर न हुई। आचार्यत्व में संस्कृत की बहुत कुछ नकल की गई और वह नकल भी एकांगी हुई। सिद्धांतों को लेकर उन पर विवेचनापूर्ण ग्रंथों के निर्माण की ओर ध्यान नहीं दिया गया और केवल पुरानी लकीर को ही पीटते रहने की रुचि ने साहित्य के इस अंग की यथेष्ट पुष्टि न होने दी।

ग्यारहवाँ अध्याय

आधुनिक काल

पद्य

कविता का जो प्रवाह केशवदास और चिंतामणि आदि ने वहाया, देव और विहारी के समय में वह पूर्णता को पहुँचकर क्षीण होने लगा; तथा पद्माकर और प्रतापसाहि तक पहुँचते पहुँचते उसकी गति प्रायः मंद पड़ गई। यह तो हम पहले ही कह चुके हैं कि संपूर्ण रीति-काल में अधिकांश निम्नकोटि का साहित्य तैयार होता रहा, जिसका कारण तत्कालीन जनता तथा रईसों की अभिरुचि थी। कविता का उच्च लक्ष्य भुला दिया गया था। जीवन-संबंधिनी स्थायी तथा उच्च भावनाएँ लुप्त हो गई थीं और कविता गंदी वासनाओं की साधिका मात्र बन रही थी। यह ठीक है कि इस काल के कुछ प्रतिभाशाली कवियों ने कहीं कहीं गार्हस्थ्य जीवन के मधुर संबंधों की बड़ी ही सुंदर अभिव्यंजना की है तथा प्रेम और सौंदर्य के छोटे छोटे रमणीक दृश्य मुक्तकों में दिखाए हैं; पर ऐसे कवियों की संख्या बहुत अधिक न थी। अधिकांश कवि अलंकारों के पीछे पागल होकर घूम रहे थे और रीति के संकीर्ण घेरे के बाहर निकलने में असमर्थ थे। जिस देश की जिस काल में ऐसी साहित्यिक प्रगति होती है, वह देश उस काल में सामाजिक, राजनीतिक तथा नैतिक आदि सभी दृष्टियों से पतित हो जाता है और कुछ समय के उपरांत उच्च लक्ष्य के संपन्न साहित्यकारों के प्रसाद से उसकी दशा का सुधार और संस्कार हुआ करता है।

रीति-धारा का अंत

शृंगार काल के अंतिम चरण में पद्माकर से बढ़कर कोई कवि नहीं हुआ। उन्हें हम इस समय का प्रतिनिधि कवि मान सकते हैं। शृंगारिक कविता में अश्लीलता का समावेश करके, अनुप्रासों की भरमार करके और समस्यापूर्ति की परंपरा का बीजारोपण करके उन्होंने जिस परिपाटी की पुष्टि की थी, आज भी वह थोड़ी-बहुत देखी जाती है। देहातों में कहीं चले जाइए, पद्माकर के सबसे अधिक कवित्त लोगों को कंठाग्र मिलेंगे, नखसिखुए कवियों को उनका ही सहारा देख पड़ेगा और समस्यापूर्तियों का प्रचलन भी खूब मिलेगा। अर्थालंकारों की ओर उतना ध्यान न भी हो, पर अनुप्रासों की योजना

तो देहाती कवियों की विशेषता हो रही है। यह केवल एक श्रेणी के लोगों की बात है। जो लोग अभी सनातन परंपरा का पालन करते जा रहे हैं, जिन लोगों ने कविता को मनोरंजन और चमत्कार-प्रदर्शन का साधन बना लिया है, जिन्हें अब भी देहातों के बाहर निकलकर प्रगतिशील समाज की कृतियों को देखने का अवसर नहीं मिला है, और जो अब भी देश के कुछ कोनों में छिपे हुए विलासी रईसों से यथासमय थोड़ा बहुत झटक लेने के फेर में रहते हैं, उनके लिये कविता कामिनी का वही रूप अब भी बना है जो भारतीय जन-समाज के उस अवनत युग में था। परंतु संतोष की बात इतनी ही है कि ऐसे लोगों की संख्या प्रतिदिन घटती जा रही है और अब साहित्यसंबंधी व्यापक और उच्च विचारों का भी प्रचार होने लगा है।

कुछ लोगों का कथन है कि हिंदी की शृंगार-परंपरा का अंत करके उसमें नवीन युग का आविर्भाव करनेवाले कारणों में सबसे प्रधान कारण अँगरेजों का भारतवर्ष में आगमन है। उनके मत से अँगरेजों ने इस देश में आकर यहाँ के लोगों को शिक्षित किया और उन्हें देश-प्रेम करना सिखलाया। यहीं से देशप्रेम की भावना से समन्वित साहित्य की सृष्टि हुई। इस बात को हम दूसरे रूप में स्वीकार करते हैं। यह ठीक है कि अँगरेजी राज्य के भारतवर्ष में प्रतिष्ठित होने पर हमारे हृदयों में जाति-प्रेम, देश-प्रेम आदि के भाव बढ़े, पर इसके लिये हम अँगरेजों के कृतज्ञ नहीं, उनकी कूट नीति के कृतज्ञ हों तो हों। विदेशी शासन के प्रतिष्ठित होने पर विजयी देश की रीति-नीति और आचार-व्यवहार की छाप विजित देश पर अवश्य पड़ती है, पर जब विजेता अपने साहित्य और धर्म का प्रच्छन्न या प्रकट रीति से प्रचार करता और विजित के साहित्य आदि को अनुन्नत बतलाता है, तब थोड़े समय के लिये उसका यह प्रपंच नीति भले ही सफल हो, पर जब उसकी पोल खुल जाती है और जब विजित देश अपने पूर्व-गौरव का स्मरण कर जाग उठता है तब सामाजिक, राजनीतिक, साहित्यिक आदि प्रत्येक क्षेत्र में प्रतिघात की प्रबल लहरें उठने लगती हैं, जिसके सामने विदेशीय आक्रमणकारियों की प्रवंचना नहीं चल सकती। वह काल सर्वतोमुखी हलचल का होता है, क्योंकि उस काल में पराधीन देश अपनी संपूर्ण शक्ति से दासता की बेड़ियों को तोड़ फेकने की चेष्टा करता है और रूढ़ियों के प्रतिकूल प्रबल आंदोलन करके सफलता प्राप्त करता है।

हिंदी की ह्रासकारिणी शृंगारिक कविता के प्रतिकूल आंदोलन का श्रीगणेश उस दिन से समझा जाना चाहिए जिस दिन भारतेंदु हरिश्चंद्र ने अपने "भारत-दुर्दशा" नाटक के प्रारंभ में समस्त देशवासियों को संबोधित करके देश की गिरी हुई अवस्था पर उन्हें आँसू बहाने को आमंत्रित किया था। इस देश के और यहाँ के साहित्य के इतिहास में वह दिन किसी अन्य महापुरुष के जयंती-दिवस से किसी प्रकार कम महत्त्वपूर्ण नहीं हो सकता। उस दिन शताब्दियों से सोते हुए साहित्य ने जागने का उपक्रम किया था, उस दिन रूढ़ियों की अनिष्टकर परंपरा के विरुद्ध प्रबल क्रांति की घोषणा हुई थी, उस दिन छिन्न भिन्न देश को एक सूत्र में बाँधने की शुभ भावना का उदय हुआ था, उस दिन देश और जाति के प्राण एक सत्कवि ने सच्चे जातीय जीवन की झलक दिखाई थी और उसी दिन संकीर्ण प्रांतीय मनोवृत्तियों का अंत करने के लिये स्वयं सरस्वती ने राष्ट्रभाषा के प्रतिनिधि कवि के कंठ में बैठकर एक राष्ट्रीय भावना उच्छ्वसित की थी। मुक्तकेशिनी, शुभ्रवसना, परवशा भारत-माता की करुणोज्ज्वल छवि देश ने और देश के साहित्य ने उसी दिन देखी थी और उसी दिन सुनी थी टूटी-फूटी शृंगारिक वीणा के बदले एक गंभीर झंकार, जिसे सुनते ही एक नवीन जीवन के उल्लास में वह नाच उठा था। वह दिवस निश्चय ही परम मंगलमय था, क्योंकि आज भी उसका स्मरण कर हम अपने को सौभाग्यशाली समझते हैं। यदि सच पूछा जाय तो उसी दिन से साहित्य में एक नवीन चेतना हुई और उसी दिन से उसके दिन फिरे। आज हम जिस साहित्यिक प्रगति पर गर्व करते हैं, उसका बीजारोपण इसी शुभ दिवस में हुआ था।

भारतेंदु हरिश्चंद्र

राजा राममोहन राय, स्वामी दयानंद, भारतेंदु हरिश्चंद्र आदि के उद्योग से सामाजिक, सांप्रदायिक, राजनीतिक तथा साहित्यिक क्षेत्रों में जो हलचल मची, उसके परिणाम-स्वरूप सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण बात हुई जनता में शिक्षा की अभिरुचि। संस्कृत तथा उर्दू-फारसी की ओर प्रवृत्त करनेवाली प्रेरणा स्वामी दयानंद से अधिक मिली और हिंदी अँगरेजी की पढ़ाई तो कुछ पहले से ही प्रारंभ हो चुकी थी। पड़ोस में होने के कारण उन्नतिशील बँगला भाषा की ओर भी कुछ लोगों का ध्यान लगभग उसी समय से खिंचा। इस प्रबल शिक्षाप्रचार का जो प्रभाव राजनीतिक अभिज्ञता, सामाजिक जागर्ति और धार्मिक चेतना आदि के रूप में पड़ा, वह तो पड़ा ही, हिंदी साहित्य-क्षेत्र भी उसके शुभ-परिणाम-स्वरूप अनंत उर्वर हो गया। सारा साहित्य नवीन

प्रकाश से परिपूर्ण होकर ज्योति की शत सहस्र किरणें विकीर्ण करने लगा। हमारी कविता भी सजग हो उठी। वह अपनी स्थविरता का परित्याग कर आगे बढ़ी और सामयिक प्रवृत्तियों के अनुकूल रूप-रंग बदलकर शिक्षित जनता के साहचर्य में आ गई। स्वयं देवी सरस्वती ने अपने अलौकिक कर-स्पर्श से कविता-कामिनी को सुवर्णमयी बना दिया था। फिर भला भक्ति-गद्गद भाव से घर घर उसकी आरती क्यों न उतारी जाती, क्यों न उसकी यश प्रशस्ति अमिट अक्षरों से हमारे हृदय पटल पर अंकित कर दी जाती? उस काल की हिंदी कविता मुख्यतः देशप्रेम और जातीयता की भावना को लेकर उदित हुई थी, यद्यपि अन्य प्रकार की रचनाएँ भी थोड़ी बहुत होती रहती थीं।

भारतेंदु हरिश्चंद्र की कविता हिंदी में नवीन प्रगति की पताका लेकर आई थी। उस समय के अन्य कवियों ने सच्चे सैनिकों की भाँति अपने सेनापति का अनुगमन किया था। उन सभी कवियों पर भारतेंदु का प्रभाव स्पष्टतः देख पड़ता है। यहाँ हम हरिश्चंद्र की फुटकर रचनाओं की बात नहीं कहते जो चली आती हुई शृंगारिक कविता की श्रेणी की ही मानी जायँगी। उनकी जो रचनाएँ जातीय भावनाओं से प्रेरित होकर लिखी गईं, जिनमें देश की अवस्था और समाज की अवस्था आदि का वर्णन है, यहाँ उसी का विवेचन अभीष्ट है। हम यह स्वीकार करते हैं कि भारतेंदु में उत्कट देश-प्रेम और प्रगाढ समाज-हितैपिता के भाव थे, परंतु साथ ही हम यह भी मान लेते हैं कि उनका देशानुराग, जातिप्रेम आदि बाह्य परिस्थितियों के फल-स्वरूप थे, उन्हें उन्होंने जीवन के प्रवाह के भीतर से नहीं देखा था। अनेक अवसरों पर तो राजा शिवप्रसाद आदि के विरोध में उन्होंने स्वदेशप्रेम का व्रत धारण किया था। इसी कारण उनकी तत्संबंधिनी रचनाएँ विशेष तन्मयता की सूचना नहीं देतीं, कहीं कहीं तो बँगला आदि के अनुवादों के रूप में ही व्यक्त हुई हैं। क्षणिक परिस्थितियों के आधार पर निर्मित साहित्य के मूल में भावना की वह तीव्रता और स्थिरता नहीं होती जो स्थायी साहित्य के लिये अपेक्षित है। राजनीति और समाजनीति को जीवन के अविच्छिन्न अंग बनाकर जो रचनाएँ होंगी, काव्य की दृष्टि से उनका ही महत्त्व होगा, उन्हें प्रचारक या उपदेशक की दृष्टि से देखने से कवि-कर्म में अवश्य बाधा पड़ेगी।

प्राकृतिक वर्णनों की जो परिपाटी रीति-ग्रंथकारों ने चला रखी थी, वह बहुत अधिक संकुचित थी। कवियों ने प्रकृति के नाना रूपों को विविध अलंकारों की योजना के लिये ही रख छोड़ा था, वे भावों का

आलंबन न बनकर उद्दीपन मात्र रह गए थे। वाल्मीकि रामायण के वर्षा और शरदृतु के वर्णनों में प्रकृति के विविध दृश्य जिस संश्लिष्ट रूप में खींचे गए हैं, उससे कवि का सूक्ष्म निरीक्षण तो भासित होता ही है साथ ही उसका प्रकृति के प्रति निसर्गसिद्ध अनुराग भी लक्षित होता है। उन वर्णनों में प्रकृति आलंबन है और कवि आश्रय। उपमा, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों की सिद्धि के लिये अलंकार-वस्तुओं का उल्लेखमात्र करनेवाले कवियों और प्रकृति को सजीव सत्ता मानकर उससे अंतःकरण की आत्मीयता स्थापित करनेवाले कवियों में बड़ा अंतर होता है। भारतेंदु हरिश्चंद्र का प्रकृति-वर्णन यद्यपि विविध वस्तुओं की योजना की दृष्टि से रीतिकाल के कवियों से अधिक सुंदर और हृदयग्राही हुआ है; पर उसके साथ उनके भावों का संबंध विशेष गहन और अविच्छिन्न नहीं जान पड़ता। हरिश्चंद्र स्वयं नागरिक थे, प्रकृति की मुक्त विभूति का जो अनंत प्रसार नगरों के बाहर व्याप्त है, उसका साक्षात्कार उन्होंने कम किया था। इसके अतिरिक्त वे समाज-सुधारक आदि भी थे, जिसके कारण उन्हें अपनी दृष्टि मनुष्य के बनाए हुए सामाजिक घेरे में ही रख छोड़ने को बाध्य होना पड़ा था।

परंतु हिंदी कविता के उस परिवर्तनकाल में हरिश्चंद्र जैसे महान् व्यक्ति को देखकर हम चकित हुए बिना नहीं रह सकते। यह ठीक है कि शुद्ध काव्य-समीक्षा की दृष्टि से उनकी रचनाएँ सूर और तुलसी की कोटि को नहीं पहुँचतीं, और यह भी ठीक है कि कबीर, जायसी आदि कवियों की वाणी की समता भी वे नहीं कर सकते; पर इससे उनका महत्त्व किसी प्रकार कम नहीं होता। रीति-कविता की शताब्दियों से चली आती हुई गंदी गली से निकल शुद्ध वायु में विचरण करने का श्रेय हरिश्चंद्र को पूरा पूरा प्राप्त है। वे और उनके साथी बड़े ही सहृदय व्यक्ति थे जिन्हें अपनी धुन में मस्त रहना आता था। मौलिक साहित्यकारों में हरिश्चंद्र का स्थान हिंदी में बराबर ऊँचा रहेगा। वे प्रेमी जीव थे, पर उनका देश-प्रेम भी अतिशय प्रबल था। यह स्वीकार करते हुए भी कि व्यापकता और स्थायित्व की दृष्टि से विशेष उत्कृष्ट श्रेणी के साहित्य की उन्होंने सृष्टि नहीं की। हमको यह मानना पड़ेगा कि मुक्तक रचना में जातीयता के भावों को सफलतापूर्वक भरकर उन्होंने हिंदी कविता का अपार उपकार किया। भारतेंदु हरिश्चंद्र का वास्तविक महत्त्व परिवर्तन उपस्थित करने में और साहित्य को शुद्ध मार्ग से ले चलने में है, उच्च कोटि की काव्य-रचना करने में उतना नहीं है। परिवर्तन उपस्थित करने का महत्त्व कितना अधिक होता है और इस

दृष्टि से हरिश्चंद्र का स्थान हिंदी-साहित्य में कितना ऊँचा है इसका अनुमान हम तभी कर सकेंगे जब उनके पीछे की साहित्यिक प्रगति में हम उनके प्रभाव का साक्षात्कार करेंगे और उनके समसामयिक सभी कवियों में उनकी अमिट छाप देखेंगे। शृंगारिक कविता की प्रबल वेग से बहती हुई जिस धारा का अवरोध करने में हिंदी के प्रसिद्ध वीर कवि भूषण समर्थ नहीं हुए थे, भारतेंदु उसमें पूर्णतः सफल हुए। इससे भी उनके उच्च पद का पता लग सकता है।

हरिश्चंद्र के समकालीन व्यक्ति

हरिश्चंद्र के उपरांत हिंदी के कवियों की प्रवृत्ति अँगरेजी की लीरिक कविता के अनुकरण में छोटे छोटे गेय पद बनाने और उन्हें पत्रों में प्रकाशित करने की ओर हुई। लीरिक कविता में आत्माभिव्यंजन की प्रधानता रहनी चाहिए; पर हिंदी के तत्कालीन कविताकारों में यह बात कम देखी जाती है। न तो विषयों के उपयुक्त चुनाव की दृष्टि से और न तन्मयता की दृष्टि से उनकी रचनाएँ श्रेष्ठ लीरिक कविताओं में गिनी जा सकती हैं। यह स्पष्ट जान पड़ता है कि शिक्षा आदि विषयों पर कविता लिखनेवाले व्यक्ति में काव्य की सच्ची प्रेरणा कम होती है, निबंध-रचना का भाव अधिक होता है। हिंदी के उस काल के कवियों ने ऐसे ही विषयों पर कविता की, जिससे जन-समाज में जागर्ति तो फैली, पर कविता का विशेष कल्याण न हो सका। काव्य के लिये निबंधों की सी बुद्धिगम्य विचारप्रणाली की आवश्यकता नहीं होती, भावों को उच्छ्वसित करना आवश्यक होता है। अनेक प्रमाणों को एकत्र कर पद्य का ढाँचा खड़ा करना कविता नहीं है, और चाहे जो कुछ हो। उस काल की हिंदी कविता में समाजसुधार और जातीयता का इतना दृढ़ प्रभाव पड चुका था कि उनके प्रभाव से मुक्त होकर रचना करना किसी कवि के लिये संभव नहीं था।

अब तक ब्रजभाषा ही कविता का माध्यम थी और कवित्त सवैया आदि छंदों का ही अधिक प्रयोग होता था। पर इस समय के लगभग भाषा के माध्यम में परिवर्तन किया गया। ब्रजभाषा के बदले खड़ी बोली का प्रयोग होने लगा। इस समय तक खड़ी बोली हिंदी गद्य की प्रचलित भाषा हो चुकी थी, पर पद्य में अपनी कोमलता और सौंदर्य के कारण ब्रजभाषा ही व्यवहार में लाई जा रही थी। खड़ी बोली के पक्षपातियों का सबसे बड़ा तर्क यही था कि बोलचाल की जो भाषा हो उससे विभिन्न भाषा का प्रयोग कविता में न होना चाहिए। यहाँ हम इस तर्क की उपयुक्तता पर कुछ भी नहीं कहेंगे। पर पढ़ी-लिखी जनता

की प्रवृत्ति खड़ी बोली की ओर अधिक हो रही थी, इसमें संदेह नहीं। छंदों में भी अनेकरूपता आने लगी थी। नए नए छंदों का इस काल में अच्छा आविष्कार हुआ। परंतु इस काल की सबसे महत्त्वपूर्ण बात है व्याकरण की प्रतिष्ठा। भारतेंदु हरिश्चंद्र के समसामयिक कवियों को जो मार्ग प्रशस्त करना था, उसमें व्याकरण के जटिल नियमों को स्थान नहीं दिया जा सकता था। हिंदी के उस क्रांति-युग में व्याकरण की व्यवस्था संभव भी नहीं थी। उस समय तो कविता को रीति की संकीर्णता से निकालना था, उसे खुली हवा में लाकर स्वस्थ करना था, पर कुछ काल के उपरांत जब हिंदी गद्य कुछ उन्नत हुआ, तब भाषा-संस्कार आदि की ओर भी ध्यान दिया गया। यह सब होते हुए भी हमको इतना तो अवश्य स्वीकृत करना पड़ेगा कि उस काल की खड़ी बोली बड़ी कर्कशता लेकर आई थी, उसमें काव्योपयुक्त कोमलता नहीं थी। परंतु कर्कशता में कोमलता का समावेश करने और व्याकरण के नियमों से भाषा को शृंखलित करने की चेष्टा उस काल में अवश्य हुई थी।

पाठकजी और द्विवेदीजी

स्वर्गीय पंडित श्रीधर पाठक और पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी खड़ी बोली की कविता के प्रथम लेखक और आचार्य हुए। पाठकजी ने गोल्डस्मिथ की कवितापुस्तकों का अनुवाद "ऊजड़ गाँव", "एकांतवासी योगी" और "श्रांत पथिक" के नाम से किया और कुछ मौलिक कविताएँ भी कीं। द्विवेदी जी ने मराठी साहित्य की प्रगति से परिचित होकर हिंदी की सर्वश्रेष्ठ मासिक पत्रिका सरस्वती में छोटी छोटी रचनाएँ कीं और अनेक कवियों को प्रोत्साहन दिया। यदि पाठकजी में कवित्व द्विवेदीजी से अधिक है तो द्विवेदीजी में भाषा का मार्जन पाठकजी की अपेक्षा अधिक है। उस समय खड़ी बोली का जो अनिश्चित रूप प्रचलित था उसे सुधारकर काव्योपयुक्त बनाने की चेष्टा करने के कारण द्विवेदीजी का स्थान अधिक महत्त्वपूर्ण समझा जायगा। परंतु मराठी कविता की कर्कशता द्विवेदीजी की रचनाओं में भी देख पड़ी। कुछ काल उपरांत द्विवेदीजी ने कुमारसंभव आदि संस्कृत ग्रंथों के अनुवाद कविता में किए, जो अपने ढंग के अनुपम हुए। पाठकजी ने व्रजभाषा का पल्ला भी पकड़ा और बड़ी ही मधुर कविता का सृजन किया। द्विवेदीजी के अनुयायियों में आगे चलकर अनेक प्रसिद्ध कवि हुए, जिनमें बाबू मैथिलीशरण गुप्त सबसे अधिक यशस्वी हैं। पाठकजी को प्रकृति की रम्य क्रीड़ाभूमि काश्मीर में तथा अन्य मनोहर पहाड़ी प्रदेशों में रहने का सुअवसर मिला था, जिसके फल-स्वरूप उनके रसिक हृदय ने

प्राकृतिक दृश्यों के साथ आंतरिक अनुराग प्राप्त कर लिया था। इस अनुराग की स्पष्ट झलक उनकी रचनाओं में देख पड़ती है।

पंडित अयोध्यासिंह उपाध्याय और पंडित नाथूराम शंकर शर्मा हिंदी के उन प्रसिद्ध कवियों में हैं जिन्होंने द्विवेदीजी के प्रभाव के बाहर रहकर काव्य-रचना की। अपने प्रारंभिक कविता-काल में उपाध्यायजी व्रजभाषा में कविता करते थे; पर आगे चलकर उन्होंने संस्कृत पदावली का आश्रय लेकर संस्कृत वृत्तों में प्रियप्रवास की रचना की। प्रियप्रवास में उपाध्यायजी की कवित्व-शक्ति बड़ी सुंदर देख पड़ी थी और उसके कुछ स्थलों में काव्यत्व उच्च कोटि का मिलता था, जिसे देखकर उनके उज्ज्वल भविष्य की कल्पना की गई थी, परंतु प्रियप्रवास की रचना के उपरांत उन्हें काव्य में मुहावरों का चमत्कार दिखाने तथा उपदेशों और व्यंग्यों द्वारा समाजसुधार करने की धुन सवार हुई। कवि न बनकर वे समाजसुधारक, उपदेशक और मुहावरों के संग्रहकार बन गए। यह ठीक है कि उनकी ढेर की ढेर रचनाओं में कुछ छोटी छोटी कृतियाँ अंतःकरण की अकृत्रिम प्रेरणा से लिखी जाने के कारण अच्छी बन पड़ी हैं, पर अधिकांश कविताएँ बनावटी और परिश्रमपूर्वक गढ़ी हुई जान पड़ती हैं। प्रियप्रवास में भी संस्कृत छंदों का आश्रय लेने के कारण उनको भाषा और उसके व्याकरण की तोड़-मरोड़ करनी पड़ी है। इससे प्रसाद गुण का अभाव हो गया है। अब भी यदि उपाध्यायजी कविता के उच्च लक्ष्य की ओर ध्यान देकर प्रियप्रवास की ओर फिरें तो उनसे हिंदी का गौरव बढ़ सकता है। यह प्रायः देखा जाता है कि प्रौढ़ता की ओर अग्रसर होते हुए लेखक या कवि में भावों की प्रचुरता तथा शब्दों की संकीर्णता हो जाती है। इसके कहने का यह तात्पर्य है कि थोड़े थोड़े शब्दों में गूढ़ से गूढ़ भावों का व्यंजन किया जाता है। उपाध्यायजी इस नियम के अपवाद देख पड़ते हैं। पंडित नाथूरामजी शर्मा विलक्षण शब्दनिर्माता और कवि हैं। आर्यसमाजी होते हुए भी उनकी सब कविताएँ सांप्रदायिक नहीं हो गई हैं और कुछ में तो उत्तम कोटि के कवित्व की झलक मिलती है। श्रृंगार-रस के पद्माकरी कवियों की भाँति भी इन्होंने कुछ कविताएँ कीं, पर वे उनके योग्य नहीं कही जा सकतीं।

उपाध्यायजी और नाथूरामजी

बाबू मैथिलीशरणजी गुप्त आधुनिक खड़ी बोली के सबसे प्रसिद्ध और प्रतिनिधि कवि हैं। पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी के प्रभाव में रहकर उन्होंने अपनी भाषा का बड़ा ही सुंदर और परिमार्जित रूप खड़ा किया। द्विवेदीजी की ही

मैथिलीशरणजी गुप्त

भाँति उनकी भाषा में संस्कृत का पुट रहता है पर "प्रियप्रवास" की भाँति वह अतिशय संस्कृतगर्भित नहीं होता। उर्दू के बहुत ही थोड़े शब्दों को ग्रहण करने के कारण वे पंडित गयाप्रसाद "सनेही" जी की उर्दू-मिश्रित कविताशैली से भी विभिन्न रूप में हमारे सामने आते हैं। भाषा की दृष्टि से उनका मध्यम मार्ग ही कहा जायगा। उनकी पहली रचना भारत-भारती अब भी अनेक देशप्रेमी नवयुवकों का कंठहार हो रही है, और कितने नवसिखुए कवि अब भी उसका अनुकरण करते देखे जाते हैं। पर काव्य की दृष्टि से उसका विशेष महत्त्व नहीं है। काव्य की दृष्टि से उनका जयद्रथवध खंड-काव्य उत्कृष्ट हुआ है। उसमें वीररस का पूर्ण परिपाक और बीच बीच में करुणरस के सुंदर छींटे देखकर मन रसमग्न हो जाता है। अपनी "हिंदू" शीर्षक कविता-पुस्तक में गुप्तजी उपदेशक बनकर "गीता" का अनुकरण करते देखे जाते हैं; पर सामयिक प्रवाह में पड़कर ऐसी कविता की सृष्टि करने के लिये हम उन्हें दोष नहीं दे सकते। आधुनिक रचनाओं मे पंचवटी सर्वश्रेष्ठ है। उसमें लक्ष्मण का चरित्र बड़ा ही उज्ज्वल चित्रित हुआ है और पूरी पुस्तक में सुंदर पद्यों की अनोखी छटा देख पड़ती है। मैथिलीशरण गुप्तजी ने 'साकेत', 'यशोधरा' और 'द्वापर' नामक काव्यों की भी रचना की है। साकेत महाकाव्य है। उसमें साकेत (अयोध्या) को केंद्र बना कर रामकथा का वर्णन किया गया है। कवि राम-लक्ष्मण-सीता के साथ वन नहीं जाता; भरत, शत्रुघ्न, मांडवी, श्रुतिकीर्ति, उर्मिला आदि के साथ अयोध्या ही का वर्णन करना अपना उद्देश्य बनाता है। विशेषतया उर्मिला के चरित्र से कवि अधिक अपनाव दिखलाता है। इस महाकाव्य में स्थल स्थल पर कवि की प्रतिभा खूब चमकी है। किंतु अधिकांश स्थल विशेषकर आरंभ के, शिथिल और शुष्क हैं। फिर भी इसमें संदेह नहीं कि यह ग्रंथ आधुनिक कवियों में उन्हें उच्च आसन प्रदान करता है। यशोधरा में बुद्ध-वैराग्य के बाद यशोधरा का वर्णन है। यह करुण रस का सुंदर काव्य है, किंतु स्थल स्थल पर व्यर्थ के वाग्विस्तार ने काव्य के प्रभाव को क्षीण कर दिया है। द्वापर नए ढंग का काव्य है जिसमें कृष्ण-कथा से संबंध रखनेवाले पात्र अपने अपने मुँह से एक प्रकार से अपनी अपनी जीवन-कथा कहते हैं। ढंग सर्वथा मौलिक है और गुप्त जी की उपज को सिद्ध करता है। गुप्तजी का आधुनिक समय का प्रतिनिधि कवि होना इसी बात से सिद्ध होता है कि उनकी छायावाद के ढंग की रचनाएँ भी उस श्रेणी के कवियों की प्रशंसा पा चुकी हैं। गुप्तजी की कविता में कहीं कृत्रिमता नहीं देख पड़ती परंतु इसमें भी संदेह

नहीं कि उनका अधिकांश काव्य पद्यमय गद्य है। इन्होंने बँगला के प्रसिद्ध कवि माइकेल मधुसूदन दत्त के "मेघनादवध", "वीरांगना", "विरहिणी व्रजांगना" तथा नवीनचंद्र सेन के "पलासीर युद्ध" का भी हिंदी में अनुवाद किया है। इन अनुवादों में गुप्तजी को अद्भुत सफलता मिली है। इनसे उनकी विलक्षण क्षमता का पता तो चलता ही है, खड़ी बोली की शब्द-शक्ति भी प्रकट होती है।

पंडित गयाप्रसाद शुक्ल सनेही और लाला भगवानदीन उर्दू-मिली भाषा में कविता करते हैं। दोनों ही राष्ट्रीयता के भाव को लेकर आए हैं और दोनों की रचनाएँ ओजस्विनी हुई हैं। अंतर इतना ही है कि सनेहीजी ने आधुनिक समाज को अपनी कविता का लक्ष्य बनाया और दीनजी महाराणा प्रताप, शिवाजी आदि वीर नृपतियों की प्रशस्तियाँ लिखने में लगे रहे। राष्ट्रीय कवियों को साहित्य की क्लिष्ट भाषा लेकर नहीं चलना पड़ता, उन्हें तो जनता की प्रचलित भाषा का आश्रय लेना पड़ता है। इस दृष्टि से सनेहीजी और दीनजी दोनों ने ही भाषा का उपयुक्त चुनाव किया है। राष्ट्रीय कवियों को पूरी सफलता तभी मिल सकती है जब वे राष्ट्रीय आंदोलन में स्वयं सम्मिलित हों और उत्साहपूर्वक जनता को मुक्ति का पथ दिखलावें। चंद, भूषण आदि वीर कवियों ने ऐसा ही किया था। हिंदी के आधुनिक राष्ट्रीय कवियों में पंडित माखनलाल चतुर्वेदी और पंडित बालकृष्ण शर्मा का कार्य इस दृष्टि से प्रशंसनीय कहा जायगा। सनेहीजी की कुछ शृंगारिक रचनाएँ अच्छी नहीं हुई हैं, पर वे उनकी प्रारंभिक कृतियाँ हैं।

सनेहीजी और दीनजी

पंडित रामचंद्र शुक्ल की प्रसिद्धि उत्कृष्ट गद्यलेखक और समालोचक की दृष्टि से है, उनकी कविताएँ उन्हें अधिक सम्मानित नहीं कर सकी हैं। बुद्धचरित के अतिरिक्त उनकी अन्य रचनाएँ इधर-उधर बिखरी पड़ी हैं, संगृहीत नहीं हुई हैं। शुक्लजी हिंदी के विद्वान् और दार्शनिक आलोचक हैं, परंतु उनकी सहृदयता भी विशेष उल्लेखनीय है। वन्य प्रकृति के उजाड़ और सूने स्वरूप के प्रति भी उनका जितना अनुराग है उतना बागीचों में खिले हुए गुलाब के फूल के प्रति नहीं। सौंदर्य को बड़े ही व्यापक रूप में देखने की अंतर्दृष्टि हिंदी में शुक्लजी को मिली है। उनके प्राकृतिक वर्णन बुद्धचरित के सर्वश्रेष्ठ अंश हैं। उनसे उनका सूक्ष्म निरीक्षण प्रतिभासित होता है। "हृदय के मधुर भार" शीर्षक उनके फुटकर पद्यों में कहीं व्यंग्य और कहीं मीठी चुटकियों के द्वारा

शुक्लजी

मानव-समाज की अज्ञता, दुर्बलता और अहंकारिता का नग्न रूप दिखाया गया है।

पंडित रामनरेश त्रिपाठी ने हिंदी में "मिलन", "पथिक" तथा "स्वप्न" नामक तीन खंड-काव्यों की रचना की है। उनकी भाषा में संस्कृत का सौंदर्य दर्शनीय है। यद्यपि उनमें भावों की प्रचुरता नहीं है, पर एक ही वस्तु को बड़ी सुंदरता से कई बार दिखाने में उन्हें बड़ी सफलता मिली है। राष्ट्रीयता की भावना उनकी पुस्तकों में भरी पड़ी है। इसी से राजनीतिक क्षेत्र के बड़े बड़े व्यक्तियों ने उनकी प्रशंसा की है, यद्यपि उनकी राजनीति कहीं कहीं उनकी कविता में बाधक हो गई है। "विधवा का दर्पण" शीर्षक उनकी एक मुक्तक रचना, हिंदी में उनकी अब तक की कृतियों में उच्च स्थान की अधिकारिणी है। त्रिपाठीजी की "अन्वेषण" आदि अन्य छोटी छोटी रचनाएँ भी बड़ी ही सुंदर बन पड़ी हैं।

त्रिपाठीजी

ब्रजभाषा में कविता करनेवालों में हरिश्चंद्र के उपरांत प्रेमघन और श्रीधर पाठक श्रेष्ठ कवि हुए। इनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। इनके उपरांत पंडित सत्यनारायण शर्मा कविरत्न और बाबू जगन्नाथदास रत्नाकर का नाम उल्लेखनीय है। कविरत्नजी ब्रजमंडल के रहनेवाले ब्रजपति के अनन्य भक्त, बड़े ही रसिक और सरल स्वभाव के व्यक्ति थे। उनकी रचनाओं में ब्रज की माधुरी लबालब भरी है। स्वदेशानुराग की सच्ची झलक दिखलानेवाले थोड़े कवियों में इनकी गणना होगी। "रत्नाकरजी" ब्रजभाषा के आधुनिक सर्वोत्कृष्ट कवि हैं। इनका "हरिश्चंद्र काव्य" सुंदर हुआ है, पर "गंगावतरण" नामक नवीन रचना में इनकी सच्ची काव्य-प्रतिभा चमक उठी है। इस ग्रंथ में रत्नाकरजी ने प्रकृति के नाना रूपों के साथ अपने हार्दिक भावों का सामंजस्य दिखा दिया है। रत्नाकरजी की भाषा-शैली पद्माकरी कही जा सकती है और अनुभावों के प्रस्तुत करने में उन्होंने आधुनिक मनोविज्ञान के सिद्धांतों का उपयोग किया है। ब्रजभाषा के आधुनिक कवियों में वियोगी हरिजी की भी अच्छी प्रसिद्धि है। ये भक्त हैं, दार्शनिक हैं और वीररस की कविता करनेवाले हैं। यद्यपि यह युग ब्रजभाषा का नहीं है तथापि उपर्युक्त कवियों की रचनाएँ उत्कृष्ट भी हुई हैं और पठित जनता में उनका प्रचार भी हुआ है। आधुनिक काल के ब्रजभाषा के कवियों में रत्नाकरजी का स्थान सर्वश्रेष्ठ है।

ब्रजभाषा के आधुनिक कवि

इस युग के अन्य कवियों में पंडित रूपनारायण पांडेय, बाबू सियारामशरण गुप्त, पंडित अनूप शर्मा, पंडित गिरिधर शर्मा, पंडित कामताप्रसाद गुरु, पंडित रामचरित उपाध्याय, पंडित लोचनप्रसाद पांडेय आदि भी उल्लेख योग्य हैं। रूपनारायणजी की भाषा चलती हुई खड़ी बोली है, उनकी कविता में पूरी रसात्मकता है। हिंदी की लीरिक कविताओं में उनकी 'वन-विहंगम' शीर्षक रचना उत्कृष्ट है। सियारामशरणजी ने सामाजिक कुरीतियों पर इतनी तीव्र व्यंग्यमयी और करुण कविता की है कि चित्त पर स्थायी प्रभाव पड़े बिना नहीं रहता। समाजनीति को काव्योपयोगी बनाने की विधि हिंदी में सियारामशरणजी को सबसे अधिक आती है। इस क्षेत्र में उनकी सफलता प्रायः अद्वितीय है। वीररस की फड़कती हुई कविता करने के कारण पंडित अनूप शर्मा को कुछ लोग आधुनिक भूषण कहते हैं। वास्तव में उनकी अनेक रचनाएँ अपूर्व ओजस्विनी हुई हैं। पंडित गिरिधर शर्मा "नवरत्न" संस्कृत के विद्वान् और हिंदी के अच्छे कवि हैं। इन्हें गुजराती और बँगला की कविता-पुस्तकों के अनुवाद में अच्छी सफलता मिली है। गुरुजी की कविताओं में व्याकरण के नियमों की अच्छी रक्षा हुई है। पंडित रामचरित उपाध्याय और पंडित लोचनप्रसाद पांडेय को आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदीजी ने प्रोत्साहित कर कवि बनाया था। उपाध्यायजी की रामचरितचिंतामणि अपने ढंग की सुंदर पुस्तक है। पांडेयजी की छोटी छोटी रचनाएँ अच्छी हुई हैं। इन कवियों के अतिरिक्त स्वर्गीय पंडित मन्नन द्विवेदी और पंडित माखनलाल चतुर्वेदी आदि की कविताएँ भी महत्त्व रखती हैं।

अन्य कविगण

हिंदी की काव्यधारा का सामान्य परिचय ऊपर दिया गया है। अब थोड़े समय से हिंदी कविता में रहस्यवाद या छायावाद की सृष्टि हो रही है। (कुछ लोग रहस्यवाद या छायावाद को आध्यात्मिक कविता बतलाते हैं और पाश्चात्य देशों के उदाहरण द्वारा यह सिद्ध करते हैं कि धर्मगुरुओं और ज्ञानियों ने ही रहस्यवाद की कविता की है। इँग्लैंड के अनेक रहस्यवादी कवि सांप्रदायिक कवियों की श्रेणी में आवेंगे, क्योंकि उनकी कविता में लोक-सामान्य भावों का समावेश नहीं है, विभिन्न संप्रदायों की विचारपरंपरा के अनुसार उसकी रचना हुई है। परंतु रहस्यवाद की कविता सांप्रदायिक आधार को ग्रहण किए बिना भी लिखी जा सकती है। इँग्लैंड के ब्लेक, फारस के उमर खैयाम और भारत के जायसी आदि कवियों ने बहुत कुछ ऐसी ही कविता की है। यह ठीक है कि उनकी काव्यगत

छायावाद

अनुभूतियाँ सामान्य अनुभूतियों से विभिन्न हैं; पर वे सत्य हैं, अतः उनमें रसात्मकता पूरी मात्रा में पाई जाती है। हिंदी के कवि जायसी ने प्रकृति के विविध रूपों में अनंत विच्छेद और अनंत संयोग की जो झलक दिखलाई है, उसका उन्होंने स्वतः अनुभव किया था, केवल सूफी संप्रदाय की किंवदंती के आधार पर वह अवलंबित नहीं है। (हिंदी की आधुनिक रहस्यवाद की कविता में थोड़ी बहुत सांप्रदायिकता अवश्य घुस आई है। छायावाद की कविता में सबसे खटकनेवाली बात उसके भावों की अप्रासादकता है। इस संसार के उस पार जो जीवन है उसका रहस्य जान लेना सबके लिये सुगम नहीं है। दार्शनिक सिद्धांतों की अनुभूति भी सबका काम नहीं है। यह मान लेना कि जो सुगमता से दूसरों की समझ में न आ सके अथवा जिसमें विभिन्न या विपरीत भावों के द्योतक शब्दों का साहचर्य स्थापित किया जाय ऐसी कविता प्रतिभा का एकमात्र द्योतक है, कहाँ तक अनुचित या असंभव है, इसके कहने की आवश्यकता नहीं है। पर इस कारण निराश होने की आवश्यकता नहीं है। समय के प्रभाव और विद्या के प्रसार से जब यह प्रवाह संयत प्रणालियों में चलने लगेगा तब हिंदी कविता का यह नया विकास बड़ा ही मनोरम होगा।

यहाँ पर यह कह देना भी बहुत आवश्यक जान पड़ता है कि हिंदी के रहस्यवादी कवियों में जिनकी गणना होती है, वे सब के सब रहस्यवादी नहीं हैं। उनमें से कुछ ने तो रहस्यवाद की एक भी कविता नहीं लिखी अँगरेजी लीरिक कविता के ढंग पर रचना करनेवाले कितने ही नवीन कवि रहस्यवादी कहलाने लगे हैं, (बाबू जयशंकर प्रसाद कुछ पहले से ही रहस्यवाद की रचनाएँ करने लगे थे। उनकी कविता में सूफी कवियों का ढंग अधिकतर पाया जाता है, यद्यपि अँगरेजी कविता की पालिश भी उनमें कम नहीं है। प्रसादजी ने संस्कृत साहित्य का भी अच्छा अध्ययन किया है और उनकी कविता की भाषा संस्कृत-प्रधान होती है। जयशंकर प्रसादजी अत्यंत भावुक हृदय हैं। उनकी कविता भी अत्यंत भावुकता-मयी है। (सूक्ष्म लाक्षणिकता और भावनामय आभ्यंतर जीवन का स्पष्टीकरण उनकी विशेषता है। वे आर्य जाति के अतीत के बड़े उपासक हैं। उसका पुनर्निर्माण कर वे अपने नाटकों और काव्यों के रूप में जगत के सामने रख रहे हैं। उनके नाटक या तो भावनाओं से संबंध रखते हैं या भारत के अतीत काल से। अजातशत्रु, राज्यश्री, स्कंदगुप्त, जनमेजय का नाग यज्ञ, चंद्रगुप्त आदि नाटक सब प्राचीन भारत से संबंध रखते हैं और

छायावाद के कवि

कहीं कहीं आज का शर्ग निर्दिष्ट करते हैं, जैसे स्कंदगुप्त में। प्रत्येक नाटक में सुंदर गीत स्थल स्थल पर बिखरे हुए हैं जिनमें काव्य का उत्कर्ष दिखलाई देता है, यद्यपि भाषा-शैली तथा भावों की सूक्ष्मता के कारण सामान्य पाठकों के लिये उनमें दुरूहता आ गई है।

अभी उनका 'कामायनी' नामक महाकाव्य प्रकाशित हुआ है, जिसमें उन्होंने भारतीय इतिहास के अरुणोदय अर्थात् मनु-काल का पुनर्निर्माण किया है। और अपनी कल्पना और खोज के द्वारा उस युग का एक चित्र प्रस्तुत किया है जहाँ पुरातत्त्ववेत्ताओं की भी दृष्टि अच्छी तरह प्रवेश नहीं कर पाई है।

भारतीय अद्वैतवाद को लेकर काव्यक्षेत्र में आनेवाले कवियों में पंडित सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' मुख्य हैं।

निरालाजी ने प्रकृत कवि की सहज भावुकता के साथ साथ काव्य-क्षेत्र में दार्शनिक दृष्टि-कोण का प्रवेश किया है। उनकी रचनाओं को यह दार्शनिकता सूत्र रूप से बेधती चली जाती है और कहीं कहीं तो स्पष्ट रूप से प्रकट हो जाती है। उनकी भावुकता उसे ऐसा वाना पहना लेती है जिससे वह काव्य के क्षेत्र में खटकनेवाली वस्तु नहीं रह जाती। शब्दों के द्वारा चित्र-निर्माण में निराला बहुत निपुण हैं। उनमें स्वतंत्रता की प्रवृत्ति बहुत तीव्र रूप में विद्यमान है। छंद के बंधन से कविता को मुक्त करने का उन्होंने बहुत प्रयत्न किया है। वे बहुधा मुक्तक छंद में ही अपनी कविताएँ रचा करते हैं। परंतु उनके ये मुक्त छंद भी नाद-सौंदर्य से हीन नहीं हैं। उनकी अपनी गति है। कवित्त के आधार पर उनका निर्माण हुआ है जिससे वे हिंदी की प्रकृति के विरुद्ध नहीं पड़ते। निराला की शब्दावली बहुधा संस्कृत-गर्भित होती है, किंतु वे इस विषय में कट्टरता के पक्षपाती नहीं। परंतु कभी कभी संस्कृत के ऐसे अप्रचलित शब्दों का प्रयोग कर बैठते हैं कि बहुत सामान्य भाव भी दुरूह हो जाता है।

निराला तथा पंडित सुमित्रानंदन पंत ने पश्चिमीय शैली का अधिक प्रश्रय लिया है और रवींद्रनाथ की भाँति वैष्णव कविता की भी सहायता ली है।

सुमित्रानंदन पंत हलकी लाक्षणिकता को लेकर कोमलता की शक्ति का निदर्शन करने काव्यक्षेत्र में अवतरित हुए हैं। उनके भाव सुकुमार, भाषा मधुर और कल्पना कोमल है। विशेषकर प्रकृति के नाना रूपों से उनके हृदय का सामंजस्य घटित हुआ है और उनके दर्शन से प्राप्त आह्लाद का उन्होंने अपने काव्य में वर्णन किया है। इसके अनंतर

मानव-प्रकृति की विभिन्न कोमल दशाओं और अंतर्दशाओं ने भी उनके हृदय को ध्वनि-पूर्ण किया है। पल्लव में उनकी कविताएँ बहुधा प्रकृति से ही संबंध रखती हैं। ग्रंथि प्रेम की ओर अग्रसर हुई है। वीणा और गुंजन में अन्य नाना प्रकार की सुख-दुःख की अनुभूतियों ने गीतों का रूप धारण किया है। सुमित्रानंदन पंत में कल्पना का चमत्कार, भावुकतामय प्रगल्भता और शब्द-लालित्य प्रचुर मात्रा में पाए जाते हैं। खड़ी बोली के रूखेपन को दूर कर उसमें काव्योपयोगी मधुरता लाने में उनका सबसे अधिक हाथ है।

उनकी रचनाओं में खड़ी बोली बहुत कुछ कोमल होकर आई है। इनके अतिरिक्त पंडित मोहनलाल महतो की रचनाओं में भी रहस्यवाद की छाप है। रवींद्रनाथ को काव्यगुरु स्वीकार करनेवाले ये ही हैं, यद्यपि रवींद्र की कविता की थोड़ी बहुत छाया सबमें मिलती है। श्री महादेवी वर्मा में भी रहस्य भावना का आधिक्य है। जिस कसक और अंतर्वेदना से प्रेरित होकर उनका संगीत फूट पड़ता है, वह सांसारिक अभाव से जनित नहीं, किसी जगद्बाह्य वासना से उद्भूत है। उनकी कविता निस्संदेह हृदय पर चोट करनेवाली होती है।

अब तक की कविता का ऊपर जो विवरण दिया गया है, उससे यह तो प्रकट होता है कि कविता की अनेकमुखी प्रगति इस युग में हो रही है, पर साथ ही यह भी प्रकट होता है कि विशेष अंतर्दृष्टि-संपन्न महान् कवियों का अभ्युदय अब तक नहीं हुआ है। यह युग हिंदी के सर्वतोमुख विकास का है। पश्चिमीय शैलियों का ग्रहण इस युग की प्रधान विशेषता है। साहित्य के प्रत्येक क्षेत्र में प्रगति हो रही है। फिर भी अब तक परिवर्तन का ही युग चल रहा है। परिवर्तन के युग में जीवन की महान् और चिरकालीन भावनाओं को लेकर काव्यरचना करना प्रायः असंभव होता है। साहित्यकारों का लक्ष्य जब तक परिवर्तन की ओर से हटकर जीवन की ओर नहीं जाता, तब तक उत्कृष्ट साहित्य की सृष्टि नहीं हो सकती। परंतु इस समय देश की राजनीतिक और सामाजिक स्थिति भी अच्छी नहीं है। प्रतिभाशाली अनेक व्यक्ति साहित्यक्षेत्र से अलग काम करते हैं। अब तक साहित्य जीवन की गहनता के बाहर का दिखलाऊ नंदन-निकुंज बना हुआ है। इसलिये सच्चे कर्मनिष्ठ उस ओर से विरक्त रहते हैं। साहित्य के लिये यह दुर्भाग्य की बात है। रूस और फ्रांस के उत्कृष्ट साहित्यकार प्रबल क्रांतियों के भीतर से उत्पन्न हुए थे, तमाशा देखनेवालों के अंदर से नहीं। भारत में भी क्रांति का वैसा ही

हिंदी कविता का भविष्य

युग आया हुआ है। आशा की जाती है कि निकट भविष्य में ही इस सर्वतोव्याप्त हलचल के बीच में किसी दिव्यात्मा का उदय होगा जिससे हिंदी कविता की कल्याण-साधना होगी और जिससे अखिल भारतीय जनसमाज को श्रेयमार्ग मिलेगा।

समस्यापूर्ति

समस्यापूर्ति की प्रथा बहुत पुरानी है पर उसका इतना बाहुल्य कभी नहीं हुआ था जितना आजकल है। पहले पहल किसी भाषा में कविता करने की अभिरुचि उत्पन्न करने के लिये समस्यापूर्ति का सहारा लेना लाभकारक हो सकता है। यह साधनमात्र है, इसे साध्य का स्थान देना उचित नहीं।

"समस्यापूर्ति से पूर्तिकारों की कवित्व-दर्प की वृत्ति भले ही तुष्ट हो जाय और कविसम्मेलनों के सभापतियों की यशोलिप्सा की पूर्ति भले ही हो जाय, पर उससे कविता का उद्देश्य पूरा नहीं हो सकता, क्योंकि समस्यापूर्ति की प्रथा नई कविता को जन्म नहीं दे सकती। किसी पदांश या चरण को लेकर उस पर जोड़ तोड़ लगाकर एक ढाँचा खड़ा कर देना कविता की अधूरी नकल हो सकती है, पर कविता नहीं। कविता हृदय का व्यापार है; दिमाग को खुजलाकर उसका आह्वान नहीं किया जा सकता। जब तक किसी विषय में कवि की वृत्ति न रमेगी, वह उसमें तल्लीन न होगा, तब तक उसके उद्गार नहीं निकल सकते। सृष्टि के सौंदर्य का अनुभव करके कवि जो आनंद पाता है, उसका विस्तार जब इतना हो जाता है कि वह उसे अपने हृदय में नहीं रोक सकता तब उसका अजस्र प्रवाह फूट पड़ता है। बिना इस प्रवाह को रास्ता दिए उसके हृदय को चैन नहीं मिलता। तुलसीदासजी के 'स्वांतःसुखाय' का अर्थ इसी बेचैनी को दूर करना है। रामचंद्रजी के रूप, शक्ति और शील के जिस सौंदर्य को वे अनुभव कर रहे थे उसका आनंद दूसरों को बाँटकर देने के लिये वे विह्वल हो रहे थे, कवि बनने के सुख की प्राप्ति के लिये नहीं। यह विह्वलता क्या कभी उस समस्यापूर्तिकार में हो सकती है, जिसे कल किसी कविसम्मेलन में जाकर कविता सुनाने की बड़ी उत्कंठा है और जो इसी लिये आधी रात तक सिर पर हाथ रखे बैठा है और यशप्राप्ति के लिये विह्वल है। कविता की जननी स्वार्थ नहीं, त्याग है। कविता में त्याग ही स्वार्थ है। रीतिकाल के केशव आदि कवि क्यों नहीं सफल हुए ? इसी लिये कि उनमें यह त्याग नहीं था, यह विह्वलता नहीं थी; उन्होंने पैसे के लिये, अपने आश्रयदाताओं की रुचि की तुष्टि के लिये, उनकी चाटुकारी के लिये काव्य लिखे

थे; आजकल के समस्यापूर्तिकार पैसे की इच्छा से नहीं, अपने कवित्व-दर्प की तुष्टि के लिये काव्य करते हैं।

इस विह्वलता के मूल में कवि का संदेश है। कवि अपने जीवन की अनुभूतियों के निष्कर्ष को संसार के सम्मुख रखना चाहता है, चाहे उससे कोई लाभ उठावे या न उठावे। क्या यह संदेश समस्यापूर्तिकार दे सकता है? उसके पास वह अनुभूति से भरा हृदय कहाँ? उसे तो अपनी दिमागी कसरत का भरोसा रहता है, वह पद्योत्पादक हृदयहीन मशीन है जो बाहर से कोई पेंच दबाने से चलती है, उसका परिचालन भीतर से नहीं होता। इसी से उसका काव्य भी निष्प्राण होता है। वह दूसरे के हृदय में सीधे पहुँचकर वह उथल-पुथल नहीं मचा सकता जो हृदय से निकली हुई सजीव स्पंदन करती हुई कविता कर सकती है।

यही नहीं, उसका काव्य जाति के सामने कोई आदर्श भी नहीं रख सकता। नीति का तो उसके लिये प्रश्न ही नहीं उठ सकता। अतएव उसका मूल्य कितना हो सकता है, यह स्पष्ट ही है।

कविता चरित्र-निर्माण के लिये सबसे अधिक प्रभावोत्पादक साधन है, क्योंकि वह मस्तिष्क के द्वारा नहीं, हृदय के द्वारा शिक्षा देती है। कवि अपने ही आप शिक्षक और शिष्य तथा नेता और अनुयायी होता है; वह लोगों के उपर खुदा के कहर की तरह नहीं गिर पड़ता, वह उनको गालियाँ नहीं देता, उनके आगे नरक का भय नहीं रखता, प्रत्युत उनके मन में बुरे कार्यों से ग्लानि उत्पन्न करता है और भले कार्यों के लिये प्रेम। यह कवि का बहुत बड़ा महत्त्व है। अब यदि यह काम ऐसे लोगों के हाथ पड़ गया जिनमें कुछ भी तत्त्व नहीं है, केवल पाषंड है, यशोलिप्सा है, दिखावट है, तो जाति का क्या उपकार हो सकता है?

हिंदी भाषा की कविता के भविष्य को सुधारने के लिये यह आवश्यक है कि उसमें इस प्रकार के काँच के नकली मणियों का आदर न हो और उसका प्रवाह झूठे छायावाद, पाषंड और समस्यापूर्ति की प्रवृत्ति की [ओर से .हटाकर किसी नए उद्देश्य की ओर मोड़ा जाय। हिंदी भाषा के भारतीय राष्ट्रभाषा होने के कारण यह और भी आवश्यक हो जाता है।"

[एक अप्रकाशित लेख से

—

बारहवाँ अध्याय

आधुनिक काल

गद्य

आधुनिक युग की सबसे बड़ी विशेषता है खड़ी बोली में गद्य का विकास। इस भाषा का इतिहास बड़ा ही रोचक है। यह भाषा मेरठ के चारों ओर के प्रदेश में बोली जाती है और पहले वहीं तक इसके प्रचार की सीमा थी, बाहर इसका बहुत कम प्रचार था। पर जब मुसलमान इस देश में बस गए और उन्होंने यहाँ अपना राज्य स्थापित कर लिया, तब दिल्ली में मुसलमानी शासन का केंद्र होने के कारण विशेष रूप से उन्होंने उसी प्रदेश की भाषा खड़ी बोली को अपनाया। यह कार्य एक दिन में नहीं हुआ। अरब, फारस और तुर्किस्तान से आए हुए सिपाहियों को यहाँ वालों से बातचीत करने में पहले बड़ी कठिनता होती थी। न ये उनकी अरबी, फारसी समझते थे और न वे इनकी हिंदवी। पर बिना वाग्व्यवहार के काम चलना असंभव था, अतः दोनों ने दोनों के कुछ कुछ शब्द सीखकर किसी प्रकार आदान प्रदान का मार्ग निकाला। यों मुसलमानों की उर्दू (छावनी) में पहले पहल एक खिचड़ी पकी जिसमें दाल चावल सब खड़ी बोली के थे सिर्फ नमक आगंतुकों ने मिलाया। आरंभ में तो यह निरी बाज़ारू बोली थी, पर धीरे धीरे व्यवहार बढ़ने पर और मुसलमानों को यहाँ की भाषा के ढाँचे का ठीक ठीक ज्ञान हो जाने पर इसका रूप कुछ स्थिर हो चला। जहाँ पहले शुद्ध, अशुद्ध बोलनेवालों से सही गलत बोलवाने के लिये शाहजहाँ को "शुद्धौ सहीह इत्युक्तौ ह्यशुद्धो गलतः स्मृतः" का प्रचार करना पड़ा था वहाँ अब इसकी कृपा से लोगों के मुँह से शुद्ध-अशुद्ध न निकलकर सही गलत निकला करता है। आजकल जैसे अँगरेजी पढ़े-लिखे भी अपने नौकर से एक ग्लास पानी न माँगकर एक गिलास ही माँगते हैं, वैसे उस समय मुख-सुख उच्चारण और परस्पर बोध-सौकर्य के अनुरोध से वे लोग अपने ओजबेक का उजबक, कुतका का कोतका कर लेने देते और स्वयं करते थे, एवं ये लोग बेरहमन सुनकर भी नहीं चौंकते थे। बैसवाड़ी हिंदी,

बुंदेलखंडी हिंदी, पंडिताऊ हिंदी और बाबू इँगलिश की तरह यह उस समय उर्दू हिंदी कहलाती थी, पर पीछे भेदक उर्दू शब्द स्वयं भेद्य बनकर उसी प्रकार उस भाषा के लिए प्रयुक्त होने लगा जिस तरह संस्कृत वाक् के लिये केवल संस्कृत शब्द। मुसलमानों ने अपनी संस्कृति के प्रचार का सबसे बड़ा साधन मानकर इस भाषा को खूब उन्नत किया और जहाँ जहाँ फैलते गए, वे इसे अपने साथ लेते गए। उन्होंने इसमें केवल फारसी तथा अरबी के शब्दों की ही उनके शुद्ध रूप में अधिकता नहीं कर दी, बल्कि उसके व्याकरण पर भी फारसी अरबी व्याकरण का रंग चढ़ाया। इस अवस्था में इसके दो रूप हो गए, एक तो हिंदी कहलाता रहा और दूसरा उर्दू नाम से प्रसिद्ध हुआ। दोनों के प्रचलित शब्दों को ग्रहण करके, पर व्याकरण का संघटन हिंदी के ही अनुसार रखकर, अँगरेजों ने इसका एक तीसरा रूप हिंदुस्तानी बनाया। अतएव इस समय खड़ी बोली के तीन रूप वर्तमान हैं— (१) शुद्ध हिंदी जो हिंदुओं की साहित्यिक भाषा है और जिसका प्रचार हिंदुओं में है, (२) उर्दू जिसका प्रचार विशेषकर मुसलमानों में है और जो उनके साहित्य की और शिष्ट मुसलमानों तथा कुछ हिंदुओं की घर के बाहर की बोलचाल की भाषा है, और (३) हिंदुस्तानी जिसमें साधारणतः हिंदी उर्दू दोनों के शब्द प्रयुक्त होते हैं और जिसका बहुत से लोग बोलचाल में व्यवहार करते हैं। इसमें अभी साहित्य की रचना बहुत कम हुई है। इस तीसरे रूप के मूल में राजनीतिक कारण हैं।

भ्रमवश हिंदी में खड़ी बोली गद्य के जन्मदाता लल्लूजी लाल माने जाते हैं। यह भ्रम उन अँगरेजों के कारण फैला है जो अपने आने के पहले गद्य का अस्तित्व हिंदी में स्वीकार ही नहीं करते। परंतु यह बात असत्य है। अकबर बादशाह के यहाँ संवत् १६२० के लगभग गंग भाट था। "उसने चंद छंद बरनन की महिमा" खड़ी बोली के गद्य में लिखी है। उसके पहले का कोई प्रामाणिक गद्य लेख न मिलने के कारण उसे खड़ी बोली का प्रथम गद्यलेखक मानना चाहिए। इसी प्रकार १६८० में जटमल ने "गोरा बादल की कथा" भी इसी भाषा के तत्कालीन गद्य में लिखी है। लल्लूजीलाल हिंदी को आधुनिक रूप देनेवाले भी नहीं हैं। उनके और पहले का मुंशी सदासुख का किया हुआ भागवत का हिंदी अनुवाद सुखसागर वर्तमान है। इसके अनंतर इंशाउल्ला खाँ, लल्लूजी लाल तथा सदल मिश्र का समय आता है। इंशाउल्लाखाँ की रचना में शुद्ध तद्भव शब्दों का प्रयोग है। उनकी

भाषा सरल और सुंदर है पर वाक्यों की रचना उर्दू ढंग की है। इसी लिये कुछ लोग उसे हिंदी का नमूना न मानकर उर्दू का पुराना नमूना मानते हैं। (लल्लूजी लाल के प्रेमसागर से सदल मिश्र के नासिकेतोपाख्यान की भाषा अधिक पुष्ट और सुंदर है। प्रेम-सागर में भिन्न भिन्न प्रयोगों के रूप स्थिर नहीं देख पड़ते। करि, करिके, बुलाय, बुलाय करि, बुलाय करिके, बुलाय कर, आदि अनेक रूप अधिकता से मिलते हैं। सदल मिश्र में यह बात नहीं है।) सारांश यह है कि यद्यपि फोर्टविलियम कालेज के अधिकारियों, विशेष-कर डा० गिलक्रिस्ट, की कृपा से हिंदी गद्य का प्रचार बढ़ा और उसका भावी मार्ग प्रशस्त तथा सुव्यवस्थित हो गया पर लल्लूजी लाल उसके जन्मदाता नहीं थे। जिस प्रकार मुसलमानों की कृपा से हिंदी का प्रचार और प्रसार बढ़ा उसी प्रकार अँगरेजों की कृपा से हिंदी गद्य का रूप परमार्जित और स्थिर होकर हिंदी साहित्य में एक नया युग उपस्थित करने का मूल आधार अथवा प्रधान कारण हुआ।

उपर्युक्त चार लेखकों ने हिंदी की पहले पहल प्रतिष्ठा की और उसमें ग्रंथ-रचना की चेष्टा की। इनमें मुंशी सदासुख और सदल मिश्र की भाषा अधिक उपयुक्त ठहरती है। इनमें सदासुख को अधिक सम्मान मिलना चाहिए, क्योंकि ये कुछ पहले भी हुए और इन्होंने अधिक साधु भाषा का व्यवहार भी किया। इनके उपरांत विदेशों से आई हुई क्रिश्चियन मत का प्रचार करनेवाली धर्मसंस्थाओं अथवा मिशनों ने हिंदी में अपने कुछ धर्मग्रंथों, विशेषकर बाइबिल का अनुवाद किया। बाइबिल का अनुवाद भाषा की दृष्टि से बड़ा महत्वपूर्ण है। यह देश के विस्तृत भू-भाग में फैली हुई खड़ी बोली की सामान्यतः साधु भाषा में किया गया है। पता चलता है कि राजनीतिक दाँवपेंच को पहले से ही जानने और प्रयोग करनेवाले अँगरेजों ने मुसलमानों की उर्दू को कचहरियों में जगह दी थी, पर वे भली भाँति जानते थे कि उर्दू यहाँ के जनसमाज की भाषा कदापि नहीं; नहीं तो बाइबिल के अनुवाद के शुद्ध हिंदी में होने का कोई कारण नहीं। उर्दूपन उससे बहुत दूर रखा गया। उसकी भाषा का रूप सदासुख और लल्लूजीलाल की भाषा की ही भाँति है, पर विदेशीय रचनाशैली के कारण थोड़ा बहुत अंतर अवश्य देख पड़ता है। लल्लूजी लाल की भाषा में ब्रज की बोली मिली हुई है, पर उपर्युक्त अनुवाद ग्रंथों में उसका बहिष्कार कर मानो खड़ी बोली के आगामी प्रसार की पूर्व सूचना सी दी गई है। जब ईसाइयों की धर्म-

पुस्तकें निकल रही थीं तब छापने की कल इस देश में आ चुकी थी, जिससे पुस्तकों के प्रचार में बड़ी सहायता मिली।

छापेखानों के फैल जाने पर हिंदी की पुस्तकें शीघ्रता से बढ़ चलीं। इसी समय सरकारी अँगरेजी स्कूल भी खुले और उनमें हिंदी उर्दू का झगड़ा खड़ा किया गया। मुसलमानों की ओर से सरकार को यह समझाया गया कि उर्दू को छोड़कर दूसरी भाषा संयुक्त प्रांत में है ही नहीं। कचहरियों में उर्दू का प्रयोग होता है, मदरसों में भी होना चाहिए। परंतु सत्य का तिरस्कार बहुत दिनों तक नहीं किया जा सकता। देवनागरी लिपि की सरलता और उसका देशव्यापी प्रचार अँगरेजों की दृष्टि में आ चुका था। लिपि के विचार से उर्दू की क्लिष्टता और अनुपयुक्तता भी आँखों के सामने आती जा रही थी। परंतु नीति के लिये सब कुछ किया जा सकता है। अँगरेज समझकर भी नहीं समझना चाहते थे। इसी समय युक्त प्रांत में स्कूलों के इंस्पेक्टर हिंदी के पक्षपाती काशी के राजा शिवप्रसाद नियुक्त किए गए। राजा साहब के प्रयत्न से देवनागरी लिपि स्वीकार की गई और स्कूलों में हिंदी को स्थान मिला। राजा साहब ने अपने अनेक परिचित मित्रों से पुस्तकें लिखवाईं और स्वयं भी लिखीं। उनकी लिखी हुई कुछ पुस्तकों में अच्छी हिंदी मिलती है, पर अधिकांश में उर्दू प्रधान भाषा ही उन्होंने लिखी। ऐसा उन्होंने समय और नीति को देखते हुए अच्छा ही किया। इसी समय के लगभग हिंदी में संस्कृत के शकुंतला नाटक आदि का अनुवाद करनेवाले राजा लक्ष्मणसिंह हुए जिनकी कृतियों में सर्वत्र शुद्ध संस्कृत-विशिष्ट खड़ी बोली प्रयुक्त हुई है। दोनों राजा साहबों ने अपने अपने ढंग से हिंदी का महान् उपकार किया था इसमें कुछ भी संदेह नहीं।

भारतेंदु हरिश्चंद्र के कार्य-क्षेत्र में आते ही हिंदी में समुन्नति का युग आया। अब तक तो खड़ी बोली गद्य का विकास होता रहा और

गद्य के क्षेत्र में भारतेंदु और उनके समकालीन

पाठशालाओं के उपयुक्त छोटी छोटी पुस्तकें लिखी जाती रहीं, पर अब साहित्य के अनेक अंगों पर ध्यान दिया गया और उनमें पुस्तक-रचना का प्रयत्न किया गया। भारतेंदु ने अपने बंगाल-भ्रमण के उपरांत बँगला के नाटकों का अनुवाद किया और मौलिक नाटकों की रचना की। कविता में देशप्रेम/के भावों का प्रादुर्भाव हुआ। पत्र-पत्रिकाएँ निकलीं। हरिश्चंद्र मैगजीन और हरिश्चंद्र पत्रिका भारतेंदुजी के पत्र थे। छोटे छोटे निबंध भी लिखे जाने लगे। उनके लिखनेवालों में हरिश्चंद्र के

अतिरिक्त पंडित बालकृष्ण भट्ट, पंडित प्रतापनारायण मिश्र, पंडित बदरीनारायण चौधरी, ठाकुर जगमोहनसिंह आदि थे। नाटककारों में श्रीनिवासदास और राधाकृष्णदास का नाम उल्लेखनीय है। "परीक्षा-गुरु" नामक एक अच्छा उपन्यास भी उस समय लिखा गया। (आर्य-समाज के कार्यकर्त्ताओं में स्वामी दयानंद के उपरांत सबसे प्रसिद्ध पंडित भीमसेन शर्मा हुए जिन्होंने आर्यसमाज का अच्छा साहित्य तैयार किया। पंडित अंबिकादत्त व्यास भी उस काल के मौलिक लेखकों में से थे। अखबार-नवीसों में बाबू बालमुकुंद गुप्त सबसे अधिक प्रसिद्ध हुए। इस प्रकार हम देखते हैं कि गद्य के विभिन्न अंगों को लेकर बड़े ही उत्साहपूर्वक उनमें मौलिक रचनाएँ करनेवाले हिंदी के ये उन्नायक बड़े ही शुभ अवसर पर उदय हुए थे। इनकी वाणी में हिंदी के बाल्य-काल की झलक है, पर यौवनागम की सूचना भी मिलती है। देशप्रेम और जातिप्रेम की भावनाओं को लेकर साहित्यक्षेत्र में आने के कारण इन सबकी रचनाएँ हिंदी में अपने ढंग की अनोखी हुई हैं।

भारतेंदु की नाटक-रचना शैली में भारतीय शैली और पाश्चात्य शैली का सम्मिश्रण हुआ है। (भारतीय शैली के अंकों और गर्भांकों तथा विष्कंभक आदि को बदलकर बँगला के ढंग पर अंक और दृश्य की परिपाटी चली, पर संस्कृत के सूत्रधार नटी प्रस्तावना आदि ज्यों के त्यों बने रहे। चरित्रों का चित्रण करने में भारतेंदु ने संस्कृत के वर्गी-करणों का अनुसरण किया, पात्रों की वैयक्तिक विशेषताओं की ओर ध्यान नहीं दिया।) यद्यपि उनके अनेक नाटक अनुवादित नाटक ही हैं और उनके मौलिक अधिकांश नाटकों में भी कथानक का निर्माण उन्हें नहीं करना पड़ा है, पर कुछ नाटकों में उन्होंने अपनी कथानक-निर्माण की शक्ति का अच्छा परिचय दिया है। सत्य हरिश्चंद्र में सत्य का उच्च आदर्श दिखाया गया है। अन्य नाटकों में प्रेम की पवित्र धारा बही है। भारत-दुर्दशा में स्वदेशानुराग,चमक उठा है। भारतेंदु की परिमार्जित गद्य शैली का व्यवहार उनके सभी नाटकों में देख पड़ता है, हाँ, विषय और प्रसंग के अनुसार भाषा सरल अथवा जटिल हो गई है। लाला श्रीनिवासदास के "रणधीर प्रेममोहिनी", "संयोगता स्वयंवर" आदि नाटक तथा बाबू राधाकृष्णदास का "महाराणा प्रताप नाटक" साहि-त्यिक दृष्टि से अच्छे हैं, यद्यपि रंगशाला के उपयुक्त नहीं। प्रेमघनजी का "भारत सौभाग्य" नाटक भी अच्छा है, पर बहुत बड़ा हो गया है। राय देवीप्रसाद पूर्ण का "चंद्रकला भानुकुमार नाटक" गद्य काव्य की शैली में लिखी गई सुंदर कृति है।

हिंदी साहित्य का यह विकास बड़ा ही आशाप्रद और उत्साह-वर्द्धक था। थोड़े समय की यह साहित्यिक प्रगति उस काल के लेखकों के मनोयोग और कृति-शीलता की परिचायक हुई है। इस काल के उपरांत साहित्य के सभी अंगों की बड़ी सुंदर उन्नति हो चली और प्रत्येक क्षेत्र में अच्छे अच्छे लेखकों का अभ्युदय हुआ। साहित्य के सौभाग्य से उसी समय काशी नागरी-प्रचारिणी सभा की नीव डाली गई और सरस्वती जैसी उच्च कोटि की मासिक पत्रिका निकली। पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी जैसे श्रेष्ठ पत्रकार और व्याकरणविद विद्वान् के हाथों में जाकर "सरस्वती" ने भाषासंस्कार का जो अभूतपूर्व कार्य किया उसका सब श्रेय उसके संपादक को है। भाषा को काट-छाँटकर दुरुस्त करने, व्याकरण के नियमों की प्रतिष्ठा करने, नवीन लेखकों में उत्साह बढ़ाने और अँगरेजी की ओर झुके हुए अनेक नवयुवकों को हिंदी की ओर खींचने का बड़ा ही महत्त्वपूर्ण कार्य द्विवेदीजी ने किया।

नागरी-प्रचारिणी सभा और सरस्वती

भारतेंदु हरिश्चंद्र के गोलोकवास के आठ वर्ष के उपरांत हिंदी भाषा और नागरी लिपि के प्रचार, प्रसार तथा उन्नति के उद्देश से संवत् १९५० में काशी नागरी-प्रचारिणी सभा की स्थापना हुई। इस सभा ने अब तक हिंदी भाषा और नागरी लिपि की अमूल्य और गौरव-प्रद सेवा की है। हिंदी के प्राचीन ग्रंथों का अनुसंधान करने और उन्हें छापकर प्रकाशित करने का मूल्यवान् कार्य इस संस्था की प्रसिद्धि का कारण हुआ है। प्राचीन साहित्यिक खोज संबंधिनी "नागरी-प्रचारिणी पत्रिका" में बड़े ही मार्मिक और गंभीर लेखों की शृंखला चली। यह पत्रिका विद्वन्मंडली में बड़े आदर की दृष्टि से देखी जाती है। हिंदी में विज्ञानसंबंधी शब्दों की रचना कर वैज्ञानिक कोष का निर्माण सभा ने कराया और पारितोषिक देकर उच्च साहित्य के निर्माण की प्रेरणा की। हिंदी शब्दसागर से प्रामाणिक, उपयोगी और महत्त्वपूर्ण कोश का प्रकाशन कर सभा धन्य हुई है।

"काशी नागरी-प्रचारिणी सभा से हिंदी भाषा तथा साहित्य के इतिहास का नया परिच्छेद प्रारंभ होता है। हिंदी-संसार में आज सर्वत्र जो स्पष्ट युगांतर दिखाई दे रहा है उसके श्रेय की सबसे अधिक अधिकारिणी यह सभा ही है। विगत ३०-४० वर्षों के बीच हिंदी की उन्नति के जितने बड़े बड़े काम हुए हैं या तो खुद उसके अपने प्रयत्न से हुए हैं, या उसकी प्रेरणा, प्रभाव अथवा उदाहरण से हुए हैं। कार्यों के महत्त्व का ऐसे लोगों के लिये ठीक अनुमान करना भी कठिन है जिन्हें

सभा के कार्यक्षेत्र में आने के पहले की हिंदी की अवस्था को प्रत्यक्ष जानकारी नहीं है। उस समय हिंदी हर तरह दीन-हीन थी। उस समय उसके पास न अपना कोई इतिहास था, न कोश, न व्याकरण; साहित्य का खजाना खाली पड़ा था। बाहर की कौन कहे, खास अपने घर में भी उसकी पूछ और आदर न था। कचहरियों में वह अछूत थी, कालेज में घुसने न पाती थी, स्कूलों में भी एक कोने में दबकी रहती थीं, हिंदू विद्यार्थी भी उससे दूर दूर रहते थे, अँगरेजी उर्दू को शुद्ध लिखने बोलने में असमर्थ हिंदी-भाषी भी उसे अपनाने में अपनी छुटाई समझते थे। सभा-समाजों की कौन कहे घर के काम-काज, हिसाब-किताब, चिट्ठी-पत्री में भी प्रायः उसका बहिष्कार ही था। पर आज इन सभी बातों में बिलकुल दूसरा ही युग दिखाई दे रहा है। आज की हिंदी *उस समय की हिंदी से हर बात में भिन्न है और इतनी भिन्न है कि* पुराने परिचितों के लिये भी उसका पहचानना कठिन हो गया है। जिस भाषा को २५--३० साल पहले, बहुतों के विचार से, भाषा का पद भी प्राप्त न था आज उसका राष्ट्रभाषा पद प्रायः सर्वमान्य है। जिस भाषा में बातचीत और पत्र-व्यवहार करने में मिडिल के विद्यार्थी की भी हेठी होती थी उसे न बोल सकने के लिये आज बड़े बड़े अहिंदी-भाषी नेता तथा विद्वान् भी लज्जित होते हैं। सार्वजनिक क्षेत्र में काम करने के लिये आज हिंदी का ज्ञान एक आवश्यक गुण समझा जाता है। प्रचार का यह हाल है कि मद्रास और आसाम जैसे प्रांतों में भी आज हिंदी का डंका बज रहा है। साहित्य को भी आज कम से कम ऐसी स्थिति अवश्य है कि अन्य उन्नत प्रांतीय भाषाओं से हिंदी मजे से नजर मिला सके, बल्कि उसके एकाध अंग में वह उनसे आगे भी निकल गई है। हिंदी भाषा की यह प्रगति संभवतः भाषाओं के विकास के इतिहास में अभूतपूर्व घटना है। इतने काल में इतनी दिशाओं में इतनी अधिक उन्नति शायद ही किसी और भाषा की हुई हो और जो संस्था इस संपूर्ण प्रगति का अप्रत्यक्ष तथा आंशिक कारण भी मानी जा सकती हो वह निःसंदेह धन्य है।"

["आज" ६-११-८५

सारांश यह कि 'सरस्वती' पत्रिका के प्रकाशन और काशी की नागरी-प्रचारिणी सभा की स्थापना के उपरांत हिंदी गद्य की दिन दूनी रात चौगुनी उन्नति होने लगी। भाषा में प्रौढ़ता और शक्ति आई तथा कितनी ही सुंदर शैलियों का आविर्भाव हुआ। जिस प्रकार उर्दू में लखनऊ और देहली के दो केंद्र माने जाते थे, और उनकी अलग अलग

शैली चली थी, उस प्रकार हिंदी में स्थानभेद के अनुसार शैलीभेद तो नहीं हुआ पर व्यक्तिगत कितनी ही शैलियाँ निकलीं जो आगे चलकर वर्गबद्ध शैलियाँ बन गईं। स्थान का भी प्रभाव पड़ा। काशी के अधिकांश लेखक संस्कृत-प्रधान भाषा लिखते हैं, कानपुर और लखनऊ के साहित्यिकों पर द्विवेदीजी की भाषा का प्रभाव पड़ा है। प्रयाग में दोनों श्रेणी के लेखक मिलते हैं। देहली केंद्र के लेखकों में पंडित पद्मसिंह शर्मा अपनी चटपटी शैली के लिये प्रसिद्ध हैं। हास्यविनोद, बहस-मुबाहसा, व्यंग्य, व्याख्यान आदि के उपयुक्त कितनी ही शैलियों का आविर्भाव हुआ और हो रहा है। अँगरेजी के विद्वानों के हिंदी की ओर झुकने के कारण अँगरेजी रचनाप्रणाली का प्रभाव भी विशेष पड़ा। इस प्रकार हिंदी में कितनी ही शैलियों का जन्म और विकास हुआ। मासिक पत्रिकाओं के निकलने से सामयिक साहित्य की अच्छी श्रीवृद्धि हुई। राजनीतिक आंदोलन के फल-स्वरूप हिंदी को राष्ट्रभाषा बनाने का उद्योग किया जा रहा है। हिंदी-साहित्य-सम्मेलन ने हिंदी के प्रचार में अच्छा योग दिया है। राजनीतिक आंदोलन और शिक्षा की उन्नति के साथ ही पत्र-पत्रिकाएँ बढ़ती जा रही हैं। साहित्य के सब अंग भर रहे हैं। विश्वविद्यालयों में हिंदी उच्चतम कक्षाओं में पढ़ाई जाने लगी है। विविध विषयों की महत्त्वपूर्ण पुस्तकें प्रकाशित हो रही हैं।

पहले हम हिंदी कविता की अब तक की प्रगति का संक्षिप्त विवरण दे चुके हैं, गद्य के विविध अंगों का आधुनिक-काल में जो विकास हुआ है अब उसका दिग्दर्शन कराते हैं—

भारतेंदु हरिश्चंद्र के समय से ही साहित्यिक समालोचना होने लगी थी, पर पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी के समय से उसका स्वरूप निश्चित हुआ। द्विवेदीजी की समालोचनाएँ अधिकांश निर्णयात्मक होती थीं। सरस्वती में

समालोचना

पुस्तकों की भी और संस्कृत तथा हिंदी के कुछ कवियों की भी द्विवेदीजी ने समालोचनाएँ लिखीं। द्विवेदीजी की चलाई हुई पुस्तक-समीक्षा की संक्षिप्त प्रणाली का अनुसरण अब तक मासिक पत्रिकाओं में हो रहा है। द्विवेदीजी की समालोचनाएँ भाषा की गड़बड़ी को दूर करने में बहुत सहायक हुईं, साथ ही आलोचना में संयत होकर लिखने का ढंग भी प्रतिष्ठित हुआ। द्विवेदीजी के समकालीन समालोचकों में मिश्र-बंधुओं का स्थान विशेष महत्त्वपूर्ण है। उनका हिंदी-साहित्य का इतिहास ग्रंथ अपने ढंग की पहली रचना होने के कारण बड़ी मूल्यवान् वस्तु हुई। हिंदी-नवरत्न में कवियों की समालोचना का सूत्रपात हुआ।

उनकी आलोचनाओं के संबंध में विद्वानों में मतभेद हो सकता है और है भी, पर समालोचना का कार्य आरंभ करने के कारण मिश्रबंधुओं का हिंदी साहित्य पर ऋण है और उसे स्वीकार न करना कृतघ्नता माना जायगा। यह सच है कि अनेक विद्वानों ने विभिन्न दृष्टिकोणों से उनके हिंदी नवरत्न तथा मिश्रबंधुविनोद की आलोचना की, पर मतभेद का होना जीवन का लक्षण और उन्नति का सूचक है और इसलिये हम उसका स्वागत करते हैं। इस बात का बिना ध्यान रखे कि सब बातों में क्रमिक विकास होता है, पूर्व कृतियों को तुच्छ मानना जहाँ अनुचित है वहाँ इस बात का भी ध्यान रहना चाहिए कि हमारे ज्ञान तथा अनुभव की वृद्धि निरंतर होती रहती है, इसलिये साहित्य के विद्यार्थियों, समालोचकों तथा निर्माताओं का अपने अपने मतों को वेदवाक्य मान बैठना, नवाविष्कृत तथ्यों की अवहेलना करना तथा भिन्न मत रखनेवालों को हेय समझना साहित्य के भावी विकास और उन्नति के लिये हितकर न सिद्ध होगा।

मिश्रबंधुओं के उपरांत हिंदी के कवियों पर आलोचनात्मक लेख और पुस्तकें लिखनेवालों में पंडित पद्मसिंह शर्मा और पंडित कृष्णबिहारी मिश्र के नाम उल्लेखनीय हैं। मिश्रजी की भाषा शर्माजी की भाषा से अधिक साधु और शिष्ट है और उनकी विवेचन-पद्धति भी अधिक गंभीर है। शर्माजी की समालोचनाशैली बड़ी ही व्यंग्यमयी हो गई है और उसमें कवियों की प्रशंसा में वाह वाह कहने का उर्दू ढंग पकड़ा गया है। यदि शर्माजी कुछ अधिक गंभीरता और शिष्टता साथ लिए रहते तो अच्छा होता। कदाचित् उनकी उछलती, कूदती, फुदकती हुई भाषाशैली के लिये यह संभव न था।

(अँगरेजी ढंग की गंभीर आलोचनाएँ लिखनेवालों में पंडित रामचंद्र शुक्ल प्रमुख हैं।) जायसी, तुलसी, सूर आदि कवियों पर उनके निबंध सुंदर विश्लेषणात्मक आलोचना के रूप में लिखे गए हैं, जिनसे कवियों के मानसिक और कलात्मक विकास पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। विश्वविद्यालयों की उच्च श्रेणियों में पढ़ाई जाने योग्य समालोचनाओं में शुक्लजी की समालोचनाएँ सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण हुई हैं। बाबू पदुमलाल बख्शी ने भी दो एक समालोचनात्मक पुस्तकें लिखकर हिंदी के विकासक्रम को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। मासिक पत्रिकाओं में समालोचनाएँ लिखने का ढंग अधिक उपयुक्त और प्रशंसनीय होता जा रहा है। पहले की अपेक्षा व्यक्तिगत आक्षेपों की बहुत कुछ कमी हो गई है। कदाचित् यह कह देना अनुचित न होगा कि

समालोचना का काम बहुत महत्त्वपूर्ण है और उसे सफलतापूर्वक करना सबका काम नहीं है।

अन्य सभी साहित्यों में नाटकों का विवेचन रंगशाला के नियमों प्रतिबंधों आदि को लेकर होता है। अँगरेजी के अनेक विद्वान् समालोचक तो रंगशाला के अनुपयुक्त नाटकों को नाटक कहते ही नहीं। उन देशों में रंगशालाएँ बहुत अधिक विकसित हो चुकी हैं, और प्रत्येक नाटककार उनके नवीनतम विकास से परिचित होना आवश्यक समझता है। नवीन विकास के कारण जो पुरानी नाटकीय रचनाएँ आधुनिक रंगमंच के अनुपयुक्त हो गई हैं, अथवा पिछड़ी हुई देख पड़ने लगी हैं, उनको निम्न स्थान दिया जाता है। स्वयं शेक्सपियर के नाटक भी रंगमंच की दृष्टि से पुराने हो गए हैं अतः कम खेले जाते हैं, अथवा सुधारकर खेले जाते हैं। हिंदी के लिये यह बड़ी लज्जा की बात है कि अब तक वह पारसी रंगमंच के ही हाथों में पड़ी है, उसकी अपनी रंगशालाएँ या तो हैं ही नहीं, अथवा मृतक सी हैं। व्यावसायिक रंगमंच तो हिंदी में कदाचित् एक भी नहीं। हम लोग अब तक नाटक खेलने को तुच्छ नटों का काम समझते हैं। अनेक आधुनिक नाटककार घर पर कल्पना के द्वारा नाटकीय प्रतिबंधों पर विचार करते हैं, रंगशालाओं में जाकर नाटक देखकर या खेलकर अपने अनुभव की वृद्धि नहीं कर पाते। पारसी रंगमंच अपने पुराने अवगुणों को लिए हुए चला जा रहा है। वही अलंकरणाधिक्य, वही अस्वाभाविक भाषा और वही अस्वाभाविक भाषण! हिंदी की जो दो एक नाटकमंडलियाँ हैं, वे तिथि-त्योहारों पर कुछ खेल खेलाकर ही संतोष कर लेती हैं। यह स्थिति बड़ी ही शोचनीय है। बँगला, मराठी, गुजराती आदि भाषाओं के रंगमंच विशेष उन्नत हैं और प्रतिदिन उन्नति करते जाते हैं। ऐसी अवस्था में राष्ट्रभाषा हिंदी पर गर्व करनेवालों का मस्तक अवश्य नीचा होता है। हिंदीभाषी रईसों को चाहिए कि यथासंभव शीघ्र नाट्यमंडलियों को सहायता दें, और हिंदीभाषी विद्वानों को चाहिए कि वे यथासंभव शीघ्र अभिनय-कार्य को अपने हाथ में लें, उसे नटों का काम ही न समझे रहें। साथ ही हिंदीभाषी जनता को चाहिए कि वह हिंदी नाट्यमंडलियों के नाटक देखकर उन्हें प्रोत्साहन दे।

आधुनिक नाटककारों में बाबू जयशंकर प्रसाद, पंडित बदरीनाथ भट्ट, पंडित गोविंदवल्लभ पंत आदि प्रसिद्ध हैं। बाबू प्रेमचंद्रजी ने संग्राम और कर्बला नाम के दो नाटक लिखे हैं जिनमें उन्हें सफलता

नाटक

शक्ति प्रेमचंदजी को मिली है। इस कार्य में वे संसार के बड़े बड़े उपन्यासकारों के समकक्ष हैं। प्रेमचंदजी के उपन्यासों में आदर्शवाद की ओर अधिक ध्यान दिया गया, तथ्यवाद का उतना विचार नहीं रखा गया। दोनों का उपयुक्त सम्मिश्रण कदाचित् उनके उपन्यासों के महत्त्व को और भी बढ़ा देता। कहीं कहीं विशेषकर रंगभूमि में आवश्यकता से अधिक विस्तार किया गया है। यह उपन्यास दो भागों में न होकर एक ही भाग में समाप्त हो जाता तो अधिक रुचिकर होता। दूसरा भाग तो जबरदस्ती बढ़ाया गया जान पड़ता है।

हम नहीं कह सकते कि उपन्यास लिखने के कार्य में जयशंकर प्रसादजी को कहाँ तक सफलता प्राप्त होगी। "कंकाल" नामक उपन्यास का निर्माण उसके नाम के अनुकूल हुआ है। समस्त उपन्यास के पढ़ जाने पर हमें उसके समाज के नंगे चित्र का उद्घाटन रुचिकर नहीं हुआ। चरित्रचित्रण में प्रसादजी ने अच्छा कौशल दिखाया है। इनमें मंगलदेव और यमुना (तारा) के चित्र बड़ी निपुणता से चित्रित किए गए हैं। पढ़ते पढ़ते एक के प्रति आंतरिक घृणा और दूसरी के प्रति सहानुभूति उत्पन्न होती है। एक यदि रँगा हुआ सियार है तो दूसरी युवावस्था के उद्वेग से मार्गच्युत होकर जन्म भर आत्मसंयम से काम लेकर अपने निर्दिष्ट प्रण पर दृढ़ रहनेवाली है।

आधुनिक हिंदी की आख्यायिकाएँ संस्कृत के हितोपदेश अथवा राजतरंगिणी के ढंग पर नहीं लिखी गईं, अँगरेजी की छोटी कहानियों की शैली पर लिखी गई हैं। घटनाओं की सहायता से पात्रों की व्यक्तिगत विशेषताओं को चित्रित करना आजकल की कहानियों का मुख्य लक्ष्य हो रहा है। समाज की कुरीतियों के प्रदर्शनार्थ भी कहानियाँ लिखी जाती हैं, ऐतिहासिक तत्वों पर प्रकाश डालने की दृष्टि से भी कहानियाँ लिखी जाती हैं, और दार्शनिक-कहानियाँ भी लिखी जाती हैं। कहानियों में न तो घटनाओं का क्रम अधिक जटिल होता है और न जीवन के बड़े बड़े चित्र दिखाए जाते हैं। हिंदी में आख्यायिकाओं का आरंभ करनेवाले गिरिजाकुमार घोष नामक सज्जन थे। उनके उपरांत बाबू जयशंकर प्रसाद, श्रीज्वालादत्त, श्रीप्रेमचंदजी, कौशिकजी, सुदर्शनजी, हृदयेशजी आदि कहानी-लेखक हुए। प्रसादजी की आख्यायिकाएँ कवित्वपूर्ण होती हैं, उन्हें एक बार पढ़कर कई बार पढ़ने की इच्छा होती है। उनकी कुछ कहानियों में प्राचीन इतिहास की खोई हुई बातों की खोज की गई है, कुछ में मन-

आख्यायिका

स्तत्त्व की सूक्ष्म समस्याएँ समझाई गई हैं और कुछ में व्यक्ति का व्यक्तित्व स्पष्ट किया गया है। प्रेमचंदजी की कहानियों में सामाजिक समस्याओं पर अच्छा प्रकाश डाला गया है। उनकी भाषा-शैली कहानियों के बहुत उपयुक्त हुई है, और उनके विचार भी सब पढ़े लिखे लोगों के विचारों से मिलते-जुलते हैं। यही कारण है कि प्रेमचंदजी की कहानियाँ सबसे अधिक लोकप्रिय हैं। प्रेमचंदजी और जयशंकर प्रसादजी की आख्यायिकाओं में बड़ा भारी अंतर यह है कि एक में घटनाओं की प्रधानता रहती है और दूसरी में भावों की। प्रेमचंदजी के भाव घटनाओं के आश्रित रहते हैं और जयशंकर प्रसादजी की घटनाएँ भावों के आश्रित रहती हैं। अतएव हम कह सकते हैं कि एक घटनात्मक हैं और दूसरी भावात्मक हैं। कौशिकजी की कहानियों में पारिवारिक जीवन के बड़े ही मार्मिक और सच्चे चित्र हैं। उनका क्षेत्र सीमित है, पर अपनी सीमा के भीतर वे अद्वितीय हैं। ऐसा जान पड़ता है कि सुदर्शनजी ने पाश्चात्य कथा-साहित्य का अच्छा अध्ययन किया है। भारतीय आदर्शों की रक्षा करने की उनकी चेष्टा प्रशंसनीय है। हृदयेशजी की कहानियों में कवित्व है पर उनकी भाषा अत्यधिक अलंकृत तथा उनके भाव कहीं कहीं नितांत कल्पित हो गए हैं। उनकी कल्पना में वास्तविकता कम मिलती है। अन्य कहानी-लेखकों में "अंतस्तल" के लेखक श्री चतुरसेन शास्त्री, श्री राय कृष्णदास, श्री विनोदशंकर व्यास आदि हैं। उग्रजी की वे कहानियाँ अच्छी हैं जिनमें उन्होंने अश्लीलता नहीं आने दी है। उनकी भाषा बड़ी सुंदर होती है। हिंदी की छोटी कहानियों या गल्पों का भविष्य बड़ा उज्ज्वल जान पड़ता है, थोड़े ही समय में इस क्षेत्र में बड़ी उन्नति हुई है।

हिंदी में अब तक निबंधों का युग नहीं आया है। समालोचनात्मक निबंधों के अतिरिक्त हिंदी के अन्य सभी निबंध साधारण कोटि के हैं। पंडित बालकृष्ण भट्ट और पंडित प्रतापनारायण मिश्र के निबंध हिंदी की बाल्यावस्था के हैं। उनमें विनोद आदि चाहे जो कुछ हो, वे साहित्य की स्थायी संपत्ति नहीं हो सकते। पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदीजी के निबंधों में विचारों की योजना कहीं कहीं विश्रृंखल हो गई है। द्विवेदीजी को संपादन-कार्य में इतना व्यस्त रहना पड़ता था कि उनके स्वतंत्र निबंधों को देखकर हमें आश्चर्य ही होता है। भावात्मक निबंध लिखनेवालों में सरदार पूर्णसिंह का स्थान सबसे अधिक महत्त्व का है, पर अब तो सरदारजी हिंदी को छोड़कर अँगरेजी की ओर झुक गए हैं। श्रीयुत

निबंध

गुलाबराय और श्रीयुत कन्नोमल के दार्शनिक निबंध भी साधारणतः अच्छे हुए हैं। निबंधों के क्षेत्र में पंडित रामचंद्र शुक्ल का सबसे अलग स्थान है। मानसिक विश्लेषण के आधार पर उन्होंने करुणा, क्रोध आदि मनोवेगों पर अनेक अच्छे निबंध लिखे हैं। विवरणात्मक निबंधलेखकों ने यात्रा, भ्रमण आदि पर जो कुछ लिखा है, वह सब मध्यम श्रेणी का है। सारांश यह कि निबंधों की ओर अभी विशेष ध्यान नहीं दिया गया है। हिंदी साहित्य के इस अंग की पुष्टि की ओर सुलेखकों का ध्यान जाना चाहिए।

यों तो गद्य का विकास बहुत प्राचीन काल में हुआ था, परंतु तारतम्य उस समय से आरंभ हुआ जिस समय मुंशी सदासुखलाल, ईशाउल्ला खाँ, सदल मिश्र और लल्लूजी लाल ने अपनी रचनाएँ कीं। उस समय की शैली की अवस्था वही थी जो वस्तुतः आरंभिक काल में होनी चाहिए। जिन लोगों ने वस्तु का आधार संस्कृत से लिया, उनकी भाषा में भी संस्कृत की छाप लग गई। इस काल में कथा कहानी की ही रचनाएँ हुईं। यह स्वाभाविक भी था, क्योंकि यह आरंभिक काल था। न तो भाषाशैली में बल का संचार हुआ, न उसका कोई संयत रूप स्थिर हुआ और न पाठकों में इतनी शक्ति उत्पन्न हुई थी कि गवेषणात्मक रचनाओं का अध्ययन कर सकें। इन लेखकों में भी दो दल स्पष्ट दिखाई पड़ते थे। एक ने तो संभवतः प्रतिज्ञा कर ली थी कि उर्दूपन—उर्दू ढंग की वाक्य-रचना एवं शब्द योजना—का पूर्ण बहिष्कार किया जाय, और दूसरे ने उर्दूपन लेकर शैली को चमत्कारपूर्ण बनाने की चेष्टा की। अभी तक न तो शब्दों का रूप ही स्थिर हुआ था और न भाषा का परिमार्जन ही हो सका था। व्याकरण की ओर तो आँख उठाना ही अस्वाभाविक या अनावश्यक ज्ञात होता था। मुहावरों के प्रयोग से कुछ चमत्कार अवश्य उत्पन्न हो रहा था। जिन लोगों ने मुहावरों और उर्दूपन का एकदम बहिष्कार किया उनकी भाषा गंभीर भले ही रही हो परंतु उसका आकर्षण और चमत्कार अवश्य नष्ट हो गया था। इस समय के प्रायः सभी लेखकों में प्रांतीयता स्पष्ट झलकती है। कहने का तात्पर्य यह है कि यदि यह आरंभिक काल था तो वे सभी अवस्थाएँ रचना-शैली में उपस्थित थीं जो स्वाभाविक रूप में उस समय होनी चाहिए थीं।

गद्य शैली का विकास

इसके उपरांत लगभग पचास वर्षों तक हिंदी का कार्य भारतवर्ष के धर्म-प्रचारक ईसाइयों के हाथ में था। उस समय की रचनाओं को देखने से विदित होता है कि इन ईसाइयों ने उर्दूपन का घोर विरोध

किया और सभी रचनाओं में पूर्ण रूप से हिंदीपन का ही निर्वाह किया। न तो शब्द-योजना ही में उर्दूपन दिखाई पड़ता है और न वाक्यविन्यास ही में। आवश्यकता पड़ने पर इन लोगों ने ग्रामीण शब्दों तक का व्यवहार किया परंतु उर्दू के शब्दों का नहीं। यह स्पष्ट विदित होता है कि इन लोगों ने सचेष्ट होकर, उर्दूपन को दूर रखकर, भाषा का रूप शुद्ध रखा।

(इधर राजा शिवप्रसाद और राजा लक्ष्मणसिंह के गद्य-क्षेत्र में आते ही पुनः हिंदी और उर्दू का द्वंद्व आरंभ हुआ।) साधारण रूप से विचार करने पर तो यही कहा जा सकता है कि उस समय तक न तो व्याकरण के नियमों का ही निर्वाह दिखाई पड़ता था और न भाषा का ही कोई रूप स्थिर हो सका था। रचना का विकास अवश्य हो रहा था और पठन-पाठन के विस्तार से अनेक विषयों में गद्य की पहुँच आरंभ हो गई थी, और कितने ही विषयों पर पुस्तकें लिखी जा रही थीं। हिंदीगद्य का रूप कुछ व्यापक अवश्य हो रहा था। उसमें अब भावद्योतन का क्रमशः विकास होने लगा था। इस समय प्रधान बात हिंदी उर्दू का झगड़ा था। राजा शिवप्रसाद को सभी रचनाओं में उर्दूपन घुसेड़ने की धुन समाई थी। उनको विश्वास था—संभव है ऐसा विश्वास करने के लिये वे बाध्य किए गए हों—कि यदि उर्दूपन का बहिष्कार किया जायगा तो भाषा की व्यावहारिकता नष्ट हो जायगी और उसमें भावद्योतन का चमत्कार और बल न आ सकेगा। यह विचार राजा लक्ष्मणसिंह को ठीक न जँचा। अतः उन्होंने इसके विरोध में, अपनी रचनाओं में भाषा का रूप पूर्ण शुद्ध ही रखा। ऐसा करके उन्होंने यह स्पष्ट दिखा दिया कि उर्दूपन से दूर रहकर भी भाव बड़ी सरसता से प्रकाशित किए जा सकते हैं, ऐसी अवस्था में भी चमत्कार उपस्थित किया जा सकता है। बिना उर्दूपन का सहारा लिए ही सुंदर से सुंदर रचनाएँ की जा सकती हैं।

इस द्वंद्व का निरीक्षण बाबू हरिश्चंद्र भली भाँति कर रहे थे। सोच-विचार करने के उपरांत उन्होंने मध्यम मार्ग के अवलंबन का निश्चय किया। उन्होंने अपनी रचनाओं में भाषा का बड़ा व्यावहारिक रूप रखा। न उर्दूपन का पूर्ण बहिष्कार ही किया और न उर्दू-ए-मुअल्ला के पक्षपाती ही बने। जहाँ उन्होंने उर्दू के शब्दों का व्यवहार किया वहाँ उनका तद्भव रूप ही रखा। इस काल में अनेक पत्र पत्रिकाएँ प्रकाशित होने लगी थीं। हिंदी का व्यवहार-क्षेत्र अब अधिक व्यापक होने लगा था। भारतेंदुजी के अनेक सहयोगी तैयार हो गए थे। वे सभी दक्ष पत्र-संपादक और लेखक थे। इन लोगों के हाथों से

भाषा का रूप बहुत कुछ परिमार्जित हो गया। पंडित बालकृष्ण भट्ट और पंडित प्रतापनारायण मिश्र की रचनाओं में भावव्यंजना की सुंदर और चमत्कारपूर्ण प्रणाली का अनुसरण हुआ। इनकी शैलियों में चलतेपन और व्यावहारिकता का बड़ा ही आकर्षक सामंजस्य उपस्थित हुआ। पंडित बदरीनारायण चौधरी और पंडित गोविंदनारायण मिश्र की लेखनी से इस प्रकार की रचनाएँ निकलीं जो इस बात की घोषणा करती थीं कि अब भाषा में किसी प्रकार केवल भावप्रकाशन की ही शक्ति नहीं है वरन् उसमें आलंकारिक रूप से उत्कृष्ट रचना भी की जा सकती है। इस प्रकार के लेखकों में व्यावहारिकता अवश्य नष्ट हुई है परंतु भाषा का एक शक्तिशाली स्वरूप दिखाई पड़ा। इतना होते हुए भी सतर्क पाठक यह देख सकता है कि इस काल में भी व्याकरण की अवहेलना की गई। भाषा का मार्ग निश्चित तो हो गया, परंतु उसमें सौष्ठव अभी तक न आ सका था। इस समय भी ऐसे लेखक उपस्थित थे जो विरामादिक चिह्नों का प्रयोग ही नहीं करते थे और इस कारण उनकी रचनाओं में व्यर्थ ही अस्पष्टता आ जाती थी। संक्षेप में यदि हम कहना चाहें तो कह सकते हैं कि भाव-व्यंजना की कई शैलियाँ इस समय अवश्य गद्य-क्षेत्र में उपस्थित हुईं और उनमें एक शक्तिशाली रूप अवश्य दिखाई पड़ा, परंतु भाषा का सम्यक् परिमार्जन न हो सका और व्याकरण-विहित शुद्ध रचनाएँ न की जा सकीं।

जो कमी इस समय रह गई थी उसकी पूर्ति आधुनिक काल में हुई। पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी प्रभृति लेखकों की सतर्कता एवं चेष्टा से व्याकरण संबंधी त्रुटियों का सुधार हुआ। शब्दों का वास्तविक शुद्ध प्रयोग और व्यवहार इस काल की विशेषता है। इस समय अनेक विषयों पर सुंदर और पुष्ट रचनाएँ की गईं। यों तो भारतेंदु हरिश्चंद्रजी के ही काल में नाटक, उपन्यास, निबंध इत्यादि लिखने का अभ्यास हो चुका था; परंतु इन विषयों के लेखन में न तो अनेक प्रकार की शैलियों का रूप ही निश्चित हुआ था और न भली भाँति उनमें सूक्ष्म मानसिक भावनाओं के प्रकाशन की प्रणाली का ही निर्वाह हुआ था। इस काल में इन विषयों पर विशेष ध्यान दिया गया। फल-स्वरूप शैली में भी भाव-द्योतन की मनोवैज्ञानिक शक्ति का संचार हो गया है। बाबू प्रेमचंद और बाबू जयशंकर प्रसाद की शैली में चरित्र-चित्रण की मननशील और गंभीर योजना इस बात की साक्षी है। क्रमशः जिस प्रकार विचार करने की शक्ति का विकास होता गया उसी प्रकार भाषा में भी भावव्यंजनात्मक शक्ति की उन्नति होती गई। आज जितने प्रकार की

शैलियाँ उपस्थित हैं, उनसे यह स्पष्ट विदित हो जाता है कि गूढ़ से गूढ़ भावनाओं के प्रकाशन में भाषा समर्थ है।

भाव और भाषा की तादात्म्य-प्राप्ति शैली के उत्कर्ष की परम सीमा है। लेखक इस दिशा में भी पदन्यास कर रहे हैं। राय कृष्णदास की 'साधना'; प्रवाल और छायापथ, श्री वियोगी हरि की भावना और अंतर्नाद, श्री चतुरसेन शास्त्री के अंतस्तल में इसी प्रकार के तादात्म्य का उन्मेष स्थान स्थान पर हुआ है।

घटनात्मक कथन की एक विशिष्ट प्रणाली का विचित्रतापूर्ण और व्यावहारिक रूप बाबू प्रेमचंद की रचनाओं में दिखाई पड़ता है। दूसरी ओर भावात्मक तथा उन्मादपूर्ण भाव व्यंजना का एक रूप-विशेष "प्रसाद" जी की शैली में दिखाई पड़ता है। वाद विवाद और तार्किक कथन का ओजपूर्ण रूप भी इस काल में विशेषतः प्रयुक्त होने लगा है। इस प्रकार की शैलियाँ आज देखने में आ रही हैं जिनमें भाषण के गुणों की प्रधानता रहती है। एक ही विषय को बार बार दुहराकर कहना और भाव-भंगी की एक विचित्रतापूर्ण और चमत्कारयुक्त शैली का अनुसरण इस युग में विशेष वृद्धि पा रहा है। यों तो इने गिने आलोचनात्मक लेख भारतेंदु हरिश्चंद्र ही के काल में लिखे जाने लगे थे, परंतु आधुनिक काल में पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी की विशेष चेष्टा से इस विषय का अधिक प्रचार बढ़ा और क्रमशः इधर लोगों की प्रवृत्ति भी होने लगी। फलतः आज पंडित रामचंद्र शुक्ल सरीखे गौरवपूर्ण आलोचना-लेखक उपस्थित हैं। आलोचना का सौष्ठवपूर्ण गंभीर विवेचन जो शुक्लजी ने आरंभ किया है उससे विश्वास होता है कि शीघ्र ही आलोचना की यह चमत्कारपूर्ण, मनोवैज्ञानिक तथा तर्कनायुक्त शैली दृढ़ होकर एक विशेष रूप स्थिर करेगी।

तुलनात्मक आलोचना की शैली का पंडित पद्मसिंह शर्मा ने आविष्कार किया। वह वस्तुतः एक नई चीज थी। पंडित कृष्णविहारी मिश्र प्रभृति ने इस विषय को आगे बढ़ाया। शर्मा जी की शैली का अनुसरण अन्य लोगों ने न किया हो यह दूसरी बात है, परंतु यह शैली दृढ़ हो रही है। अभी तक गंभीर तुलनात्मक आलोचना पर कोई ऐसा सुंदर ग्रंथ नहीं प्रकाशित हुआ जिसे आधार माना जा सके। इसके अतिरिक्त आज अनेक विषयों पर अनेक ग्रंथ लिखे जा रहे हैं। इन विविध विषयों की शैलियों के विषय में अभी अधिक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वे परिपक्वावस्था को नहीं प्राप्त हुई हैं।

सारांश यह कि क्या कला-पक्ष और क्या भाव-पक्ष दोनों में अभी पूर्ण परिपक्वता नहीं आई है, पर हिंदी दोनों की ओर दृढ़तापूर्वक अग्रसर हो रही है। सच बात तो यह है कि हिंदी भाषा और साहित्य का वर्तमान रूप बड़ा चमत्कारपूर्ण है। इसमें भावी उन्नति के बीज वर्तमान हैं जो समय पाकर अवश्य पल्लवित और पुष्पित होंगे। परिवर्तन काल में जिन गुणों का सब बातों में होना स्वाभाविक है वे सब हिंदी भाषा और साहित्य के विकास में स्पष्ट देख पड़ते हैं और काल का धर्म भी पूर्णतया प्रतिबिंबित हो रहा है। इस अवस्था में जीवन है, प्राण है, उत्साह है, उमंग है, और सबसे बढ़कर बात यह है कि भविष्योन्नति के मार्ग पर दृढ़तापूर्वक अग्रसर होने की शक्ति और कामना है। जिनमें ये गुण हैं वे अवश्य उन्नति करते हैं। हिंदी में ये गुण वर्तमान हैं और उसकी उन्नति अवश्यंभावी है। हिंदी और उसके साहित्य का भविष्य बड़ा ही उज्ज्वल और सुंदर देख पड़ता है। आदर तथा सम्मान के पात्र वे महानुभाव हैं जो अपनी कृतियों से इसके मार्ग के कंटकों और झाड़-झंखाड़ों को दूर कर उसे सुगम्य, प्रशस्त और सुरम्य बना रहे हैं।

उपसंहार